नय-रहस्य

अभयकुमार जैन

नय-रहस्य

लेखक

अभयकुमार जैन, देवलाली
एम.कॉम, जैनदर्शनाचार्य

सम्पादक

डॉ. राकेश जैन, नागपुर

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015
फोन : 0141-2707458, 2705581
E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

एवं

जैन अध्यात्म एकेडमी ऑफ नार्थ अमेरिका

प्रथमावृत्ति : 3 हजार प्रतियाँ
(दशलक्षण महापर्व के अवसर पर,
9 सितम्बर 2013)

मूल्य : **40/– रुपये**

प्राप्ति स्थान :
- **पूज्य श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट**
  लाम रोड, देवलाली, जिला नासिक (महा.)
  फोन : 0253-2491044
- **तीर्थधाम मङ्गलायतन**
  अलीगढ़–आगरा मार्ग,
  सासनी–204216 (उ.प्र.)

टाइपसैटिंग :
प्रीति कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
प्री एलविल सन, जयपुर
मो. 09509232733

उपकार जिनवर का अहो, मुनि कुन्द का ध्वनि दिव्य का।
जिन, कुन्द–ध्वनि के मर्म–उद्‌घाटक श्री गुरु कहान का।।
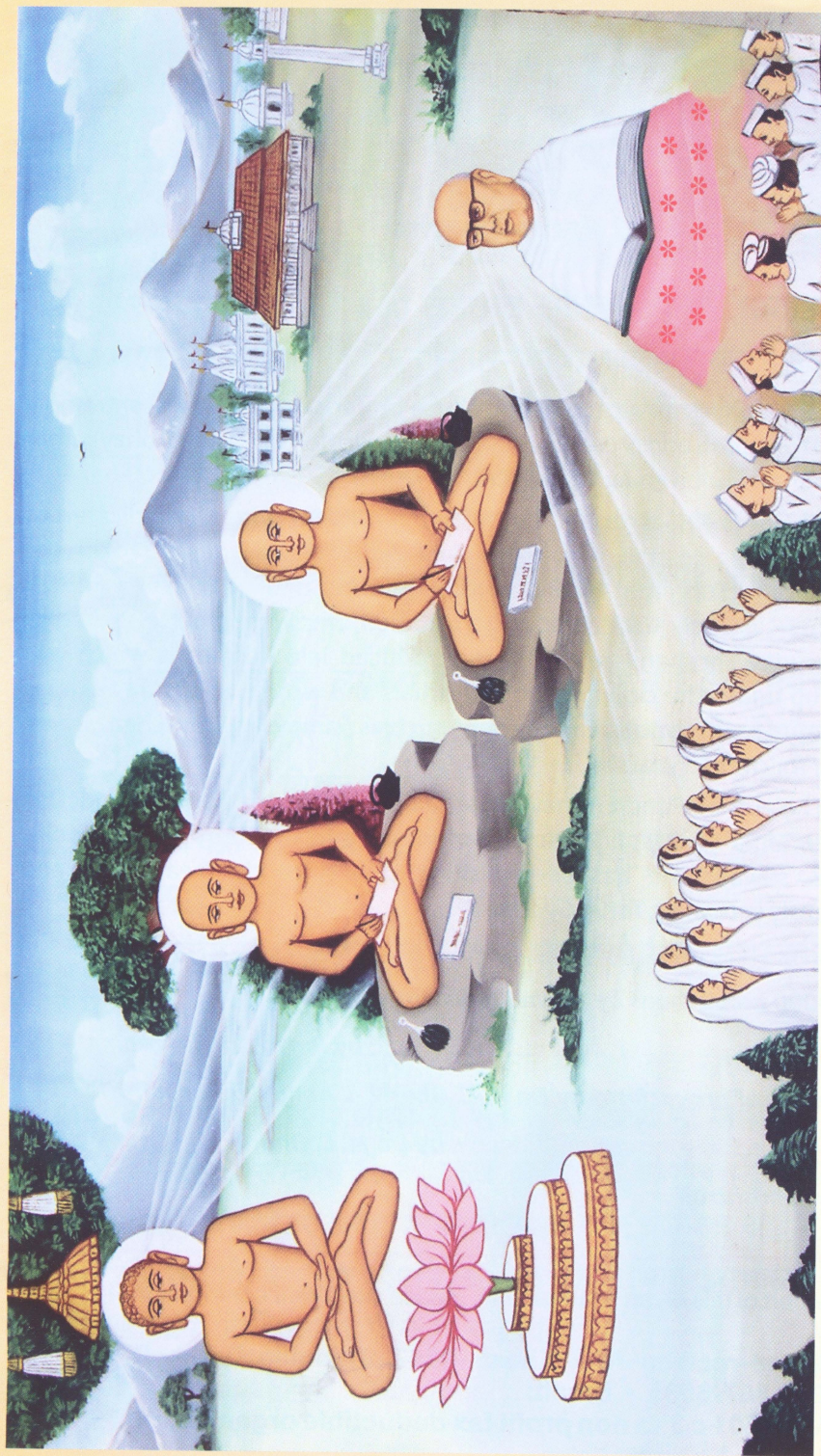
Dedicated to Preserve, Propagate & Perpetuate Jain Adhyatma
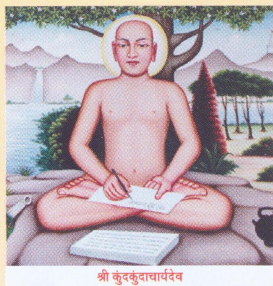
Jai Jinendra!

Jain Adhyatma Academy of North America **(JAANA)** is extremely delighted to publish and present **NAY-RAHASYA** written by Pandit Abhaykumar Jain as a part of our on going **GYAN PRABHAVANA.**

JAANA is the association of like-minded Jains who are dedicated to preserve, Propagate and Perpetuate Jain Adhyatma as described in the "Paramagams" (Supreme Agams) written by Shri Kundkundacharya and all other Acharyas subsequent to him in his tradition, who were greatly revered by Pujya Gurudev Shri Kanjiswami. He reintroduced Jain Adhyatma which was covered up under the clouds of hollow rituals and wrong beliefs through his daily discourses on various Paramagams such as Samaysar, Pravachansar and Niyamsar for over 45 years.

The author, Pandit Abhaykumar Jain, does not need any introduction to Jains in India as well as in North America. He has written several books, poojas & stavans. He has been visiting USA since the year 2000 and continuously spreading ***Tatva Gyaan.***

Please visit **www.jaana.org** or **www.jainadhyatma.org**

- ***Over 9000 pravachans by Pujya Kanjiswami***
- ***Live recorded video pravachan of Gatha 320 by Pujya Kanjiswami***
- ***Thousands of pravachans by Dr. H. C. Bharill & Abhaykumar Jain***
- ***Live recorded Samaysaar pravachans by Dr. H. C. Bharill***
- ***Various Shashtraji***

To be the part of this Gyan Prabhavana, please send your contributions to:

JAANA and mail to Atul Khara, 4557 Glenville Drive, Plano, TX 75093 972-867-6535 • Email: jainadhyatma@gmail.com

JAANA is a 501 c 3 - a non profit tax deductible organization.

मंगल आशीर्वाद

चिरंजीव अभयकुमार न केवल मेरे प्रिय छात्र रहे हैं; अपितु वे मेरे सहयोगी भी रहे हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन में सत्रह वर्ष तक मेरे साथ कार्यरत रहे। जब मैं परमभावप्रकाशक नयचक्र लिख रहा था, तब वे स्मारक में ही थे। मैं जितना प्रतिदिन लिखता, वे उसे उसी दिन पढ़ लिया करते थे।

जब यह परमभावप्रकाशक नयचक्र वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ के पाठ्यक्रम में लगा; तब से वे श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के छात्रों को यह नयचक्र पढ़ाने लगे। समाज में जहाँ जाते, लगभग इसी पर कक्षायें लेने लगे, प्रवचन करने लगे। इसप्रकार वे परमभावप्रकाशक नयचक्र के विशेषज्ञ विद्वान के रूप में विश्रुत हो गये।

नयचक्र का अध्ययन-अध्यापन करते समय वे आवश्यक नोट्स तैयार करते गये।

प्रस्तुत नय-रहस्य उन्हीं नोट्स का परिमार्जित सुसम्पादित रूप है।

जो पाठक बन्धु उक्त दोनों कृतियों को एक साथ रखकर अध्ययन करेंगे तो उन्हें सहज ही सब कुछ स्पष्ट हो जायेगा।

नयों के सम्बन्ध में न केवल आत्मार्थी समाज में, अपितु सम्पूर्ण जैन व जैनेतर जगत में इतना गहन और व्यापक अज्ञान है कि उसे मिटाने के लिए जितने अधिक से अधिक इसप्रकार के प्रयास किये जायें, उतने ही कम पड़ेंगे।

जब से परमभावप्रकाशक नयचक्र का पठन-पाठन आरम्भ हुआ; तब से समाज में जो जागृति हुई, उसमें पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मैं उनके उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामना करता हूँ।

अभी वर्तमान में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में परमभावप्रकाशक नयचक्र श्री संजीवकुमार जैन गोधा पढ़ाते हैं। वे भी इस विषय में परिपक्व हो गये हैं; उन्होंने भी इस विषय को आत्मसात् कर लिया है।

मेरी भावना है कि ऐसे अनेक विद्वान तैयार हों और वे अपनी वाणी से, लेखनी से इस विषय को जन-जन तक पहुँचाने में अपना जीवन समर्पित करें, महत्त्वपूर्ण योगदान दें।

जिनागम अगाध है, उसमें प्रवेश आसान नहीं है। उसमें प्रवेश करने वाले आत्मार्थी जन भटकें नहीं, अपितु उसका सही मर्म समझें, तभी उनका एवं समाज का कल्याण सम्भव है।

जिनागम में प्रवेश का महान कार्य नयों के प्रयोग से सम्भव है; अतः नयों के विशेषज्ञों की गहन उपयोगिता है, अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि जिनागम और जैनदर्शन की सच्ची समझ नयों के सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् प्रयोग पर निर्भर है।

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

स्व. श्री अनिलभाई मलुकचन्द कामदार

देह-संयोग	देह-वियोग
03-05-1933	11-08-2013

भोर की स्वर्णिम छटा-सम, क्षणिक सब संयोग हैं।
पद्‌म-पत्रों पर पड़े जल-बिन्दु सम सब भोग हैं।।
काल की काली घटा, प्रत्येक क्षण मँडरा रही।
किन्तु पल-पल विषय-तृष्णा, तरुण होती जा रही।।

स्व. श्री अनिलभाई मलुकचन्द कामदार
दादर, मुम्बई की स्मृति में

देवांग अनिलभाई कामदार
दादर, मुम्बई की ओर से
स्वाध्याय हेतु सप्रेम भेंट...
मो. 098920 33221

प्रकाशकीय

जिनागम में नय एक ऐसा प्रकरण है कि जिसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण जैन समाज में अपार अन्धकार है। आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों में जब निश्चय-व्यवहारनयों की चर्चा आना आरम्भ हुई तो नयविषयक अज्ञान के कारण समाज आन्दोलित हो उठा। स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि समाज में स्थान-स्थान पर निश्चयपार्टी और व्यवहारपार्टी नाम से पार्टियाँ बन गईं।

उक्त झगड़ों के समाधान की भावना से जब नयों के स्वरूप पर प्रवचन आरम्भ किये तो उसके परिणाम अनुकूल ही आये। अतः डॉ. भारिल्ल ने नयों के स्वरूप पर आत्मधर्म के सम्पादकीयों के रूप में विस्तार से लिखना आरम्भ किया।

इस बात की भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि सोनगढ़ से पर्यूषण के अवसर पर प्रवचन के लिए जानेवाले विद्वानों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। अतः गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की उपस्थिति में सोनगढ़ में ही डॉ. साहब के नेतृत्व में प्रवचनकार प्रशिक्षण शिविर लगाये गये।

डॉ. भारिल्ल ने उक्त शिविर में नयों के सन्दर्भ में कक्षा ली। यह कहते हुए हमें गौरव हो रहा है कि उक्त कक्षा में निरीक्षण हेतु पण्डित रामजीभाई दोसी, पण्डित खीम-चन्द भाई सेठ, पण्डित बाबूभाई मेहता जैसे विद्वान् तो बैठे ही, पूज्य गुरुदेवश्री भी विराजे।

इसप्रकार के प्रयासों से सामाजिक झगड़े बहुत कुछ शान्त हो गये; परन्तु जब डॉ. भारिल्ल की अन्यतम कृति **परमस्वभावप्रकाशक नयचक्र** छपकर जन-जन तक पहुँची तो तत्सम्बन्धी वातावरण एकदम शान्त हो गया। यह कृति 6 संस्करणों के माध्यम से 38200 की संख्या में हिन्दी एवं गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर समाज में पहुँच चुकी है।

इस **नय-रहस्य** कृति के लेखक पण्डित अभयकुमारजी एवं सम्पादक डॉ. राकेशजी उस समय महाविद्यालय के प्रथम बैच के छात्र थे; अतः वे न केवल आरम्भ से ही इस प्रकरण से परिचित रहे हैं; अपितु इस विषय के सहज ही विशेषज्ञ हो गये। इन विषयों को पढ़ाते समय पण्डित अभयकुमारजी को जो अनुभव हुए; वे सब उनकी इस नय-रहस्य कृति में आ गये हैं। अतः यह कृति भी उक्त सन्दर्भ में उपयोगी ही साबित होगी।

इस कृति के लेखन के लिए पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, सम्पादन के लिए डॉ. राकेशजी शास्त्री के साथ-साथ संजय शास्त्री के भी हम आभारी हैं कि उन्होंने इसके प्रूफ रीडिंग व मुद्रण में सहयोग किया है। प्रकाशन का भार जैन अध्यात्म एकेडमी ऑफ नॉर्थ अमेरिका ने उठाया है और कीमत कम करने वालों की सूची संलग्न है। वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

– ब्र. यशपाल जैन, एम. ए.
प्रकाशन मन्त्री

प्रस्तुत ग्रन्थ का विक्रय मूल्य कम करने हेतु प्राप्त सहयोग

11000/-	श्री संजय जैन (ग्रीन वेली स्कूल), जबलपुर
11000/-	श्रीमती सम्पत देवी पाटनी, झालरापाटन
5000/-	श्रीमती भूरीबाई हस्ते अशोक जैन, जबलपुर
5000/-	श्री हर्षदभाई, मुलुंड
5000/-	श्री संजय जैन, टोरंटो
5000/-	श्री अरविन्द सुमन जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई
5000/-	श्री अनिल जैन, दिल्ली
3000/-	डॉ. एस.सी. जैन, यादव कॉलोनी, जबलपुर
2100/-	श्रीमती हंसा विजयकुमारजी पामेचा, जबलपुर
1600/-	श्रीमती राजकुमारीजी-बाबूलालजी, रूपाली शोरूम, जबलपुर
1100/-	श्री कमलकुमार जैन, जबलपुर
1100/-	श्रीमती ताराबाई कोमलचन्दजी जैन, जबलपुर
1100/-	श्रीमती आशाबाई नेमीचन्दजी पायलवाला, जबलपुर
1100/-	श्रीमती शीला जैन, राइट टाउन, जबलपुर
1100/-	श्री प्रशान्त जैन (पारस सीमेंट), जबलपुर
1100/-	श्री सुरेशचन्द जैन, गंजीपुर, जबलपुर
1100/-	श्रीमती ज्योति-नरेन्द्र जैन, जबलपुर
1100/-	श्री गिरनार जैन, जबलपुर
1100/-	श्री विमलकुमार जैन (सूरत साड़ी), जबलपुर
1100/-	श्री करुणेश जैन-कार्निक जैन, जबलपुर
1100/-	श्रीमती कमला जैन, गाड़रवारा, जबलपुर
1000/-	श्रीमती उर्मिला बेन कन्नू भाई दोशी
5600/-	अन्य साधर्मी भाई, मुमुक्षु मंडल, जबलपुर

सम्पादकीय

जैन जगत् के दैदीप्यमान क्षितिज पर आज से लगभग १२३ वर्ष पूर्व एक सूर्य उगा, परन्तु उस पर जन्म से ही जैनाभास का ग्रहण लग गया। अपने जीवन के ठीक अर्द्धभाग अर्थात् ४५ वर्ष की उम्र में उन पर से वह ग्रहण दूर हुआ और वे दिगम्बर जैनधर्म की आकाश-गंगा में एक उज्ज्वल नक्षत्र के समान चमकने लगे। कुछ समय में ही उन्होंने सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज को अपने आगोश में ले लिया। चारों तरफ मात्र उन्हीं की चर्चा होने लगी। जहाँ उनके समर्थन में चर्चा चली तो वहाँ वे सर्वोपरि हो गये और जहाँ उनके विरोध में लहर चली तो वहाँ भी एकमात्र उनको ही अपना केन्द्र बनाया गया। उस महा व्यक्तित्व का नाम है - **आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी**। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी में प्रवाहित आध्यात्मिक व्याख्यानों द्वारा सम्पूर्ण जैन जगत् को अध्यात्ममय कर दिया, अध्यात्म की मानो क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।

सोनगढ़-सौराष्ट्र में संचालित आध्यात्मिक शिक्षण शिविरों का एक मुख्य विषय मोक्षमार्ग प्रकाशक के उभयाभासी प्रकरण पर आधारित 'निश्चय-व्यवहारनय' होता था, जिसके माध्यम से नयों के स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तृत मीमांसा होती थी। साथ ही समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों पर होने वाले पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों में भी इन नयों की विस्तृत चर्चा होती थी।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के पश्चात् उनकी शिष्य परम्परा में **डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल** ने **परमभावप्रकाशक नयचक्र** की रचना करके इस विषय को अत्यन्त व्यवस्थित कर दिया है।

इसके साथ ही एक विशेष बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित

करना चाहता हूँ कि जब डॉ. भारिल्ल, इस ग्रन्थ की रचना कर रहे थे, उस समय मैं भी जयपुर में ही रह कर, **श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय** में शास्त्री-आचार्य की कक्षाओं में अध्ययन तथा **वीतराग विज्ञान** मासिक पत्रिका एवं **श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट** के जयपुर में संचालित **सत्साहित्य प्रकाशन विभाग** का कार्य भी देख रहा था, तब डॉ. साहब से भी मेरा बहुत घनिष्ठ सम्पर्क रहता था, मैं रात-दिन उनके सम्पर्क में ही रहता था। वे प्रतिदिन जो कुछ भी लिखते थे तो मुझे पढ़ने के लिए बुलाते थे। अनेक बार तो रात के १२-१२ बजे तक हम उनके द्वारा लिखित सामग्री पर विचार करते थे।

मैं उनसे अपनी बुद्धि के अनुसार नयों के विभिन्न विषयों पर चर्चा भी करता था तथा उनके सम्बन्ध में जो भी प्रश्न मुझे उपस्थित होते, उन्हें उनके सन्मुख रखता भी था, वे उसका यथोचित समाधान तत्काल भी करते और उचित समझते तो ग्रन्थ में प्रश्नोत्तर के रूप में स्थान भी देते। लेकिन खेद है - मुझे यह सौभाग्य, सन् १९८४ तक ही प्राप्त हो सका, उसके बाद मुझे अपरिहार्य कारणवशात् नागपुर आना पड़ा।

प्रारम्भ में इस कृति का नाम **जिनवरस्य नयचक्रम्** रखा गया था, परन्तु वह नाम, संस्कृतनिष्ठ होने से तथा इस कृति में अपने **निज ज्ञायक परमभाव के प्रकाशन** की मुख्यता होने से इस ग्रन्थ का नाम **परमभावप्रकाशक नयचक्र** रखा गया है। पूर्वाचार्यों ने नयचक्रों के नाम भी **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र** या **श्रुतभवनदीपक नयचक्र** - इसी शैली में रखे गये थे, अतः उसी परम्परा का निर्वाह करने हेतु भी इस कृति को यह नाम सार्थक नाम दिया गया है।

जबसे इस कृति का निर्माण हुआ है, मुझे ऐसा लगता है कि इससे जैन समाज में एक अपूर्व सामंजस्य भी दृष्टिगोचर होने लगा है। जिन

विषयों पर हम पहले एक-दूसरे से उलझ जाते थे, उन्हीं विषयों को अब हम स्वीकारोक्ति की भाषा प्रदान करने लगे हैं - 'अच्छा, यह बात इस अपेक्षा / नय से कही जा रही है तो ठीक है - ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।'

जब डॉ. साहब लिखते थे तो उनके व्याख्यानों में भी सहज ही वे सब विषय आते थे और सम्पूर्ण छात्रों के बीच भी चर्चित हो जाते थे, अतः हम सभी उन विषयों से उनके गुरु-मुख से ही परिचित हो जाते थे। **पण्डितश्री अभयकुमारजी शास्त्री** भी इस कृति से इसके लेखन-काल से ही जुड़े हैं, वे प्रारम्भ से ही श्री टोडरमल महाविद्यालय के जूनियर छात्रों में एवं जयपुर या बाहर लगने वाले शिक्षण शिविरों अथवा प्रशिक्षण शिविरों में इस विषय की कक्षा भी ले रहे हैं; इस कारण यह विषय उनकी प्रज्ञा में अच्छी तरह व्यवस्थित हो गया है।

इस विषय का अध्ययन / अध्यापन करते हुए नयों के सम्बन्ध में उनका जो भी चिन्तन विकसित हुआ, उसे उन्होंने इस कृति - **नय-रहस्य** में अच्छी तरह प्रस्तुत किया है। यद्यपि इसमें समागत अधिकांश विषय तो आदरणीय डॉ. भारिल्ल ने जो परमभावप्रकाशक नयचक्र में विवेचित किये हैं, उसी का विस्तार है, लेकिन अनेक जगह उन्होंने अपने मौलिक चिन्तन के साथ भी विषय प्रस्तुत किया है। उसी के आधार पर यदि इसे **नय-रहस्य** कहा जा रहा है तो अनुचित नहीं है।

सम्पादक के रूप में मैंने इस कृति में ज्यादा कुछ नहीं किया है, मात्र मैंने तो इस कृति का अच्छी तरह स्वाध्याय किया है। हाँ, जिन स्थानों पर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ, उन स्थलों को मैं बिन्दुवार यहाँ उल्लेख अवश्य करना चाहता हूँ। कुछ स्थलों पर मैंने भाईसाहब श्री अभयजी से चर्चा भी की है। साथ ही जो कुछ विशेष चर्चा मुझे करना है, उसे मैंने अलग से प्रस्तावना में भी लिख दिया है।

उसका विस्तार से विवेचन जानने हेतु इन दोनों कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। मैं **नय-रहस्य** में समागत कुछ विशिष्ट विषयों को बिन्दुवार आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ -

१. स्वानुभूति के समय ज्ञान में निर्विकल्प नयरूप एवं निर्विकल्प प्रमाणरूप परिणमन एक साथ प्रारम्भ हो जाता है।[1]

२. वक्ता, किसे विषय बनाना चाहेगा, यह बहुत कुछ श्रोताओं पर निर्भर करता है। यदि श्रोताओं में पर्यायपक्ष का जोर हो तो वह द्रव्यपक्ष को मुख्य करेगा। इसी प्रकार यदि उनमें क्रियाकाण्ड का पक्ष प्रबल हो तो वक्ता भावपक्ष की मुख्यता करता है।[2]

३. बहुत-से लोग **पूज्य गुरुदेवश्री** के प्रवचनों का सांगोपांग गहन अध्ययन किये बिना ही उन्हें एकान्ती, स्वच्छन्दी, निश्चयाभासी आदि समझ लेते हैं, लेकिन यदि उनके प्रवचनों का निष्पक्ष दृष्टि से गहन अध्ययन करें तो न केवल हमारा भ्रम निकल जाएगा, अपितु वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय कर, हम मोक्षमार्ग की प्राप्ति का सम्यक् पुरुषार्थ भी कर सकेंगे।[3]

४. जिनागम के सभी व्यवहार कथनों में कोई न कोई पारमार्थिक आशय अवश्य छिपा रहता है; अतः **व्यवहारनय प्रतिपादक है** और उसका यथार्थ आशय अर्थात् **निश्चयनय प्रतिपाद्य** है।[4]

५. व्यवहार के निषेध में ही उसकी सार्थकता और सफलता है। जिस प्रकार पेकिंग (आवरण) अपने में छिपी/रखी वस्तु को बताती है और सुरक्षित भी रखती है, परन्तु उस वस्तु को पाने के लिए पेकिंग को तोड़ना ही पड़ता है; उसी प्रकार व्यवहारनय को परमार्थ न मान कर ही परमार्थ को पाया जाता है।[5]

---

1. नय-रहस्य, पृष्ठ 14 2. वही पृष्ठ 18 3. वही पृष्ठ 49
4. वही पृष्ठ 59 5. वही पृष्ठ 63-64

६. व्यवहारनय के विषय की सत्ता को स्वीकार करना अथवा उसके माध्यम से परमार्थभूत वस्तु को समझना – यही **व्यवहारनय का ग्रहण** है और उसी समय व्यवहारनय स्वयं परमार्थभूत वस्तु नहीं है – ऐसा जानना **व्यवहारनय का त्याग** है।[1]

७. समयसारादि निश्चयनय-प्रधान अध्यात्म ग्रन्थों के पठन-पाठन को निश्चयाभास और गोम्मटसारादि व्यवहारनय-प्रधान ग्रन्थों के पठन-पाठन को व्यवहाराभास कहकर, इनके पठन-पाठन का निषेध करके **जिनवाणी का निषेध करने से महापाप का बन्ध होता है।**[2]

८. स्वच्छन्दता का पोषण, अभिप्राय का दोष है, आचरण का नहीं, क्योंकि जिनागम के आधार पर विषय-कषायों को पुष्ट करने की अर्थात् उसे दोष -रूप न मान कर, उचित ठहराने की वृत्ति ही **निश्चयाभास** है।[3]

९. अनुभूति में निश्चयनय की मुख्यता होने पर भी कथन में व्यवहारनय की मुख्यता होती है; अत: हमें **लोक-व्यवहार में निश्चयनय की भाषा का प्रयोग करने से बचना चाहिए।**[4]

१०. **पूज्य गुरुदेवश्री** की सत्य-निष्ठा एवं मोक्षमार्ग की निश्छल निरूपणा ने लाखों पात्र जीवों को मोक्षमार्ग पर चलने की राह बताई है; यही कारण है कि वे युगपुरुष, हम सबके आदर्श बन गये हैं।[5]

११. संसारी जीव की पर्याय में रागादि तथा मतिज्ञान आदि **निश्चयनय** से हैं, लेकिन आत्मा (त्रिकाली स्वभाव) में उन्हें **व्यवहारनय** से कहा गया है।[6]

१२. अनादिकाल से इस जीव को कभी **शुद्धनय का पक्ष भी नहीं** आया, शुद्ध-नयरूप परिणमन की तो बात ही दूर रही।[7]

---

1. नय-रहस्य, पृष्ठ 65 2. वही, पृष्ठ 76 3. वही, पृष्ठ 77
4. वही, पृष्ठ 79 5. वही, पृष्ठ 82 6. वही, पृष्ठ 89
7. वही, पृष्ठ 112

१३. शुभराग में मोक्षमार्ग का सर्वथा अभाव है, क्योंकि वह परमार्थ से बन्ध का ही कारण है; अतः **तत्त्वदृष्टि से उसे मोक्षमार्ग कहना, उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का कथन** भी कहा जा सकता है।[1]

१४. **अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** आत्मा को देहप्रमाण बताकर **तन-मन्दिर में चेतनराज** सम्बोधित करता है।[2]

१५. यह तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है कि **श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के विषयभूत श्रद्धेय-ज्ञेय-चर्या से सम्बन्ध को भी असद्भूत-व्यवहारनय का विषय** कहा गया है।[3]

१६. यहाँ यह विचारणीय है कि मति-श्रुतज्ञान, अपने विषय को इन्द्रिय-मन की सहायता से जानते हैं; अतः उनका ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध, **उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** का विषय कहा जा सकता है तथा अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, मन-इन्द्रिय-प्रकाश आदि की सहायता बिना पदार्थों को सीधे जानते हैं; अतः ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध, **अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** का विषय कहा जा सकता है।[4]

१७. **पंचाध्यायीकार** परवस्तुओं से आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करने को नय मानने से इनकार करते हुए उसे **नयाभास** निरूपित करते है.....क्योंकि देह और आत्मा के संयोग के आधार से उन्हें एक कहने से देह में एकत्व-बुद्धिरूप मिथ्यात्व ही पुष्ट होता है।[5]

१८. पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने **कण-कण की स्वतन्त्रता** तथा अकर्ता ज्ञायक-स्वभाव का जयघोष किया। यद्यपि **शुद्धनय-प्रधान** शैली होने पर भी उनके प्रवचन में **प्रमाण की मर्यादा** का कहीं भी उल्लंघन नहीं हुआ है। यदि उन्हें श्रोताओं के **व्यावहारिक जीवन में कोई शिथिलाचार** नजर आता तो वे उस पर भी जम कर प्रहार करते।[6]

---

1. नय-रहस्य, पृष्ठ 174 2. वही, पृष्ठ 175 3. वही, पृष्ठ 184
4. वही, पृष्ठ 186 5. वही, पृष्ठ 197 6. वही, पृष्ठ 204

१९. वास्तव में देखा जाए तो पर-वस्तुओं से आत्मा का सम्बन्ध बताने वाले कथन, पारमार्थिक सत्य न होने से निषेध्य ही हैं। **चाहे उन्हें असद्भूत-व्यवहार कह कर निषेध किया जाए या नयाभास कह कर,** इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस सम्बन्ध को असद्भूत कहने का अर्थ ही यह है कि इसे वास्तविक न माना जाए।[1]

२०. आगम का प्रतिपाद्य सन्मात्र वस्तु है तो अध्यात्म का प्रतिपाद्य चिन्मात्र वस्तु है।...... वस्तुतः किसी भी विषय-वस्तु को मात्र जानने के सन्दर्भ में कहना, **आगम शैली** है और उसी विषय का आत्मानुभूति-पोषक अर्थ निकालना, **अध्यात्म शैली** है; अतः **अध्यात्म ग्रन्थों में भी आगम का सुमेल तथा आगम ग्रन्थों में अध्यात्म की मनोरम छटा सहज मिल जाती है।**[2]

२१. प्रत्येक पदार्थ के **स्वचतुष्टय** - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में **भाव का विशेष महत्त्व** है। .... **आत्मानुभूति** में भी भाव का महत्त्व है। ...आत्मा को प्रमत्त-अप्रमत्त से रहित एक ज्ञायकभावरूप कहा गया है। यह बात अलग है कि वह ज्ञायकभाव, स्वतःसिद्ध, अनादि-अनन्त और असंख्य-प्रदेशी भी है; अतः वह द्रव्य-क्षेत्र-काल से सर्वथा भिन्न भी नहीं है।[3]

२२. भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से **'द्रव्य' शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग** किये जाते हैं। - १. **प्रमाण के विषयभूत** द्रव्य में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावात्मक सम्पूर्ण वस्तु का समावेश होता है। २. **आगम शैली** में प्रमाण के विषयभूत जीवद्रव्य में रागादि विकार, गुणस्थानादि भेद तथा नर-नारकादि सभी पर्यायें शामिल होती हैं। ३. **अध्यात्म शैली** में प्रमाण के विषय में शुद्ध जीवद्रव्य और मात्र उसकी निर्मल पर्यायें शामिल होती हैं।[4]

२३. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमयी, सामान्य-अभेद-नित्य-एक -

---

1. नय-रहस्य, पृष्ठ 205 2. वही, पृष्ठ 214 3. वही, पृष्ठ 220-222
4. वही, पृष्ठ 225

ऐसा अखण्ड द्रव्य, **दृष्टि का विषय** है।[1]

२४. पर्याय को पृथक् करके लक्ष्य में न लेते हुए, उसे अन्तर्मुख करके, द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का भी विकल्प तोड़ कर, एकतारूप निर्विकल्प अनुभव करना, **यही द्रव्य-पर्याय की सन्धि** है, यही **दोनों नयों की सफलता** है।[2]

२५. द्रव्य और पर्याय, दोनों को यथावत् जान कर, द्रव्य-स्वभाव का आश्रय लेना - यही प्रमाणज्ञान के फलस्वरूप प्रगट होने वाला, **सम्यक् एकान्त** है और यही श्रेयस्कर है।[3]

२६. **कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय** में कर्मोपाधि से आशय मुख्यरूप से मोह-राग-द्वेषादि **औदयिक भावों** से है। इस अपेक्षा विचार किया जाए तो इस नय का विषय औदयिक भावों से भिन्न अथवा क्षायिक आदि निर्मल भावों से अभिन्न ठहरता है, परन्तु **दृष्टि के विषय की मुख्यता से** विचार किया जाए तो **औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और क्षायिक** - इन चारों भावों को कर्मोपाधि कहा गया है।[4]

२७. जो **परमभाव** है, वह कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय और भेद-कल्पना से भिन्न ही है, परन्तु वे उसमें हैं या नहीं ? - ऐसे विकल्पों से भी अथवा द्रव्य-स्वभाव के अन्य विशेषणों सम्बन्धी विकल्पों से आत्मानुभूति नहीं होती, इसलिए वे 'हैं' या 'नहीं' - ऐसे विकल्पों से पार शुद्ध चैतन्यघन को परमभाव कह कर, उसे **परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय** का विषय कहा है। नय का भेद होने पर भी इसे **पक्षातिक्रान्त** भी कहा जा सकता है।[5]

२८. चाहे निश्चय-व्यवहारनयों का प्रकरण हो या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों का प्रकरण, प्रयोजन तो **द्रव्य-पर्यायात्मक स्वज्ञेय** को जान कर, परम उपादेयभूत शुद्धात्मभूत का अवलम्बन करके, सादि-अनन्त शाश्वत सिद्धदशा प्रगट करने का ही है।[6]

---

1. नय-रहस्य, पृष्ठ 226 2. वही, पृष्ठ 230 3. वही, पृष्ठ 231
4. वही, पृष्ठ 240 5. वही, पृष्ठ 257 6. वही, पृष्ठ 258

२९. वस्तुत: **पर्याय तो वस्तु के प्रवाह-क्रम का सूक्ष्म अंश** है, अत: द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप वस्तु में काल के एक समयवर्ती अंश को ही 'पर्याय' शब्द से कहा जाता है। समुद्र की लहरों के समान काल-प्रवाह में नवीन पर्यायरूप अंश उत्पन्न होता है तथा उसके पूर्ववर्ती अंश विलीन होता है - यही **पर्यायों का उत्पाद-व्यय** है। **कालांश तो कालरूप है और कर्मोपाधियाँ भाववाची** हैं; अत: काल को भाव से निरपेक्ष देखना **कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय** है तथा काल को भावों से मिला कर देखना, **कर्मोपाधि-सापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय है।**[1]

३०. **कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय** से कर्मोपाधियों को गौण करके **मात्र पर्यायस्वभाव को** देखा जाए तो हमें भी अपनी पर्यायें, अर्हन्त भगवान जैसी चिद्विवर्तन की ग्रन्थियाँ दिखने लगेंगी। **अर्हन्त भगवान और हमारी पर्यायों में समानता,** इन बिन्दुओं के आधार पर समझी जा सकती है - १. भगवान के केवलज्ञान के समान हमारा मति-श्रुतज्ञान भी **रागादि विकारों से रहित स्वभाव-वाला** है। २. केवलज्ञान के समान हमारा **वर्तमान ज्ञान भी स्व-परप्रकाशक स्वभाव वाला** है। ३. द्रव्य-गुण की शुद्धता का निर्णय करने वाली हमारी **ज्ञानपर्याय में भी उसी शुद्धता का प्रवाह प्रारम्भ** हो जाता है, जो अर्हन्त भगवान में पूर्णरूप से विद्यमान है।[2]

इस प्रकार नय-रहस्य के माध्यम से आत्मा का रहस्य जान कर, हम **नयपक्षातीत नयातीत पक्षातीत विकल्पातीत पक्षातिक्रान्त आत्मानुभूति** का प्रयास करें - इस पवित्र भावना के साथ विराम लेते हैं।

- **डॉ. राकेशकुमार जैन शास्त्री,** नागपुर

1. नय-रहस्य, वही, पृष्ठ 272 2. वही, पृष्ठ 275

प्रस्तावना

एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण, मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।

अर्थात् इसप्रकार व्यवहारनय को निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जानो, क्योंकि निश्चयनय के आश्रित मुनिराज ही निर्वाण को पाते हैं।[1]

वास्तव में समग्र जिनागम ही नयों की भाषा में निबद्ध है; इसलिए इन नयों को समझना अनिवार्य है, यही **जिनागम का स्याद्वाद नामक महासिद्धान्त** है। **नयवाद, अपेक्षावाद, सप्तभंगीवाद, अनेकान्तवाद** आदि इसी महा सिद्धान्त के पर्यायवाची नाम हैं।

यदि जिनशासन की परम्परा को विगत हजारों वर्ष के कालखण्ड में देखा जाए तो आज तक जितने भी नयचक्र लिखे गये हैं, वे सभी समयसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थों के अनुसन्धान में ही लिखे गये हैं, चाहे **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र** हो या **श्रुतभवनदीपक नयचक्र**, सर्वत्र इस भाव के सूचक वक्तव्य मिल जाएँगे कि ये सभी नयचक्र, समयसार के अनुशीलन में ही लिखे गये हों। इनमें **श्रुतभवनदीपक नयचक्र** तो अपनी विशेष आध्यात्मिकता बिखेर रहा है।

यद्यपि इस ग्रन्थ के रचयिता भी सम्भवत: वही आचार्य देवसेन हैं, जो वृहन्नयचक्र, आलापपद्धति आदि के रचनाकार हैं। इन सभी में नयों के सम्बन्ध में ही विषय-वस्तु है, लेकिन सभी की शैलीगत विशेषताएँ अलग-अलग हैं। इसका क्या कारण है ? - यह ज्ञात नहीं है। हो सकता है, इसका कोई अन्य कारण हो; यह भी सम्भव है, उक्त तीनों के रचनाकार अलग-अलग देवसेन हों, लेकिन इस सम्बन्ध में मैं कुछ भी आधिकारिक रूप से कहने में असमर्थ हूँ।

---

1. समयसार, गाथा 272

आइये! आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज समयसार परमागम से इन नयचक्रों के सम्बन्ध के बारे में कुछ विस्तार से जानने का प्रयास करते हैं -

श्रुतभवनदीपक नयचक्र के प्रारम्भ में तो आचार्य देवसेन ने **मंगलाचरण** करने के तुरन्त बाद '**अर्थप्ररूपणाय गाथात्रयमाचष्टे**"[1] - ऐसा कहकर, समयसार की ११वीं, १२वीं और १४३वीं गाथाएँ प्रस्तुत की हैं। यह इस बात का द्योतक है कि आचार्यदेव के हृदय में इन गाथाओं व **समयसार** का और **आचार्य कुन्दकुन्द** का कितना विशेष स्थान था; जिससे अभिभूत होकर ही उन्होंने प्रारम्भ में इन गाथाओं को लिखा है। लगता है - मानो इन गाथाओं एवं समयसार के मर्म को जानने के लिए ही आचार्य महाराज ने '**श्रुतभवन-दीपक नयचक्र**' की रचना की हो।

इतना ही नहीं, इन गाथाओं को लिखने के तुरन्त बाद, ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं कि **आसां भावार्थो विचार्यते**[2] अर्थात् अब, इन गाथाओं के भावार्थ का विचार करते हैं। लगता है कि इसके बाद इन गाथाओं का विचार करते हुए ही आचार्यदेव ने पूरे ग्रन्थ की रचना की है।

इसी प्रकार **आचार्य देवसेन** के परवर्ती आचार्य **श्रीमद् माइल्ल धवल** ने '**द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र**' की रचना की है, वे भी सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं -

"**श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृतशास्त्रात् सारार्थं परिगृह्य स्वपरोपकाराय द्रव्यस्वभावप्रकाशकं नयचक्रं ......।**

अर्थात् श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत शास्त्र से सारभूत अर्थ को ग्रहण करके, अपने और दूसरों के उपकार हेतु ***द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र*** *को बनाता हूँ।*"[3]

---

1. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, नागपुर प्रकाशन 1986, पृष्ठ 13 2. वही, पृष्ठ 17
3. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 1 की उत्थानिका

सन् १९८६ में मैंने मुमुक्षु समाज के वरिष्ठ **आदरणीय विद्वान् श्री लालचन्दभाई मोदी,** राजकोट के अनुरोध पर **श्रुतभवनदीपक नयचक्र** का अनुवादन-सम्पादन-प्रकाशन किया था। उसमें नयों के सम्बन्ध में अतिविशिष्ट विषय प्रस्तुत किया गया है। वहाँ प्रारम्भ में ही **निश्चयशुद्धिकथन** नामक प्रथम अध्याय में **नयपक्षातीत आत्मा की सिद्धि** करते हुए लिखा है -

"सभी जीव, स्व-स्वभाव से नयपक्षातीत हैं, क्योंकि सभी जीव, सिद्धस्वभाव के समान स्वपर्यवसित स्वभाव वाले हैं।"[1]

"**शंका** - जीव का स्वपर्यवसित स्वभाव कैसा है?

समाधान - सहज परिणामिक ज्ञायकस्वभाव, क्षायोपशमिकज्ञान की निवृत्ति और क्षायिकज्ञान की प्रवृत्ति; इन दोनों में असाधारण है, क्योंकि वे दोनों स्वभाव, कारणान्तरों के द्वारा उत्पन्न होकर प्रगट होते हैं। क्षायोपशमिकज्ञान अनादि होने पर भी सीमित एवं सनिधनरूप होने से निवृत्त (निवर्तमान) हो जाता है, लेकिन सहज पारिणामिक ज्ञायकस्वभाव सदा अनिवृत्त ही रहता है। इसी प्रकार क्षायिकज्ञान, सादि होने पर भी निरवधि एवं अनिधनरूप होने से सदा प्रवृत्त (प्रवृत्तमान) रहता है, लेकिन सहज पारिणामिक ज्ञायकस्वभाव वाला जीव, सदा पूर्ववत् ही अप्रवृत्त बना रहता है।

इसी प्रकार शेष औपशमिक एवं औदयिक भावों से असम्बद्ध (अनालीढ़) होने से सहज पारिणामिक ज्ञायकस्वभाव अनादि-अनिधन, स्व-स्वभावरूप, सम्पूर्ण अकारणक, स्वसंवेद्य तथा स्वानुभूति द्वारा प्रकाशमान रहता है - ऐसा ही जीव का स्वपर्यवसित (अपने पर ही निर्भर) स्वभाव है; इसी कारण वह नयपक्षातीत है।"[2]

इस प्रकार नयपक्षातिक्रान्त स्वरूप का विवेचन करने के उपरान्त

1. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 17 2. वही, पृष्ठ 17-18

उस नयपक्षातिक्रान्त वस्तु की प्राप्ति के उपायस्वरूप निश्चय-व्यवहारनय को कहा गया है, वहाँ नयों की उपयोगिता बताते हुए वे लिखते हैं –

"यह पदार्थ अर्थात् आत्मा, जब निश्चयनय से आलिंगित (सम्बद्ध) होता है, तब निश्चयात्मक वस्तु है और जब व्यवहारनय से आलिंगित होता है, तब व्यवहारात्मक वस्तु है; इसलिए नयपक्षातीत आत्मपदार्थ की प्राप्ति के उपाय, मुख्य-गौणरूप से निश्चय-व्यवहारनय ही हैं – ऐसा भावार्थ है।

यद्यपि आत्मा, स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह नयों के बिना नयपक्षातीत नहीं हो सकता है, क्योंकि अनादि कर्म के वश यह जीव असत्कल्पना वाला है।

'नयतीति नयः' अर्थात् जो ले जाता है, पहुँचाता है अथवा प्राप्त कराता है, उसे **नय** कहते हैं। वह व्यवहार-निश्चय के भेद से दो प्रकार का है। उपनय से उपजनित व्यवहारनय होता है। जो प्रमाण-नय-निक्षेपात्मक भेद व उपचार के द्वारा वस्तु का व्यवहार करता है, वह व्यवहारनय है।"[1]

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि नय की परिभाषा बताने के उपरान्त, नय के भेदों का क्रम निश्चय और व्यवहार – ऐसा न लेते हुए व्यवहार और निश्चय को बताया गया है तथा उनका लक्षण बताते हुए **व्यवहार को उपनय से उपजनित** और **निश्चय को उपनय से रहित** बताया है। एक और विशेषता यह है कि **व्यवहारनय के अन्तर्गत ही प्रमाण-नय-निक्षेप एवं उसके भेदों का अन्तर्भाव** किया है, अतः विचार करें कि **प्रमाण के भेद, नय हैं; नयों के भेद, निश्चय और व्यवहार हैं** अथवा **व्यवहार के भेद, प्रमाण-नय निक्षेप हैं।**

स्वयं आचार्यदेव के ही शब्दों में इस प्रकार कहा गया है –

1. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 20

"**शंका** – उपनय, व्यवहार का जनक किस प्रकार है?

समाधान – सद्भूतव्यवहारनय, भेद का उत्पादक है; असद्भूत-व्यवहारनय, उपचार का उत्पादक है तथा उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय, उपचार में भी उपचार का उत्पादक है; अतः उपनय से उपजनित व्यवहारनय होता है। जो यह भेद व उपचार लक्षणवाला अर्थ या प्रयोजन है, वही अपरमार्थ है, क्योंकि अभेद व अनुपचार लक्षण वाले अर्थ या प्रयोजन का ही परमार्थत्व है; अतएव व्यवहारनय, अपरमार्थ का प्रतिपादक होने से अभूतार्थ है।"

निश्चयनय तो उपनय से रहित है। यह अभेद व अनुपचाररूप लक्षण वाले अर्थ को निश्चित करता है; अतः यह **निश्चयनय** कहलाता है। **'स्यात्' शब्द से रहित** होने पर भी इसमें **निश्चयाभासपने का प्रसंग नहीं** आता है, क्योंकि यह **उपनय से रहित** है।"[1]

यहाँ एक विशेष बात यह कही गई है कि **निश्चयनय, 'स्यात्' पद से रहित** है, लेकिन उसमें स्यात् पद के बिना भी **निश्चयाभासपने की आपत्ति नहीं** आती है, क्योंकि वह **उपनय से रहित** है। तात्पर्य यह है कि **निश्चयनय में स्यात् पद नहीं लगता है, क्योंकि वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन करता है, जबकि व्यवहारनय में स्यात् पद लगता है, क्योंकि वह भेद और उपचार से कथन करता है।** तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय में अपेक्षा लगती है, इसलिए उसमें स्यात् पद लगता है और निश्चयनय तो वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताता है, इसलिए उसमें स्यात् पद क्यों लगाया जाए? क्योंकि उससे तो अनर्थ होने का प्रसंग उपस्थित होता है।

जैसे, हम कहें कि 'आत्मा कथंचित् चेतन है और कथंचित् अचेतन है?' यद्यपि नयों की अपेक्षा यह कथन सम्यक् है, लेकिन फिर भी, प्रश्न यह है कि 'आत्मा कथंचित् चेतन है या वास्तविकरूप से चेतन है', अतः

---

1. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 21

यहाँ 'आत्मा कथंचित् चेतन है' - यह प्रयोग अजीब-सा लग रहा है। हाँ, 'आत्मा कथंचित् अचेतन है' - यह प्रयोग सम्यक् प्रतीत हो रहा है, क्योंकि हम किसी अपेक्षा से अर्थात् जड़ शरीर के संयोग के कारण आत्मा को अचेतन कह सकते हैं। लेकिन आत्मा को किसी अपेक्षा से अचेतन कहने के समान हम किसी अपेक्षा से चेतन कैसे कह सकते हैं? क्योंकि वह तो स्वभाव से ही चेतन है अर्थात् दोनों विवक्षाओं को हम समानता कैसे प्रदान कर सकते हैं?

इस सम्बन्ध में आचार्यदेव का निम्न वक्तव्य ध्यान देने योग्य है -

"**शंका** - उपनय के अभाव में 'स्यात्' शब्द का अभाव क्यों है ?

समाधान - 'स्यात्' शब्द की प्रधानता होने से उपनय ही व्यवहार का जनक होता है; अतः उपनय के अभाव में 'स्यात्' शब्द का भी अभाव सिद्ध है।

जब निश्चयनय से उपनय प्रलय को प्राप्त हो जाता है, तब केवल निश्चय ही प्रकाशित रहता है। यद्यपि निश्चयनय से अखण्डित एक वस्तु का सद्भाव है; तथापि उपनय से उपजनित अनेक व्यवहार से कवलित (ग्रसित) वस्तु भी शुद्ध ही है।

जिस प्रकार राहु-बिम्ब से आच्छादित होने पर भी सूर्य, अन्धकार का नाश करने वाला एवं प्रकाश स्वभाव वाला ही है।"[1]

"**शंका** - यदि व्यवहार से कवलित वस्तु भी शुद्ध है तो व्यवहारनय की क्या आवश्यकता है ?

समाधान - व्यवहारनय की उपयोगिता, असत्कल्पना की निवृत्ति एवं सद्रत्नत्रय की सिद्धि के लिए है तथा सम्यक् रत्नत्रय की सिद्धि से परमार्थ की सिद्धि होती है।"[2]

"**शंका** - स्वभावसिद्ध परमार्थ की सिद्धि, व्यवहार से कैसे हो

1. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 22 2. वही, पृष्ठ 23

सकती है – कृपया इसका उत्तर दीजिए ?

समाधान – व्यवहार का सम्यक् रत्नत्रय से सर्वथा भेद मानने पर निश्चय का भी अभाव हो जाएगा, क्योंकि सर्वथा भेद को ही मानने पर अभेद का व्यवहार भी नहीं हो सकेगा; अतः कथंचित् भेद मानने पर ही व्यवहार के द्वारा परमार्थ की सिद्धि होती है – ऐसा आगम-वचन है।

इस प्रकार **जब तक यह आत्मा, व्यवहारनय और निश्चयनय – इन नयों के माध्यम से तत्त्व का अनुभव करता है; तब तक परोक्षानुभूति रहती है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति तो नयपक्षातीत है।"**

शंका – यदि ऐसा है तो दोनों ही नय, समानरूप से ही पूज्यत्व को प्राप्त हो जाएँगे ?

समाधान – नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि **व्यवहारनय तो पूज्यतर है, लेकिन निश्चयनय पूज्यतम है।"**[1]

"शंका – प्रमाणलक्षण वाला व्यवहारनय; व्यवहार, निश्चय और अनुभय – सभी को ग्रहण करने वाला होने से उसका विषय अधिक होने पर भी वह पूज्यतम क्यों नहीं है ?

समाधान – क्योंकि वह **प्रमाणलक्षण वाला व्यवहारनय भी आत्मा को नयपक्षातीत नहीं कर सकता, अतः वह भी पूज्यतम नहीं है।** वह इस प्रकार है – प्रमाण में निश्चय का अन्तर्भाव होने पर भी वह अन्ययोग का व्यवच्छेद नहीं करता तथा अन्ययोग के व्यवच्छेद के अभाव में व्यवहारलक्षण वाली भावक्रिया (विकल्प-जाल) का निरोध करना अशक्य है; अतः **वह आत्मा को ज्ञानचैतन्य में स्थापित करने में असमर्थ है।"**[2]

वही आगे कहते हैं – **"निश्चयनय, आत्मा को सम्यक् प्रकार से एकत्व प्राप्त करा कर, ज्ञान-चैतन्य में अच्छी तरह स्थापित कर,**

---

1. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 24 2. वही, पृष्ठ 25

परमानन्द को उत्पन्न कर, वीतराग करके, स्वयं निवृत्त होता हुआ, आत्मा को नयपक्षातिक्रान्त करता है; अतः वह पूज्यतम है। इस प्रकार निश्चयनय, परमार्थ का प्रतिपादक होने से भूतार्थ है, इसी का निरन्तर आश्रय लेने से आत्मा, अन्तर्दृष्टिवान् होता है।[1]

द्वितीय **व्यवहारशुद्धिकथन** नामक अध्याय के प्रारम्भ में **'इदानीमुपनयोपजनितो व्यवहारप्रपंच उच्यते'** कह कर, उपनय से उपजनित व्यवहार-प्रपंच का वर्णन करते हुए उसके अन्तर्गत प्रमाण के विभिन्न प्रयोग बताते हुए **प्रमाण को भी उपनय से उपजनित एवं व्यवहार सिद्ध किया है।**

उसके बाद विस्तार से प्रमाण-नय-निक्षेप, उनके लक्षण एवं भेद-प्रभेद, नय-प्रमाण में कथंचित् भेदाभेद, द्रव्यार्थिकनय के १० भेद, पर्यायार्थिकनय के ६ भेद, नैगमादि ७ नय, उनके भेद-प्रभेद, प्रत्येक नय की व्युत्पत्ति, उपनय का स्वरूप एवं उसके तीन भेद - सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरितव्यवहार, पुनः उनके भेद-प्रभेद तथा निक्षेप का स्वरूप एवं उसके भेद-प्रभेद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

यहाँ यही आश्चर्यकारक एवं विचारणीय विषय है कि **उपनय से उपजनित व्यवहार के अन्तर्गत प्रमाण-नय-निक्षेप का समावेश** किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न शंका-समाधान उपयोगी है -

"शंका - प्रमाण का सम्बन्ध उपनयों से कैसे हो सकता है, क्योंकि प्रमाण तो स्वतन्त्र है?[2]

समाधान - प्रमाण का जब व्यवहार के लिए प्रयोग होता है; तब वह 'स्यात्' शब्द की अपेक्षा रखता है, तभी प्रमाण का उपनयों से सम्बन्ध होता है।"

1. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 26 2. वही, पृष्ठ 31

व्यवहारनय के सम्बन्ध में अन्यत्र भी यह कहा गया है – '**अबुधस्य बोधनार्थं, मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।**'[1] अथवा '**व्यवहृतिरबोध-जनबोधनाय**'[2] अर्थात् वह व्यवहारनय अज्ञानीजनों / मन्दबुद्धियों को समझाने के लिए कहा गया है।

यही कारण है कि व्यवहारनय को वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने वाला नहीं माना जाता, जबकि निश्चयनय को यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझाने वाला माना गया है।

इसी प्रकार द्रव्यार्थिकनय के दस भेदों में **परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय** को परिभाषित करते हुए श्रुतभवनदीपक नयचक्र में कहा है कि **यह नय, वस्तु के भाव को शुद्ध, अशुद्ध और उपचार की विवक्षाओं से रहित ग्रहण करता है।**[3]

यहाँ इस नय के विषय को शुद्धद्रव्यार्थिकनय के तीन भेदों से भी रहित कहा है। तात्पर्य यह है कि शुद्ध कहने में भी अशुद्धता से रहितपने की अपेक्षा आती है। जैसे, **कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय** में कर्मोपाधि की निरपेक्षता में आत्मा की शुद्धता को ग्रहण किया गया है। **सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय** में उत्पाद–व्यय को गौण करके शुद्ध सत्ता को ग्रहण करने की अपेक्षा आती है। इसी प्रकार तीसरे **भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय** में भेदकल्पनाओं से निरपेक्षता की अपेक्षा आत्मा की शुद्धता ज्ञात होती है; इसी कारण **परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय** को शुद्ध भी नहीं कहा है। अन्त में कहा है कि **इस परमभावग्राही [परमशुद्ध] द्रव्यार्थिकनय को मोक्ष के अभिलाषियों को शुद्ध ध्यान करने के प्रयोजन से अवश्य जानना चाहिए।**[4]

इस नय के सम्बन्ध में कुछ अन्य विवक्षाओं को भी **श्रुतभवन-**

---

1. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक 6
2. पद्मनन्दि पंचविंशतिका, 11/8
3. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 45
4. वही, पृष्ठ 45

दीपक नयचक्र में इस नय के उदाहरण बताते हुए इसप्रकार अभिव्यक्त किया है –

१. परमं पारिणामिकस्वभावं गृह्णातीति परमभावग्राहकः। अर्थात् जो परम पारिणामिकस्वभाव की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय है।[1]

२. पारिणामिकस्वभावप्रधानत्वेन परमस्वभावत्वम्। अर्थात् परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय में पारिणामिकस्वभाव की प्रधानता होने के कारण आत्मा, परमस्वभाव वाला है।[2]

३. परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावम्। अर्थात् परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय से भव्य–अभव्य पारिणामिक स्वभाव हैं।[3]

४. शुद्धाशुद्धपरमभावग्राहकेण चेतनस्वभावम्। अर्थात् शुद्धाशुद्ध–परमभावग्राहकनय से जीव का चेतनस्वभाव है।[4]

५. परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभावत्वम्। अर्थात् परमभावग्राहकनय की अपेक्षा कर्म–नोकर्म का अचेतनस्वभाव है।[5]

६. परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोर्मूतस्वभावत्वम्। अर्थात् परमभावग्राहकनय की अपेक्षा कर्म–नोकर्म का मूर्तस्वभाव है।[6]

७. परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहाय इतरेषाममूर्तस्वभावत्वम्। अर्थात् परमभावग्राहकनय की अपेक्षा पुद्गल को छोड़ कर बाकी द्रव्यों का अमूर्तस्वभाव है।[7]

८. परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणोरेकदेशस्वभावत्वम्। अर्थात् परमभावग्राहकनय की अपेक्षा कालद्रव्य और पुद्गलाणु का एकप्रदेशस्वभाव है।[8]

उक्त उद्धरणों में परमभावग्राहकनय में भी शुद्धाशुद्ध विशेषण लगाये

---

1. वही, पृष्ठ 56 2. वही, पृष्ठ 93 3. वही, पृष्ठ 97 4. वही, पृष्ठ 97
5. वही, पृष्ठ 98 6. वही, पृष्ठ 98 7. वही, पृष्ठ 98 8. वही, पृष्ठ 99

गये हैं। इसी प्रकार **परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय, उपनय से उपजनित कैसे है ?** – इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि **यह नय, क्षायोपशमिक आदि विशेष ज्ञानपर्यायों का भी गौणरूप से ग्राहक है –**

"**शंका** – यदि यह नय, परमभाव का ग्राहक है तो इसका उपनय से उत्पन्न होना कैसे सम्भव है ?

समाधान – क्योंकि यह नय, क्षायोपशमिक आदि विशेष ज्ञानपर्यायों का भी गौणरूप से ग्राहक है।[1]"

ऐसे–ऐसे अनेक प्रकरणों का भण्डार यह **श्रुतभवनदीपक** नयचक्र है; अतः प्रत्येक मुमुक्षु को अध्यात्म–रुचि को पुष्ट करने हेतु इस ग्रन्थ का गहनतम अध्ययन करना चाहिए।

एक और प्रकरण की ओर मैं समयसार के पाठकवर्ग का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि **समयसार में जगह–जगह पर वर्ण से लेकर रागादि–गुणस्थान पर्यन्त के भावों को निश्चयनय से पुदगल का कहा गया है और व्यवहारनय से जीव का कहा है।**

उसके सम्बन्ध में **यह प्रश्न है कि जिस द्रव्य के भाव को उसी का कहना, निश्चयनय का लक्षण है और उसे अन्य द्रव्य का कहना, व्यवहारनय का लक्षण है। वर्णादि को निश्चयनय से पुद्गल का कहना तो उचित है, लेकिन रागादि और गुणस्थान को भी निश्चयनय से पुदगल का और व्यवहारनय से जीव का कहना क्या उचित है?** – इस विषय का तात्त्विक विश्लेषण करना अनिवार्य है।

यहाँ **प्रश्न** यह उठता है कि रागादिभावों का उपादान तो आत्मा है और पुद्गलकर्म तो उनके निमित्त हैं, फिर भी रागादिभावों को आत्मा का कहना व्यवहार क्यों है और उन्हें पुद्गल का कहना निश्चय क्यों है ?

---

1. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 46

क्योंकि उपादान का कथन करनेवाला नय, यथार्थ का कथन करनेवाला होने से निश्चय कहलाता है और निमित्त का कथन करनेवाला नय, अयथार्थ का कथन करनेवाला होने से व्यवहार कहलाता है।

इसका **समाधान** यह है कि **रागादि विकारीभाव आस्त्रवभाव हैं और आत्मा चैतन्यमयी जीवभाव है, उनमें तत्त्वभेद है; अतः आस्त्रवभाव, जीवभाव तो है नहीं; इसलिए आस्त्रवभाव को जीवभाव व्यवहार से ही कह सकते हैं, निश्चय से नहीं।** जिसके आदि-मध्य-अन्त में जो व्याप्त होता है, वह उसका कहलाता है तथा रागादि के आदि-मध्य-अन्त में कर्म का उदय ही व्याप्त है, अतः उसे निश्चय से कर्म का कहा है तथा कर्म पौद्गलिक होते हैं, अतः रागादिभावों को भी पौद्गलिक कहा है।

जीव के चैतन्यमयी भावों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही आत्मा के लक्ष्य से वह भाव हुआ है; अतः उसे निश्चय से जीव का कैसे कहा जा सकता है? **मात्र आत्मा के प्रदेशों में उस रागादिभाव का अस्तित्व होने से उसे जीव का कहा जाता है - यह व्यवहार है। निश्चय से तो दोनों के प्रदेशों को भी भिन्न-भिन्न माना गया है।**[1]

निश्चय-व्यवहारनय की यहाँ यह परिभाषा भी घटित हो जाती है कि जिस तत्त्व या पदार्थ का जो भाव हो, उसे उसी तत्त्व या पदार्थ का कहना, निश्चयनय है; उसे अन्य तत्त्व या पदार्थ का कहना, व्यवहारनय है। अतः आस्रवतत्त्व के भाव (भावास्रव) को आस्रवपदार्थ (द्रव्यास्रव) का कहना, निश्चयनय है और आस्रव के भाव को जीव का कहना, व्यवहारनय है।

इसी प्रकार अन्य तत्त्वों में भी समझ लेना चाहिए।

रागादि भावों को पुण्य या पापरूप विकार्य कहा गया है और कर्म

1. आत्मख्याति, समयसार 181

के उदय को उसका निमित्त होने से विकारक कहा गया है, अतः विकार्य और विकारक दोनों को पुण्य या पाप कहा गया है[1], अतः जीवतत्त्व का सम्बन्ध नहीं होने से रागादिभावों को आत्मा का नहीं कहा गया है। यहाँ द्रव्य-भाव रूप आस्रवादि को एक समान जीव से भिन्न सिद्ध किया है। ऐसा नहीं है कि द्रव्यास्रवादि कुछ अधिक भिन्न हैं और भावास्रवादि कुछ कम भिन्न हैं, क्योंकि तत्त्व-भिन्नता की दृष्टि से दोनों समानरूप से भिन्न हैं। **वर्ण आदि हों या राग आदि हों, ये सभी भाव आत्मा से भिन्न हैं।**[2]

इस सम्बन्ध में यह आगम-वचन मननीय हैं -

एदे सव्वे भावा, पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया, कह ते जीवो त्ति वुगांति ॥[3]

यहाँ स्पष्टतः यह कहा गया है - **अरहन्तदेव सर्वज्ञ भगवान ने अध्यवसानादि (मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि) भावों को पुद्गल-परिणाममय कहा है, वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं हैं।**

जो अध्यवसानादि भावों को जीव कहते हैं, वे परमार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि उनका पक्ष आगम, युक्ति और स्वानुभव से बाधित है। 'वे जीव नहीं हैं' - यह सर्वज्ञ का वचन है, वह तो आगम है। स्वाभाविकरूप से उत्पन्न हुए राग-द्वेष से मलिन अध्यवसान जीव नहीं हैं, क्योंकि जैसे - सुवर्ण, कालिमा से भिन्न होता है, उसी प्रकार अध्यवसान से भिन्न चित्स्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है - यह स्वानुभवगर्भित युक्ति है।

अध्यवसानादि भावों को उत्पन्न करने वाला आठ प्रकार का कर्म है, वह समस्त ही पुद्गलमय है - ऐसा सर्वज्ञ का वचन है।.....

1. आत्मख्याति, समयसार 13   2. वही, कलश 37   3. समयसार, गाथा 44

अध्यवसानादिभाव चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम तो उत्पन्न करते हैं, लेकिन वास्तव में वे आत्मस्वभाव या जीवस्वभाव नहीं हैं, पुद्गलस्वभाव हैं।[1]

सभी अध्यवसानादिभाव जीव हैं – ऐसा अभूतार्थ व्यवहारनय के द्वारा भगवान सर्वज्ञदेव ने दर्शाया है, क्योंकि जिस प्रकार म्लेच्छों को मलेच्छभाषा, वस्तु-स्वरूप बताती है, उसी प्रकार व्यवहारीजनों को व्यवहारनय, परमार्थ का प्रतिपादक है, अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति का निमित्त होने से उस व्यवहारनय को बताना न्यायसंगत है।[2]

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥

अर्थात् जिसका सर्वस्वसार चैतन्यशक्ति से व्याप्त है – यह जीव इतना मात्र ही है, इस चित्शक्ति से शून्य सर्वभाव पौद्गलिक हैं।[3]

आचार्य जयसेन ने युक्ति देते हुए कहा है कि उस जीव के शुद्धनिश्चयनय से ये सब (रागादिभाव) नहीं हैं; क्योंकि ये सभी पुद्गलपरिणाममय होने शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं।[4]

जीव के प्रधानतया जीवद्रव्य और जीवपदार्थ – यही दो प्रमुख भेद हैं। यद्यपि द्रव्यप्रधान दृष्टि से तो जीवद्रव्य में सभी गुण-पर्यायों का समावेश हो जाता है, उनमें विकारी-अविकारी भावों का भी समावेश हो जाता है, लेकिन तत्त्वप्रधान दृष्टि से जीवपदार्थ में जीवत्वप्रधान गुण-पर्यायों का ही समावेश होता है। इतना ही नहीं, व्यवहारजीवत्व में कारणभूत शरीर, इन्द्रियादि को भी व्यवहार से जीवपदार्थ में शामिल कर लिया गया है। वहाँ उनके पौद्गलिकत्व को गौण करके उनमें जीवत्वपने की कारणभूत विशेषता को मुख्य किया गया है। इस अपेक्षा से जीवतत्त्व

1. समयसार, गाथा 45 टीका
2. समयसार, गाथा 46
3. आत्मख्याति, कलश 36
4. तात्पर्यवृत्ति, समयसार 156-160

या जीवपदार्थ के भी दो भेद किये गये हैं – निश्चयजीव और व्यवहारजीव।

इस विषय को आस्रव आदि के विवेचन द्वारा और अच्छी तरह सिद्ध किया जा सकता है। आस्रवतत्त्व के दो भेद हैं – द्रव्यास्रव और भावास्रव। दूसरी भाषा में कहें तो इन्हें अजीवास्रव और जीवास्रव भी कह सकते हैं।

यहाँ **प्रश्न** यह है कि **जीवास्रव या भावास्रव तो जीवद्रव्यात्मक है और अजीवास्रव या द्रव्यास्रव पुद्‌गलद्रव्यात्मक है तो फिर इन दो द्रव्यों की क्रियाओं को सामान्य से एक तत्त्व क्यों स्वीकार किया गया है ?**

उसका **उत्तर** यह है कि **भले ही द्रव्यास्रव और भावास्रव – दो भिन्न-भिन्न द्रव्यरूप हों, लेकिन तत्त्वदृष्टि से वे एक हैं, अतः एक ही तत्त्व के भेद हैं और वह है आस्रवत्व या आस्रवतत्त्व। आस्रवतत्त्व के कारण ही इनकी एक पदार्थरूप संज्ञा आस्रवपदार्थ की गयी है।**

भावास्रव अर्थात् राग-द्वेष-मोहभावों या शुभाशुभ योगों का जीव में नवीन आगमन होना, वह भावास्रव है। इसी प्रकार द्रव्यास्रव अर्थात् कार्मणवर्गणा का आत्मा के साथ सम्बन्धित होने के लिए आगमन होना, वह द्रव्यास्रव है; अतः **द्रव्यास्रव और भावास्रव में आस्रवपना, सामान्य होने से दोनों को एक आस्रवतत्त्व या आस्रवपदार्थ माना है।**

इसी प्रकार बन्धपना सामान्य के कारण द्रव्यबन्ध और भावबन्ध – दोनों को एक बन्धतत्त्व या बन्धपदार्थ माना है।

संवरपना सामान्य के कारण द्रव्यसंवर और भावसंवर – दोनों को एक संवरतत्त्व या संवरपदार्थ माना है।

निर्जरापना सामान्य होने के कारण द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा – दोनों को एक निर्जरातत्त्व या निर्जरापदार्थ माना है।

मोक्षपना सामान्य होने के कारण द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष –

दोनों को एक मोक्षतत्त्व या मोक्षपदार्थ माना है।

पुण्यपना सामान्य होने के कारण द्रव्यपुण्य और भावपुण्य - दोनों को एक पुण्यतत्त्व या पुण्यपदार्थ माना है।

पापपना सामान्य होने के कारण द्रव्यपाप और भावपाप - दोनों को पापतत्त्व एक या पापपदार्थ माना है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि **एक पदार्थ या एक तत्त्व, द्रव्यदृष्टि से दो द्रव्य या दो अस्तिकायरूप हो सकता हैं तथा एक द्रव्य या एक अस्तिकाय, तत्त्वदृष्टि या पदार्थदृष्टि से नौ तत्त्व या नौ पदार्थरूप हो सकते हैं।**

जिस प्रकार जाति अपेक्षा द्रव्यों की संख्या छह होने पर भी संख्या अपेक्षा जीव अनन्त, पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त धर्म-अधर्म-आकाशद्रव्य एक-एक तथा कालद्रव्य असंख्यात हैं। उसी प्रकार तत्त्व या पदार्थ भी जाति अपेक्षा सात या नौ हैं, **संख्या अपेक्षा भेद-प्रभेदों की दृष्टि से उनकी संख्या भी अनन्त हो सकती है।**

अध्यात्मदृष्टि में इस पदार्थदृष्टि या तत्त्वदृष्टि का ही कमाल है कि जीवतत्त्व को अन्य अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष - इन सभी तत्त्वों या पदार्थों से अन्यस्वरूप देखा जाता है। इस दृष्टि से देखें तो अजीवकर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जीवतत्त्व के साथ न होकर जीवद्रव्य की उन पर्यायों के साथ घटित होता है; जो पुण्य, पाप, आस्रव, संवर आदिरूप कही जाती हैं, परन्तु उन्हें तो अलग तत्त्व या पदार्थ माना गया है, अतः जीवतत्त्व उन सबसे अलग अपने चैतन्यस्वरूप जीवत्व आदि स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है। उक्त पुण्य, पाप, आस्रव आदि के भाव मेरे जीवतत्त्व के ऊपर-ऊपर ही तैरते रहते हैं, मेरे स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होते।

आत्मख्याति में कहा भी है –

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरन्तोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्।।[1]

अर्थात् **हे जगत के प्राणियों! तुम मोहरहित होकर इस सम्यक्स्वभाव का अनुभव करो कि जहाँ यह बद्ध-स्पृष्ट आदि भाव (पुण्य, पाप, आस्रव, संवर आदि) स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तैरते हैं, लेकिन उसमें प्रतिष्ठा नहीं पाते।**

इस विषय का विस्तृत विवेचन, हमने अपने शोध-ग्रन्थ '**जैनदर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप**' में किया है। यद्यपि वह अभी प्रकाशन में नहीं गया है, तथापि यदि कोई चाहे तो हम उसे उसके ई-मेल पर हमारे शोध-ग्रन्थ की प्रकाश्य कॉपी भेज सकते हैं।

आशा है, पाठकगण, इस विवेचन के आधार पर तत्त्वनिर्णय को सम्यक् दिशा प्रदान करेंगे।

– **डॉ. राकेश जैन शास्त्री,** नागपुर

1. आत्मख्याति, श्लोक 11

अहो-भाग्य

उपकार जिनवर का अहो, मुनि कुन्द का ध्वनि दिव्य का।
जिन-कुन्द ध्वनि के मर्म उद्घाटक श्री गुरु कहान का।।

श्री जिनेन्द्र देव के परम प्रसाद से संचित पुण्य के फलस्वरूप मुझे सोलह वर्षीय किशोरावस्था में ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की स्वानुभव रस झरती दिव्यवाणी श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और निश्चय-व्यवहारनयों के नाम तथा उनकी कथन शैली से परिचय होना प्रारम्भ हो गया। इससे पूर्व निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान आदि शब्द मात्र सुने थे; अतः इनके बारे में विशेष जिज्ञासा सहज उत्पन्न हो गई थी, जिसकी पूर्ति हेतु पूज्य गुरुदेवश्री ने सम्यक् श्रुतज्ञान का दीपक लेकर मेरे जीवन में पदार्पण किया।

पूज्य गुरुदेवश्री के समागम के दो वर्ष पश्चात् 1970 में विदिशा में आयोजित प्रशिक्षण शिविर में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल से परिचय हुआ, जिनकी तर्कप्रधान रोचक व सुबोध शैली ने मुझे बहुत गहराई से प्रभावित किया। उनके पहले प्रवचन में ही 'राम-सीता पति-पत्नी थे और सीता-राम पत्नी-पति थे; इसीप्रकार निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और व्यवहार-निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध है' - यह व्याख्या सुनकर नयों का स्वरूप जानने की जिज्ञासा बलवती होती गई।

अब लौकिक शिक्षा के साथ-साथ पूज्य गुरुदेवश्री की छत्रच्छाया, माननीय रामजीभाई, खीमचन्द भाई, बाबूभाई, बाबू जुगलकिशोरजी, डॉ. भारिल्लजी आदि के प्रवचनों का लाभ लेते हुए व्यक्तिगत स्वाध्याय मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गया।

लौकिक शिक्षा पूरी होने के तीन वर्ष पश्चात् 24 जुलाई, 1977 को श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का शुभारम्भ हुआ और स्व. बाबूभाई की प्रबल प्रेरणा तथा डॉ. साहब के व्यक्तित्व का आकर्षण मुझे बलात् जयपुर ले गया। इस क्रान्तिकारी परिवर्तन में परिवार का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त हुआ।

इसी स्वर्णकाल में डॉ. साहब की लेखनी, धर्म के दशलक्षण तथा क्रमबद्धपर्याय के पश्चात् परमभावप्रकाशक नयचक्र जैसी कालजयी रचनाओं को जन्म दे रही थी। सौभाग्य से सन 1981 में मेरा जैनदर्शन शास्त्री का अध्ययन पूरा हुआ और उसी समय नयचक्र का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इन कृतियों के जन्म के पूर्व गर्भकाल में ही इनका परिचय पाकर मैं धन्य हो गया।

स्व. श्री नेमीचन्दजी पाटनी एवं डॉ. साहब का अविस्मरणीय उपकार है कि उन्होंने शास्त्री करने के पश्चात् महाविद्यालय में अध्यापन कार्य का अवसर दिया तथा आत्मख्याति, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ग्रन्थों के साथ-साथ नयचक्र और क्रमबद्धपर्याय का अध्यापन कार्य मुझे सौंपा। कालान्तर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव तथा अन्य धार्मिक प्रसंगों में बाहर जाने से अध्यापन का अवसर क्षीण होने के बावजूद भी नयचक्र और क्रमबद्धपर्याय का अध्यापन अक्षुण्ण रहा। जयपुर में आयोजित शिविर में भी नयचक्र के अध्यापन का सौभाग्य मुझे ही मिला।

इसप्रकार जयपुर में इक्कीस वर्ष के अध्ययन-अध्यापन तथा डॉ. साहब के समागम से नयचक्र आदि सभी गहन विषय मेरे ज्ञान में प्रतिष्ठित हो गये और छिन्दवाड़ा तथा देवलाली प्रवास में भी यही कार्य इस मनुष्य जीवन का प्रमुख व्यवसाय बना हुआ है।

जयपुर-वियोग के समय तत्कालीन छात्रों एवं अनेक साधर्मियों का प्रबल आग्रह था कि नयचक्र एवं क्रमबद्धपर्याय के अध्यापन में

समागत स्पष्टीकरण को लिपिबद्ध करूँ, ताकि आगामी पीढ़ी उससे लाभान्वित हो सके।

क्रिया, परिणाम और अभिप्राय तथा क्रमबद्धपर्याय निर्देशिका के लेखन-प्रकाशन के पश्चात् नयचक्र के बारे में कुछ लिखने की विचारधारा प्रबल हो उठी। कई वर्ष इस ऊहापोह में ही व्यतीत हो गये कि क्या लिखें, कैसे लिखें? क्योंकि जिस विषय पर डॉ. भारिल्लजी जैसे सशक्त लेखक एक गहन और क्रान्तिकारी कृति लिख चुके हों, उस विषय पर कुछ लिखने का साहस नहीं होता था। सोचते-सोचते निर्णय हुआ कि कार्य प्रारम्भ किया जाये तो अपने आप राह मिलेगी।

अतः साहस करके अमेरिका प्रवास के दौरान अतुलभाई खारा के घर पर, पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके दिनांक 20 जून 2008 को इस कृति का शुभारम्भ हो गया। इस बीच अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद आदि भी कार्य होते गये तथा इस कृति का लेखन कार्य भी धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया। अनेक विद्वानों से सम्पर्क करके उनके सुझाव लेने में भी काफी समय लगा। अतः मार्च 2013 फाल्गुन अष्टाह्निका के अवसर पर यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ।

यह कृति परमभावप्रकाशक नयचक्र के अनुशीलन के रूप में विकसित होती गई। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इसप्रकार हैं -

1. इसका मूल आधार परमभावप्रकाशक नयचक्र है।

2. इसमें मूल ग्रन्थ में दिये गये आगम के उद्धरणों को कम करके मात्र उनका सन्दर्भ दिया गया है।

3. डॉ. साहब ने जिस प्रकरण का अधिक विस्तार किया है, उसे संक्षिप्त में बिन्दुवार अथवा चार्ट के रूप में प्रस्तुत किया है। जैसे - लौकिक एवं लोकोत्तर विश्वव्यवस्था की तुलना।

4. जिन बिन्दुओं को डॉ. साहब ने ग्रन्थ विस्तार भय से स्पष्ट

नहीं किया, उन्हें स्पष्ट किया गया है। जैसे - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।

5. नयाभास, पक्षातिक्रान्त तथा आगम और अध्यात्म को अलग अध्यायों में विशेष स्पष्ट किया गया है।

6. विषय को स्पष्ट करने हेतु प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग अधिक किया गया है।

7. स्याद्वाद और अनेकान्त तथा सप्तभंग प्रकरण को प्रश्नोत्तर शैली में स्पष्ट किया गया है।

उक्त बिन्दुओं के आधार पर इस कृति को सर्वजनोपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। जैसे-जैसे लेखन कार्य आगे बढ़ता गया, इसे अनेक विद्वानों/मित्रों को दिखाकर, उनके सुझाव जानने के प्रयास भी किये गये। माननीय ब्र. रवीन्द्रजी के समक्ष भी कुछ अंशों का वाचन भी किया गया, जिसमें उनका महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। श्री अश्विनभाई शाह मलाड (मुम्बई) ने भी अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। ध्रुवधाम मासिक पत्रिका में इसका नियमित प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिससे अनेक मित्रों द्वारा प्रोत्साहन भी प्राप्त हुआ।

आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अत्यन्त व्यस्तता होने पर भी इस कृति के सम्बन्ध में आवश्यक मार्गदर्शन किया एवं मंगल आशीर्वाद प्रदान किया है। अतः उनका चिर ऋणी हूँ।

मेरे घनिष्ठ मित्र प्रिय बन्धु डॉ. राकेश जैन, नागपुर ने एंजियोप्लास्टी कराने के बाद स्वास्थ्य-लाभ की परवाह न करते हुए भी इस पूरी रचना को अत्यन्त गहराई से पढ़कर इसका सम्पादन करके इसे इतना परिष्कृत रूप प्रदान किया है, एतदर्थ उनका अनुग्रहीत हूँ।

बाल ब्रह्मचारी सुमतप्रकाशजी के सुझाव भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं; अतः उनका भी आभारी हूँ।

मेरे छात्र श्री संजयजी शास्त्री, जयपुर ने इस कृति के मुद्रण का कार्यभार सँभालकर मुझे निश्चिन्त कर दिया; अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना नहीं रह सकता। साथ ही टाइपिंग हेतु श्री पंकज जैन, सिवनी एवं श्रीमती प्रीति जैन, जयपुर का आभारी हूँ।

इसप्रकार इस कृति को निर्दोष रूप प्रदान करने में अनेक विशेषज्ञ विद्वानों का अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका उपकार भुलाया नहीं जा सकता। यह कृति, प्रतिपाद्य विषय को सभी पहलुओं से स्पष्ट करने में समर्थ और निर्दोष हो, एतदर्थ बुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण सावधानी रखते हुए भी अनजाने में अनेक कमियाँ रह जाना स्वाभाविक है; अतः विद्वानों एवं प्रबुद्ध पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि कमियों की ओर ध्यानाकर्षित अवश्य करें, ताकि उन पर पुनर्विचार करके आगामी संस्करण को परिशुद्ध किया जा सके।

श्री अतुलभाई खारा एवं जैन अध्यात्म एकेडमी ऑफ नॉर्थ अमेरिका परिवार का विशेष आभारी हूँ, जिसने इस कृति के प्रकाशन का गुरुतर दायित्व सहर्ष स्वीकार किया। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट तो मेरे जीवन का अभिन्न अंग है; अतः उसका आभार मानना अटपटा लगता है, फिर भी वह इसका संयुक्त प्रकाशक है; अतः कृतज्ञता व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता।

सभी जीव नय-रहस्य को जानकर नयातीत दशा प्राप्त करने का सम्यक् पुरुषार्थ प्रकट करें - यही भावना भाते हुए स्वयं नयातीत होने के पुरुषार्थ हेतु उद्यमवन्त होने की कामना करता हूँ।

भाद्रपद शुक्ला पंचमी
9 सितम्बर 2013

अभयकुमार जैन
एम. कॉम, जैनदर्शनाचार्य

अनुक्रमणिका

मंगलाचरण

जो एक शुद्ध विकार वर्जित, अचल परम पदार्थ है।
जो एक ज्ञायक भाव निर्मल, नित्य निज परमार्थ है।।
जिसके दरश व जानने का, नाम दर्शन ज्ञान है।
हो नमन उस परमार्थ को, जिसमें चरण ही ध्यान है।।1।।

निज आत्मा को जानकर, पहचान कर जमकर अभी।
जो बन गये परमात्मा, पर्याय में भी वे सभी।।
वे साध्य हैं, आराध्य हैं, आराधना के सार हैं।
हो नमन उन जिनदेव को, जो भवजलधि के पार हैं।।2।।

नयचक्र से जो भव्यजन को, सदा पार उतारती।
जगजालमय एकान्त को, जो रही सदा नकारती।।
निजतत्त्व को पाकर भविक, जिसकी उतारें आरती।
नयचक्रमय उपलब्ध नित, यह नित्यबोधक भारती।।3।।

नयचक्र के संचार में, जो चतुर हैं प्रतिबुद्ध हैं।
भवचक्र के संहार में, जो प्रतिसमय सन्नद्ध हैं।।
निज आत्मा की साधना में, निरत तन मन नगन हैं।
भव्यजन के शरण जिनके, चरण उनको नमन है।।4।।

कर कर नमन निज भाव को, जिन जिनगुरु जिनवचन को।
निजभाव निर्मल करन को, जिनवर कथित नयचक्र को।।
निजबुद्धि बल अनुसार, प्रस्तुत कर रहा हूँ विज्ञजन।
ध्यान रखना चाहिए, यदि हो कहीं कुछ स्खलन।।5।।

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

मंगलाचरण

(दोहा)

मंगलमय जिनराज को, वन्दूँ बारम्बार।
जिनवाणी-गुरु को नमूँ, नय-रहस्य दातार।।

धन्य-धन्य जिनदेव का, स्याद्वाद नयचक्र।
जिसे साधने से मिटे, भविजन का भवचक्र।।

(वीरछन्द)

जिनवर का नयचक्र अहो! यह मोह तिमिर का करे विनाश।
भेदज्ञान की दिव्य-ज्योति में, शुद्धातम का करे प्रकाश।।
एक अखण्ड अभेद त्रिकाली, ज्ञायक ध्रुव चैतन्य स्वभाव-
परम शुद्धनय करे प्रकाशित, परम पारणामिक निजभाव।।

उभय नयाश्रित शिवपुर पथ पर, सम्यग्ज्ञान सुरथ चालक-
हैं प्रवीण नयचक्र चलाने में गुरु शरणागत पालक।।
प्रतिपादक परमार्थ तत्त्व का, अतः कहें सम्यक् व्यवहार।
किन्तु निषिद्ध सुनिश्चय से है, भेदज्ञान का यही प्रकार।।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनय, कहें यथार्थ पदार्थ स्वभाव।
नित्यानित्य अभेद-भेदमय, एकानेक चिदानन्द भाव।।
स्याद्वादमय जिनवाणी से, नय-विरोध का करें शमन।
जो अनादि अक्षुण्ण चिदातम, लखें, मोह का करें वमन।।

नयपक्षों से मुक्त हुए जो, निज स्वरूप में गुप्त रहें।
निर्विकल्प हो शान्तचित्त, वे ही अमृत - साक्षात् पियें।।
जिनप्रवचन का मर्म अहो! यह, जानो नय-रहस्य का सार।
अन्तर्मुख परिणति में बहती, चिदानन्द रस अमृत धार।।

ॐ

नय-रहस्य

विषय-प्रवेश

(दोहा)

श्री जिनवर की वन्दना, करूँ सहज निष्काम।
पक्षातिक्रान्त परमात्मा, पाऊँ मंगलधाम।।
नय-प्रमाण से जानकर, सप्त तत्त्व का मर्म।
रत्नत्रयनिधि प्राप्तकर, कटें त्रिविध दुष्कर्म।।

इस विश्व को जगत्, लोक, दुनिया आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। किसी बुद्धिमान् व्यक्ति ने ही कभी इसे दुनिया (दो 'नय' वाली) कहना प्रारम्भ किया होगा; क्योंकि इस जगत् की गाड़ी मुख्यतः दो नयों की पटरी पर ही चलती है। सम्पूर्ण जिनागम तो दो नयों की शैली में वस्तु-स्वरूप का एवं मोक्षमार्ग का निरूपण करता ही है, जन-सामान्य भी लौकिक प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं का प्रयोग किये बिना नहीं रहता।

क्या एक बालक अपनी माता में विद्यमान मातृधर्म को मुख्य किये बिना उसे माँ कह सकता है? नहीं। क्या हम और आप किसी

चायवाले को 'ए चाय'! या टैक्सीवाले को 'ए टैक्सी'! कहकर नहीं बुलाते? किसी अपेक्षा के बिना यह व्यवहार कैसे सम्भव है? इसप्रकार लोक में भी वस्तु का कथन, अपेक्षा से करने की पद्धति देखी जाती है।

अब यह **प्रश्न** उठना स्वाभाविक है कि दुनिया में जैनियों के अतिरिक्त (अलावा) 'नय' शब्द का प्रयोग तो कोई नहीं करता और जैनियों में भी मात्र कुछ विद्वानों को छोड़कर कोई भी 'नय' शब्द का प्रयोग करता नहीं देखा जाता। क्या कोई बालक अपनी माँ से यह कहता है कि 'तू इस नय से मेरी माँ है?' यदि नहीं तो फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि नयों के बिना दुनिया का काम भी नहीं चलता?

भाई! नयों की महत्ता बताने के लिए ही पूज्य माइल्ल धवल, आचार्य देवसेन, जिनेन्द्र वर्णी, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल आदि गहन चिन्तकों द्वारा नय सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं और उनके विशेष स्पष्टीकरण के लिए यह पुस्तक लिखी जा रही है; ताकि हम नयों का स्वरूप, उनकी उपयोगिता तथा भेद-प्रभेद आदि के बारे में आवश्यक विस्तार और गहराई से जान सकें। रही बात जन-साधारण द्वारा 'नय' शब्द का प्रयोग न करने की तो मात्र शब्द-प्रयोग में ही नय नहीं होता, नय तो भाव अर्थात् ज्ञान में होता है। एक बालक 'माँ' की परिभाषा नहीं जानता; परन्तु माँ के वात्सल्य का अनुभव अवश्य करता है। इसीप्रकार वह भूख-प्यास, क्रोध-प्रेम आदि शब्दों को नहीं जानता; परन्तु इन भावों का वेदन तो करता ही है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि भावानुभूति भाषा के आधीन नहीं होती। कैसी विडम्बना है कि भाषा-ज्ञान से रहित शिशु, माँ के वात्सल्य का जितना गहन अनुभव करता है, भाषा-ज्ञान से समृद्ध युवा होने के बाद उसकी अनभूति में माँ के प्रति उतनी आसक्ति नहीं रह पाती, जितनी बचपन में थी। पहले वह एक पल भी माँ को देखे बिना नहीं रह सकता

था और अब माँ को छोड़कर सात समुन्दर पार जाने के लिए भी तैयार है।

यह तो रही लोक की बात; यहाँ तो आत्म-कल्याण में रुचिवन्त जीवों को स्व-पर, आत्मा-परमात्मा, सात तत्त्व आदि प्रयोजनभूत बातों का यथार्थ निर्णय हो सके - इस प्रयोजन से नयों का विशुद्ध अनुशीलन करने का प्रयास किया जा रहा है, क्योंकि सम्पूर्ण जिनागम में प्रमाण और नय से ही वस्तु-स्वरूप का निरूपण किया गया है। महाशास्त्र **तत्त्वार्थसूत्र** में तो सात तत्त्वों को जानने का उपाय प्रमाण-नयों को बताते हुए **प्रमाणनयैरधिगमः**[1] - इस सूत्र की रचना की गई है।

वास्तव में प्रमाण और नय उस तराजू के समान हैं, जिन पर अनेक वस्तुओं को तोला जाता है। वजन तोलनेवाला व्यक्ति तराजू का प्रयोग करना तो जानता ही है; अन्यथा वह पदार्थों का सही वजन कैसे जान सकेगा? अतः यदि हम प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का सही स्वरूप जानना चाहते हैं तो हमें प्रमाण-नय की तराजू का प्रयोग करना सीखना ही होगा, अन्यथा तत्त्वों के बारे में विपरीत श्रद्धान बना ही रहेगा, जिससे संसार-भ्रमण का अन्त कभी नहीं आ सकेगा।

अभ्यास-प्रश्न

1. भाषा और परिभाषा जाने बिना लौकिक जगत में भी नयों का प्रयोग किसप्रकार होता है?
2. इस पुस्तक को लिखने का प्रयोजन क्या है?

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, प्रथम अध्याय, सूत्र 6

1

नयज्ञान की आवश्यकता

नयों के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा करने से पहले नयों को जानने की आवश्यकता के बारे में विचार करना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र की गाथा 181 अत्यन्त प्रेरणादायक है -

जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति।।

जो नय-दृष्टि (नय-ज्ञान) से रहित हैं, उन्हें वस्तु-स्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती और जो वस्तु-स्वभाव से रहित हैं, वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए नय-ज्ञान को अनिवार्य बताया जा रहा है।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रमाण-नय तो पण्डिताई करने के लिए हैं, पण्डितों के लिए हैं; हमें तो आत्मा का अनुभव करना है; अतः हम इनमें क्यों उलझें; क्योंकि अनुभव में तो नय-विकल्प होते नहीं? ऐसा कहने वाले लोगों से मेरा यही अनुरोध है कि वे इस प्रकरण की गम्भीरता को समझें।

अनुभव में नय-विकल्प नहीं हैं; परन्तु शुद्धनय का विषय तो है

ही; अतः नयों का प्रयोग किये बिना आत्म-स्वरूप का निर्णय कैसे होगा? रही बात पण्डिताई की, तो भले कोई वक्ता हो या न हो, वस्तु-स्वरूप का निर्णय करना तो प्रत्येक आत्मार्थी के लिए अनिवार्य है; और मैं पूछता हूँ कि सच्ची पण्डिताई क्या बुरी चीज है?

आत्मानुभवी विद्वानों की प्रशंसा करते हुए तो पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी भी बारम्बार कहते हैं - **दिगम्बरो ना पण्डितोए पण गजब काम कर्युं छे।**

पाण्डे राजमलजी, पण्डित बनारसीदासजी, पण्डित टोडरमलजी, पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा, पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल आदि विद्वानों के प्रति उनके उद्‌गार, आज भी उनके प्रवचनों की सी.डी. आदि में उपलब्ध हैं। अरे! प्राचीन विद्वानों की बात तो दूर, पाण्डित्य के अभिमान पर प्रहार करते हुए भी, वे कभी-कभी अपने शिष्य-विद्वानों की प्रशंसा करके उन्हें प्रोत्साहित करते हुए सुने जा सकते हैं।

मात्र शास्त्र-ज्ञान की निरर्थकता बताते हुए भी शास्त्राभ्यास की प्रेरणा देना तथा पण्डिताई के अहं पर प्रहार करते हुए भी पण्डितों के कार्य की उन्मुक्त प्रशंसा करना - ऐसा सन्तुलित दृष्टिकोण आज पूज्य गुरुदेवश्री के चिन्तन की ही प्रमुख विशेषता है।

जिनागम में भी अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी दिखनेवाले कथन उपलब्ध हैं। कहीं आत्मा को सिद्ध-समान ज्ञानानन्दस्वभावी कहा गया है तो कहीं उसे अज्ञानी, मूढ़ और दुःखी कहा गया है। कहीं उसे अभेद, अखण्ड, त्रिकाली, चिद्‌घनमात्र आदि बता कर एकरूप कहा गया है तो कहीं उसे मनुष्य, तिर्यंच, रागी-द्वेषी अथवा गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेदों से अनेकरूप कहा गया है।

यदि इन कथनों की अपेक्षा और प्रयोजन नहीं समझेंगे तो इनका वास्तविक मर्म कैसे जान पाएँगे? और इनका मर्म जाने बिना आत्म-स्वरूप का यथार्थ निर्णय तथा अनुभव कैसे हो सकेगा? अतः यथार्थ

तत्त्वनिर्णय करने के लिए नयों का स्वरूप जानना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है।

नयज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए वही नयचक्रकार गाथा 417 में लिखते हैं -

लवणं व इणं भणियं, णयचक्कं सयल सत्थसुद्धियरं।
सम्मा वि य सुअ मिच्छा, जीवाणं सुणय मग्गरहियाणं।।

जैसे नमक भोजन को शुद्ध (स्वादिष्ट) कर देता है, वैसे ही नयचक्र समस्त शास्त्रों को शुद्ध कर देता है। सुनय के ज्ञान से रहित जीवों के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्या हो जाता है।

प्रश्न - एक ओर सम्यक्श्रुत कहा जा रहा है और दूसरी ओर उसे मिथ्या भी कह रहे हैं; भला सम्यक्श्रुत मिथ्या कैसे हो सकता है?

उत्तर - भाई! वह श्रुत/शास्त्र, केवली के वचनानुसार वीतरागी सन्तों और ज्ञानियों द्वारा लिखे गये हैं - इस अपेक्षा तो सम्यक्श्रुत ही हैं; परन्तु यदि हम उसे यथार्थ अपेक्षा से ग्रहण नहीं करें तो तत्सम्बन्धी हमारा ज्ञान मिथ्या ही हुआ।

प्रश्न - सम्यक्श्रुत भी मिथ्या हो गया - इस आशय का स्पष्टीकरण कहीं और भी है क्या?

उत्तर - आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय में जैन शास्त्रों का अभ्यास करनेवालों को भी जो मिथ्यात्व होता है, उसे निश्चयाभास-व्यवहाराभास-उभयाभास के रूप में स्पष्ट किया है। ये निश्चयाभास आदि मान्यताएँ जिनवाणी का विपरीत अर्थ ग्रहण करने से ही हुई हैं।

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि नयों के यथार्थ ज्ञान के बिना सम्यक्श्रुत भी मिथ्या हो जाता है।

प्रश्न - आत्मा तो स्वभाव से नयपक्षातीत है तथा अनुभूति में भी

नय विकल्प नहीं रहते, फिर आत्मानुभूति के लिए नयों को जानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – श्रुतभवनदीपक नयचक्र में आचार्य देवसेन ने इसी सन्दर्भ में लिखा है कि यद्यपि आत्मा स्वभाव से नयपक्षातीत है; तथापि वह नयज्ञान के बिना पर्याय में नयपक्षातीत नहीं हो सकता, क्योंकि यह आत्मा, अनादिकालीन कर्मवश असत्कल्पनाओं में उलझा हुआ है; अतः सत्कल्पनारूप अर्थात् सम्यक् विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं।

प्रश्न – असत्कल्पना और सत्कल्पना से क्या आशय है?

उत्तर – अनादिकालीन मिथ्यात्व के उदय से होनेवाली मिथ्या मान्यताएँ ही असत्कल्पनाएँ हैं; अथवा प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के बारे में विपरीत मान्यताएँ असत्कल्पनाएँ हैं। समयसार, मोक्षमार्गप्रकाशक, योगसार, छहढाला आदि अनेक ग्रन्थों में इन मिथ्या मान्यताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

जिनागम के अभ्यास से जो विकल्पात्मक यथार्थ तत्त्वनिर्णय होता है, वही सत्कल्पना है। यह निर्णय, वस्तु-स्वरूप के अनुसार होने से सत् कहा गया है और निर्विकल्प अनुभूति से रहित मात्र विकल्पात्मक ज्ञान में होने से इसे कल्पना कहा गया है।

प्रश्न – सत्कल्पना और निर्विकल्प अनुभूति में क्या अन्तर है?

उत्तर – जिनागम के अभ्यास के निमित्त से विकल्पात्मक भूमिका में होनेवाला यथार्थ तत्त्व-निर्णय सत्कल्पना है। इसमें मन के अवलम्बन से प्रमाण-नय द्वारा वस्तु-स्वरूप का अथवा सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने के बल से स्वरूप की रुचि बढ़ते-बढ़ते उपयोग अन्तर्मुख हो जाता है और बुद्धिपूर्वक विकल्प भी शमित हो जाते हैं; यही निर्विकल्प अनुभूति अर्थात् पक्षातिक्रान्त दशा है।

प्रश्न – क्या पक्षातिक्रान्त दशा सदा बनी रहती है?

उत्तर – निचली भूमिका में उपयोग में निर्विकल्प दशा तो बहुत अल्पकाल तक रहती है। उसके बाद पुनः शुभाशुभ विकल्प होने लगते हैं, परन्तु अभिप्राय अर्थात् प्रतीति में शुद्धात्मतत्त्व में अहं की धारा निरन्तर चलती रहती है। यह धारा भी प्रमाण-नय के विकल्पों से रहित होने से पक्षातिक्रान्त ही कहलाती है। इस पक्षातिक्रान्त दशा का विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक के अध्याय 7 में किंचित् विस्तार के साथ किया गया है।

इसप्रकार पक्षातिक्रान्त दशा अर्थात् आत्मानुभूति पूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए नयों के द्वारा वस्तुस्वरूप का निर्णय करके सर्वप्रथम असत्कल्पनाओं का अभाव करना आवश्यक है, जो नयज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। षट्खण्डागम की धवला टीका[1] में तो 'नयवाद में निपुण मुनियों को ही सिद्धान्त के सच्चे ज्ञाता' कहते हुए लिखा है कि **'जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं है।'** अतः वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने के लिए नयों का स्वरूप समझना, प्रत्येक आत्मार्थी के लिए श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. सम्यक् श्रुत भी मिथ्या कैसे हो जाता है?
2. 'नयज्ञान की आवश्यकता' – इस विषय को आगम-प्रमाणों से स्पष्ट कीजिए।
3. 'आत्मानुभूति' के लिए नयज्ञान की आवश्यकता क्यों है? सिद्ध कीजिए।
4. असत्कल्पना और सत्कल्पना के अन्तर को चार्ट के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।

---

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 513

2

नयों का सामान्य स्वरूप

जिनागम का मर्म समझ कर, आत्मानुभूति प्रगट करने के लिए नयज्ञान की उपयोगिता स्थापित हो जाने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नय क्या हैं? अर्थात् वे कोई द्रव्य हैं, गुण हैं अथवा पर्याय हैं? अतः यहाँ पर नयों की कुछ विशेषताओं के माध्यम से नयों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. नय सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश हैं –

नयों के बारे में सर्वप्रथम जानने योग्य तथ्य यह है कि वे जीव के ज्ञानगुण की श्रुतज्ञानरूप पर्यायें हैं। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्ज्ञान के पाँच भेदों का वर्णन करते हुए **मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्** – सूत्र कहा गया है। इनमें पाँचों ज्ञानों को प्रमाणरूप कहा है; परन्तु नय, श्रुतज्ञान में ही होते हैं; अतः नय श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान के भेद हैं अर्थात् ज्ञान का प्रमाण–नयरूप परिणमन श्रुतज्ञान में गर्भित होता है। शेष चार ज्ञानों में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित होने से प्रामाणिकता होने पर भी उनमें नयरूप परिणमन नहीं होता है।

प्रश्न – नय श्रुतज्ञान में ही क्यों होते हैं, अन्य ज्ञानों में क्यों नहीं?

उत्तर – अनन्तधर्मात्मक वस्तु में से किसी एक धर्म को मुख्य करके जानने की प्रक्रिया श्रुतज्ञान में ही होती है। अथवा जो ज्ञान वस्तु

उसका विस्तार से विवेचन जानने हेतु इन दोनों कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। मैं **नय-रहस्य** में समागत कुछ विशिष्ट विषयों को बिन्दुवार आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ -

१. स्वानुभूति के समय ज्ञान में निर्विकल्प नयरूप एवं निर्विकल्प प्रमाणरूप परिणमन एक साथ प्रारम्भ हो जाता है।[1]

२. वक्ता, किसे विषय बनाना चाहेगा, यह बहुत कुछ श्रोताओं पर निर्भर करता है। यदि श्रोताओं में पर्यायपक्ष का जोर हो तो वह द्रव्यपक्ष को मुख्य करेगा। इसी प्रकार यदि उनमें क्रियाकाण्ड का पक्ष प्रबल हो तो वक्ता भावपक्ष की मुख्यता करता है।[2]

३. बहुत-से लोग **पूज्य गुरुदेवश्री** के प्रवचनों का सांगोपांग गहन अध्ययन किये बिना ही उन्हें एकान्ती, स्वच्छन्दी, निश्चयाभासी आदि समझ लेते हैं, लेकिन यदि उनके प्रवचनों का निष्पक्ष दृष्टि से गहन अध्ययन करें तो न केवल हमारा भ्रम निकल जाएगा, अपितु वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय कर, हम मोक्षमार्ग की प्राप्ति का सम्यक् पुरुषार्थ भी कर सकेंगे।[3]

४. जिनागम के सभी व्यवहार कथनों में कोई न कोई पारमार्थिक आशय अवश्य छिपा रहता है; अतः **व्यवहारनय प्रतिपादक है** और उसका यथार्थ आशय अर्थात् **निश्चयनय प्रतिपाद्य** है।[4]

५. व्यवहार के निषेध में ही उसकी सार्थकता और सफलता है। जिस प्रकार पेकिंग (आवरण) अपने में छिपी/रखी वस्तु को बताती है और सुरक्षित भी रखती है, परन्तु उस वस्तु को पाने के लिए पेकिंग को तोड़ना ही पड़ता है; उसी प्रकार व्यवहारनय को परमार्थ न मान कर ही परमार्थ को पाया जाता है।[5]

---

1. नय-रहस्य, पृष्ठ 14 2. वही पृष्ठ 18 3. वही पृष्ठ 49
4. वही पृष्ठ 59 5. वही पृष्ठ 63-64

प्रश्न – गौण करने का क्या अर्थ है?

उत्तर – किसी धर्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसके बारे में उस समय विचार न करना ही उसे गौण करना है। गौण करने में उसकी सत्ता का निषेध भी नहीं है तथा उसके बारे में विधि-निषेध का कोई विकल्प भी नहीं है।

इसप्रकार उक्त परिभाषा में नय क्या है? किसे जानता है? और कैसे जानता है? – इन प्रश्नों का समाधान करते हुए नयों का स्वरूप बताया गया है।

यहाँ **अभिप्राय** के बारे में कुछ प्रश्नोत्तरों के माध्यम से विशेष स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

प्रश्न – अभिप्राय किसे कहते हैं?

उत्तर – धवलाकार ने अभिप्राय शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश में वस्तु का निश्चय करना ही अभिप्राय है। अर्थात् प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय अंश में तथा सामान्य या विशेष अंश में वस्तु के निश्चय करने को अभिप्राय कहते हैं और यही नय है।

प्रश्न – यहाँ अभिप्राय शब्द का अर्थ नयात्मक श्रुतज्ञान किया जा रहा है, जबकि अन्यत्र उसे श्रद्धा गुण की प्रतीतिरूप पर्याय के अर्थ में प्रयोग किया है?

उत्तर – एक ही शब्द विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक में अनेक स्थलों पर अभिप्राय[1] शब्द का प्रयोग श्रद्धा या प्रतीति के अर्थ में करते हैं; किन्तु यहाँ नयों के सन्दर्भ में अभिप्राय शब्द का अर्थ अपेक्षा, नय या श्रुतज्ञान ही समझना चाहिए।

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 513

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

प्रश्न – वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय कौन करता है? कब करता है? क्या हमारे व्यावहारिक जीवन में भी कभी ऐसा होता है?

उत्तर – अरे भाई! हम और आप सभी दिन-रात अपने ज्ञान में ऐसा ही करते हैं व ऐसा ही कहते हैं। इसके बिना लोक-व्यवहार भी सम्भव नहीं है। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि मुख्यतया दो नयों का प्रयोग होने से इस जगत् को दुनिया कहा जाता है। स्वाद को मुख्य करके नीबू को खट्टा कहा जाता है। जरा सोचिए कि सारा नीबू खट्टा है या मात्र उसका स्वाद खट्टा है? क्या नीबू का रंग, आकार, वजन, गन्ध आदि अन्य गुण भी खट्टे हैं? नहीं, तो फिर सारा नीबू खट्टा कैसे हुआ? मात्र उसका स्वाद ही तो खट्टा है न? अतः स्वाद की अपेक्षा सारे नीबू को खट्टा कहना – यही तो वस्तु के एक अंश में सम्पूर्ण वस्तु का निश्चय करना है। इसी का नाम अभिप्राय है और इसी का नाम नय है।

वास्तव में नयों की भाषा और परिभाषा जाने बिना भी नय-प्रयोग करना, हमारे श्रुतज्ञान का स्वभाव होने से वह हमारे जीवन में गहराई से व्याप्त है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई तथा आबाल-वृद्ध कोई भी इस प्रक्रिया से अछूता नहीं है। क्रिकेट के ग्यारह खिलाड़ियों की टीम में सारे भारत की स्थापना करके सभी कहते हैं कि भारत जीत गया। प्रधानमंत्री द्वारा लिये गए निर्णयों को सारे देश का निर्णय माना जाता है। हम भारत के अत्यन्त छोटे हिस्से में रहकर भी यही कहते हैं व अनुभव करते हैं कि हम भारतवासी हैं। ये सब नय-प्रयोग ही तो हैं।

प्रश्न – यदि ये सब नय-प्रयोग हैं तो हम भी नय विशेषज्ञ हुए, फिर हमें नयचक्र क्यों पढ़ाया जा रहा है?

उत्तर – भाई! यह जीव, विषय-कषाय पोषक लौकिक बातों में तो अनादिकाल से चतुर है। काम-भोग-बन्ध की कथा इस जीव ने

अनादिकाल से सुनी है, उसका परिचय और अनुभव भी किया है; परन्तु अपने एकत्व-विभक्तस्वरूप की बात कभी (रुचिपूर्वक) सुनी ही नहीं, उसका परिचय और अनुभव तो कहाँ से करता? अतः लौकिक बातों में चतुर होते हुए भी हमें प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ निर्णय आज तक नहीं हुआ, अन्यथा संसार में क्यों भटकते? यहाँ प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय करने के उद्देश्य से ही प्रमाण और नयों का स्वरूप जानने की बात है। तत्त्वार्थसूत्र में जीवादि तत्त्वों को जानने के उपाय के रूप में ही प्रमाण-नयों की चर्चा की गई है।

प्रश्न – यहाँ तो लौकिक जीवन में सभी जीवों को नय-प्रयोग करनेवाला बताया गया है; जबकि पहले यह कहा गया है कि नय, ज्ञानी को ही होते हैं, अज्ञानी को नहीं?

उत्तर – नय, सम्यक् श्रुतज्ञान में होते हैं, अतः ज्ञानी को ही होते हैं। वास्तव में नय-प्रमाण में प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को यथार्थ श्रद्धानपूर्वक जानने या न जानने से ही उनमें सम्यक् या मिथ्या का भेद पड़ता है। इसीलिए नय, ज्ञानी को ही होते हैं; क्योंकि वे ही प्रयोजनभूत तत्त्वों को यथार्थ जानते हैं। ज्ञानीजन भी लौकिक जीवन में जो नय-प्रयोग करते हैं, वे लौकिक दृष्टि से सम्यक् या मिथ्या कहे जा सकते हैं, मोक्षमार्ग की अपेक्षा तो वे मिथ्या ही हैं। उन्हें लौकिक नय अवश्य कह सकते हैं। किसी व्यक्ति को ज्ञानी या अज्ञानी भी प्रयोजनभूत तत्त्वों के जानने या न जानने की अपेक्षा से कहा जाता है। लौकिक ज्ञान यथार्थ होने पर भी वह मोक्षमार्ग का साधक नहीं है; अपितु मिथ्यात्व और कषाय का पोषक होने से मिथ्याज्ञान ही है।

3. नयों की प्रवृत्ति प्रमाण द्वारा जाने गए पदार्थ के एक अंश में होती है –

प्रश्न – नयों की प्रवृत्ति, प्रमाण द्वारा जाने गए पदार्थों के एक

अंश में होती है, तो क्या पदार्थों को पहले प्रमाण द्वारा जानें, फिर नयों का प्रयोग करें? यदि हाँ, तो प्रमाण द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान कर लेने के बाद नयों द्वारा जानने की आवश्यकता क्या है?

उत्तर – यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर ही यथार्थ (निर्विकल्प) नयरूप एवं प्रमाणरूप परिणमन एक साथ प्रारम्भ हो जाता है, तथापि वस्तु-स्वरूप का निर्णय करने के लिए मिथ्यात्व की मन्दता में आत्मार्थी जीव, जिनागम के आधार से प्रमाण और नयों का स्वरूप जानकर, वस्तु-स्वरूप का निर्णय करते हैं।

प्रमाण द्वारा वस्तु के सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्म-युगलों को जाने बिना किसी एक धर्म को मुख्य और अब शेष धर्म को गौण कैसे किया जा सकता है? अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्म-युगलों में से किसी एक धर्म को मुख्य और शेष धर्मों को गौण करने के लिए वस्तु के दोनों धर्मों को जानना आवश्यक है।

यदि दोनों धर्मों को जाने बिना किसी एक नय के विषय को जानेंगे तो उसे ही सर्वथा मान लिया जाएगा, जिसमें नयाभास या मिथ्या-एकान्त हो जाएगा।

यदि सोने की अँगूठी, ज्ञान का विषय नहीं बनेगी तो मात्र स्वर्ण या अँगूठी को मुख्य कैसे किया जाएगा? और स्वर्ण को मुख्य किये बिना उसे दृष्टि का विषय बनाने का निर्णय कैसे किया जा सकता है? इसीलिए यह कहा गया है कि प्रमाण द्वारा जाने गए पदार्थ के किसी एक अंश में नयों की प्रवृत्ति होती है।

धवलाकार के निम्न कथन से भी यही आशय पुष्ट होता है –

प्रमाण से नयों की उत्पत्ति होती है; क्योंकि वस्तु के अज्ञात

होने पर गौणता और मुख्यता का अभिप्राय नहीं बनता।[1]

प्रमाण द्वारा पदार्थ के परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ जाने जाते हैं; अतः उसमें किसी धर्म का गहन परिचय प्राप्त करने का अवकाश नहीं है, जिससे हेय-उपादेय का निर्णय नहीं हो सकता। किसी एक धर्म को मुख्य करके जानने से ही उस धर्मरूप वस्तु का प्रगाढ़ परिचय हो सकेगा।

प्रश्न – केवलज्ञान के बिना हम सम्पूर्ण वस्तु को कैसे जान सकेंगे? और सम्पूर्ण वस्तु को जाने बिना मुख्य-गौण करना कैसे सम्भव होगा?

उत्तर – यहाँ केवलज्ञान के द्वारा प्रत्येक धर्म को प्रत्यक्ष जानना विवक्षित नहीं है, अपितु वस्तु अनन्तधर्मात्मक है – ऐसा श्रुतज्ञान प्रमाण से जानना तथा उसके सामान्य-विशेष आदि धर्म-युगलों को एक साथ जानना – यही सम्पूर्ण वस्तु को जानना है। इसलिए श्रुतज्ञान-प्रमाण द्वारा वस्तु का निर्णय करने के बाद नयों द्वारा वस्तु को जानना आवश्यक है।

4. एकान्तवाद का नाश करने हेतु नयों की प्रवृत्ति होती है –

नयचक्रकार माइल्लधवल लिखते हैं – **अनेक स्वभावों से परिपूर्ण वस्तु को प्रमाण द्वारा ग्रहण करने के पश्चात् एकान्तवाद का नाश करने के लिए नयों की योजना करनी चाहिए।**[2]

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि नय, स्वयं सम्यक्-एकान्त स्वरूप हैं तो नय-प्रयोग से एकान्त का नाश कैसे होगा?

उक्त प्रश्न के समाधान हेतु आचार्य समन्तभद्र रचित स्वयंभू स्तोत्र का श्लोक 103 दृष्टव्य है –

1. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 25
2. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 172

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।

प्रमाण और नय हैं साधन जिसके – ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्तस्वरूप है; क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्तस्वरूप एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्त-स्वरूप है।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि अनेकान्तवादी जैनदर्शन में 'अनेकान्त में भी अनेकान्त' स्वीकार किया गया है। सर्वथा अनेकान्त मानना भी एकान्त है, जिसके नाश के लिए नय योजना करनी चाहिए अर्थात् कथंचित् अनेकान्त और कथंचित् एकान्त स्वीकार करने पर ही सम्यक्-अनेकान्त होता है।

अनेकान्त में भी अनेकान्त का स्पष्टीकरण –

जिसप्रकार वस्तु कथंचित् भेदरूप और कथंचित् अभेदरूप है, सर्वथा भेदरूप या सर्वथा अभेदरूप नहीं है; अतः उसे सर्वथा अभेदरूप या भेदरूप मानना मिथ्या-एकान्त है। उसीप्रकार वस्तु को सर्वथा अनेकान्तरूप मानना भी मिथ्या-एकान्त है। वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी धर्म प्रमाण द्वारा जाने जाते हैं, अतः प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्तरूप है। यदि उसे सर्वथा अनेकान्तरूप माना जाए तो नयों के विषयभूत एक-एक धर्म का सर्वथा लोप होने का प्रसंग आएगा और जब एक धर्म ही नहीं रहेगा तो परस्पर विरोधी धर्म भी कैसे रहेंगे? इसप्रकार सम्यक्-एकान्तरूप नयों का निषेध करने से अनेकान्तरूप वस्तु का भी लोप हो जाएगा; अतः वस्तु को सर्वथा अनेकान्तरूप न मानकर कथंचित् (प्रमाण की अपेक्षा) अनेकान्तरूप और कथंचित् (नय की अपेक्षा) एकान्तरूप माना गया है। इसप्रकार कथंचित् अनेकान्त + कथंचित् एकान्त = अनेकान्त समझना चाहिए। यदि अनेकान्त में से

कथंचित् एकान्त अर्थात् सम्यक्-एकान्त निकाल दिया जाए तो मात्र सर्वथा अनेकान्त अर्थात् मिथ्या अनेकान्त ही बचता है।

यदि कोई व्यक्ति, जड़-तना-शाखा-पत्ते-फूल-फलरूप वृक्ष का चित्र तो बनाना चाहे, परन्तु जड़-शाखा आदि अंगों का चित्र न बनाए तो वृक्ष का चित्र कैसे बनेगा? क्योंकि वृक्ष अपने सम्पूर्ण अंगों में व्याप्त अंगीरूप भी है तथा एक-एक अंगरूप भी है। अंगी और अंगरूप वृक्ष मिलकर अनेकान्तरूप भी है तथा एक-एक अंगरूप होने से वह सम्यक्-एकान्तरूप भी है। इसप्रकार अनेकान्त भी (अंग + अंगी) अनेकान्तरूप है अर्थात् उसमें सम्यक्-एकान्त भी शामिल है। अतः प्रमाण द्वारा जानी गई वस्तु में नय-प्रयोग करने पर सर्वथा अनेकान्तरूप एकान्त का नाश होता है तथा कथंचित् एकान्त + कथंचित् अनेकान्तरूप वस्तु की सिद्धि होती है।

अनेकान्त के दो भेद हैं - सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। इसी प्रकार एकान्त के भी दो भेद हैं - सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। सम्यक् और कथंचित् एकार्थवाची हैं तथा मिथ्या और सर्वथा एकार्थवाची हैं।

इस प्रकरण के सम्बन्ध में अनेकान्त और स्याद्वाद विषय पर विवेचन करते समय विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाएगा।

5. नयों के कथन में विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित धर्म गौण रहते हैं -

वक्तुरिच्छा विवक्षा अर्थात् वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं। वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके वस्तु का कथन करना ही विवक्षा कहलाता है। वक्ता, जिस धर्म को मुख्य करना चाहे, उसे मुख्य करके वह वस्तु का कथन करता है - यह बात सुनकर ऐसा लगता है कि वक्ता को अपनी मन-मर्जी करने की छूट दी जा रही है; परन्तु यहाँ

मन-मर्जी की बात नहीं है। वक्ता, किसे विषय बनाना चाहेगा, यह बहुत कुछ श्रोताओं पर निर्भर होता है; क्योंकि उसके द्वारा किसी धर्म को मुख्य करने का प्रयोजन, श्रोताओं के तत्सम्बन्धी अज्ञान का नाश करना है। श्रोताओं में पर्यायपक्ष का जोर हो तो वह द्रव्यपक्ष को मुख्य करेगा। इसीप्रकार यदि श्रोताओं में क्रियाकाण्ड का पक्ष प्रबल हो तो वक्ता भावपक्ष की मुख्यता करता है। इसके अलावा तत्त्व-अभ्यासी और अध्यात्म-रसिक श्रोताओं के निमित्त से स्वयं के रस-पोषण हेतु वक्ताओं द्वारा विशेष प्रकरणों पर भी व्याख्यान किया जाता है।

इसप्रकार वक्ता जिस धर्म को मुख्य करता है, उसे विवक्षित और शेष धर्मों को अविवक्षित कहते हैं।

6. ज्ञानात्मकनय और वचनात्मकनय –

नय, श्रुतज्ञान के भेद हैं। श्रुत भी द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के भेद से दो प्रकार का माना गया है; अतः जब ज्ञान में वस्तु के किसी अंश को मुख्य करके जानते हैं तो ज्ञानात्मक नय होते हैं और जब वाणी द्वारा वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके कहा जाए तो वचनात्मक नय होते हैं। पंचाध्यायीकार पौद्गलिक शब्दों को द्रव्यनय और जीव के चैतन्यगुण को भावनय कहते हैं।[1]

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नय, सम्यक् श्रुतज्ञान के भेद हैं; अतः उनका वक्ता भी ज्ञानी होता है। अतः ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहें या वक्ता के अभिप्राय को – एक ही बात है।

7. नय सापेक्ष ही होते हैं, निरपेक्ष नहीं –

नयों के बारे में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे सापेक्ष ही होते हैं। यदि नय सापेक्ष न हों तो वे नय नहीं, नयाभास होंगे अर्थात्

1. पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्लोक 505

मिथ्यानय होंगे।

आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा, कारिका 108 में कहते हैं –

निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्।

अर्थात् निरपेक्षनय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक् व सार्थक होते हैं। इसीप्रकार सापेक्षनय को सुनय और निरपेक्षनय को दुर्नय कहा गया है।[1]

प्रश्न – वस्तुस्वभाव तो निरपेक्ष है, फिर उसे जाननेवाले नय सापेक्ष कैसे होंगे?

उत्तर – स्वभाव निरपेक्ष है – इसका अर्थ यह है कि वस्तु की सत्ता, स्वतन्त्रता और प्रभुता पर-पदार्थों के आधीन नहीं है। वस्तु अपने स्वरूप से ही सत् है – यही उसकी निरपेक्षता है; परन्तु उसमें विद्यमान अनन्त धर्मों को मुख्य-गौण करके ही जाना और कहा जा सकता है। **किसी एक धर्म को मुख्य करना ही सापेक्षता है।**

'अपेक्षा' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जहाँ वस्तु को पर और पर्यायों से निरपेक्ष कहा जाता है, वहाँ पराधीनता के अर्थ में अपेक्षा शब्द का प्रयोग करके वस्तु के स्वभाव को निरपेक्ष अर्थात् स्वाधीन कहा जाता है।

'अपेक्षा' शब्द का लौकिक अर्थ किसी से कुछ चाहना अर्थात् आशा करना है। प्रायः यह कहा जाता है कि हमें तो उनसे ऐसी अपेक्षा नहीं थी या ऐसी अपेक्षा थी। नयों की सापेक्षता के प्रसंग में यह अर्थ भी अभीष्ट नहीं है।

न्यायशास्त्र में 'अपेक्षा' शब्द का प्रयोग 'अविनाभावित्व' के अर्थ में भी किया जाता है। जैसे, द्रव्य और पर्याय परस्पर सापेक्ष हैं अर्थात् दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं होते, पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता

---

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 266

और द्रव्य बिना पर्याय नहीं होती; अतः नय परस्पर सापेक्ष होते हैं - इस कथन का आशय यह भी है कि वस्तु में निश्चय-व्यवहार या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों के विषयभूत धर्म साथ-साथ होते हैं, परन्तु नयों की सापेक्षता का अर्थ मात्र साथ रहने तक ही सीमित नहीं है।

विवक्षित धर्म को मुख्य करना अर्थात् उस धर्म के दृष्टिकोण से वस्तु को देखना ही 'अपेक्षा' है और इसी का नाम 'नय' है। मुख्य करने से आशय उस धर्म की दृष्टि से वस्तु को देखना। जैसे, आत्मा एक, अभेद, नित्य, ध्रुव है। यदि ये विशेषण द्रव्यदृष्टि से अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा या द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा कहे जायें तो सम्यक्-एकान्त होगा तथा द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा न लगाई जाए तो वस्तु को सर्वथा एक, अभेद, नित्य मानने का प्रसंग आएगा और अनित्यादि धर्मों के निषेध होने का प्रसंग आ जाने से वह कथन मिथ्या-एकान्त या नयाभास कहलाएगा।

इसीप्रकार आत्मा को अनेक, अनित्य तथा भेदरूप कहना, पर्याय की अपेक्षा अर्थात् पर्याय को मुख्य करके ही सम्भव है; अन्यथा द्रव्यस्वभाव का लोप हो जाने से आत्मा को सर्वथा अनित्य माना जाएगा, जिससे मिथ्या-एकान्त या नयाभास का प्रसंग आएगा।

इसप्रकार किसी अपेक्षा से कहो या किसी धर्म को मुख्य करना कहो - एक ही बात है। इसमें दूसरी अपेक्षा की स्वीकृतिपूर्वक गौणता भी शामिल है। इसीलिए सापेक्षनय ही सम्यक् कहे गए हैं और निरपेक्षनय अर्थात् बिना अपेक्षा वस्तु को सर्वथा एक धर्मरूप कहनेवाले नय, मिथ्या और निरर्थक कहे गये हैं। मिथ्या नयों से वस्तु का यथार्थ निर्णय नहीं होता, इसलिए उन्हें दुर्नय और निरर्थक भी कहा जा सकता है।

प्रश्न – कुछ लोग कहते हैं कि अपेक्षा लगाकर वस्तु-स्वभाव को ढीला नहीं करना चाहिए?

उत्तर – इस कथन की भी अपेक्षा समझनी चाहिए। जो लोग आत्मा के त्रिकाली शुद्धस्वभाव को नहीं मानते तथा उसे सर्वथा अशुद्ध मानते हैं, वे कहते हैं कि "हाँ-हाँ, आत्मा शुद्ध तो है, पर यह निश्चयनय का कथन है। निश्चयनय से तो आत्मा शुद्ध है, पर व्यवहारनय से तो अशुद्ध है न! अभी हम उसे शुद्ध कैसे मान सकते हैं..." इत्यादि अनेक प्रकार से वे निश्चय से आत्मा को शुद्ध कहते हुए भी अभिप्राय में उसके शुद्धस्वभाव का निषेध ही करते हैं।

अपेक्षा लगाने का सम्यक् फल यह है कि वस्तु के उस पहलू को जानकर, हेय-उपादेय का यथार्थ निर्णय किया जाए, परन्तु बहुत से लोग ऐसा न करके मात्र बातों में ही अपेक्षा लगाकर, अपने विपरीत अभिप्राय की पुष्टि करते हैं, इसीलिए यह कहना भी उचित ही है कि अपेक्षा लगाकर वस्तु को ढीला नहीं करना चाहिए।

अपेक्षा का सम्यक् प्रयोग करने से वस्तु-स्वभाव ढीला नहीं होता। यदि हम कहेंगे कि आत्मा निरपेक्षरूप से शुद्ध है, उसे निश्चयनय से शुद्ध मत कहो तो ऐसा आत्मा की अशुद्धता के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि आत्मा निरपेक्षरूप से अशुद्ध है, वह व्यवहारनय या पर्यायार्थिकनय से अशुद्ध नहीं है; अतः अपेक्षा लगाने में ढीलापना नहीं, बल्कि वस्तु-व्यवस्था का सम्यक् प्रतिपादन है, सम्यग्ज्ञान की सुरक्षा है।

प्रश्न – यह भी कहा जाता है कि आत्मा निश्चयनय से शुद्ध नहीं है, वह तो स्वभाव से शुद्ध है – इस कथन का क्या आशय है?

उत्तर – निश्चयनय अर्थात् शुद्धस्वभाव को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय। निश्चयनय आत्मा को शुद्ध जानता है, शुद्ध करता नहीं है।

इसलिए कहा जाता है कि आत्मा, किसी नय अर्थात् जानने से शुद्ध नहीं है, शुद्ध तो वह अपने स्वभाव से ही है। अज्ञानी, शुद्धस्वभाव को नहीं जानते तो भी उनका त्रिकाली स्वभाव तो शुद्ध है ही। शुद्धस्वभाव को न जानने के कारण ही वे संसार में भ्रमण कर रहे हैं।

देखो! स्वभाव से शुद्ध कहने का आशय यह है कि स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध है; अतः इसमें भी अपेक्षा का मूक प्रयोग है। यदि अपने आत्मा को स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध न माना जाए तो सर्वथा शुद्ध मानने का प्रसंग आने से मिथ्या-एकान्त या नयाभास हो जाएगा।

इसप्रकार नय और अपेक्षा पर्यायवाची सिद्ध होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सापेक्षनय ही सम्यक् होते हैं, निरपेक्षनय नहीं।

इसप्रकार सात बिन्दुओं के माध्यम से नयों का सामान्य स्वरूप जानकर जिनवाणी का अभ्यास करना प्रत्येक आत्मार्थी के लिए श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. नयों की प्रमुख विशेषताएँ लिखते हुए उनका संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
2. निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय ही सम्यक् होते हैं – इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।
3. नय-प्रयोग से एकान्तवाद का नाश किसप्रकार होता है – स्पष्ट कीजिए।

3

नयों की प्रमाण से भिन्नता और अभिन्नता

पिछले अध्याय में नयों के स्वरूप की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि नय, प्रमाण द्वारा जानी गई वस्तु के किसी एक अंश को मुख्य करके, उस अपेक्षा से वस्तु को वैसी अर्थात् उस धर्ममय जानते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि नय और प्रमाण एक ही हैं या भिन्न-भिन्न? यद्यपि प्रमाण सकलादेशी और नय विकलादेशी कहे गये हैं; अतः दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न होने के कारण नय, प्रमाण से भिन्न हो जाते हैं, लेकिन प्रमाण से भिन्न होने से वे अप्रमाण सिद्ध होते हैं; अतः उनके द्वारा वस्तु का जानना भी अप्रमाण ठहरता है? और यदि नय अप्रमाणरूप नहीं हैं तो वे प्रमाणरूप ही हो जाते हैं तो उनके पृथक् कथन की क्या आवश्यकता है? प्रमाण से ही वस्तु का निर्णय क्यों नहीं हो सकता? अन्य दर्शनों में भी मात्र प्रमाण की ही चर्चा है। नयों की चर्चा तो मात्र जैनदर्शन में ही है, जिन्हें प्रमाणरूप मानने से वे अनावश्यक प्रतीत होते हैं?

श्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्दि ने इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि नय न तो प्रमाण हैं और न अप्रमाण, बल्कि वे ज्ञानात्मक होने से प्रमाण के एकदेश हैं।

प्रमाण का एकदेश, प्रमाण से सर्वथा अभिन्न नहीं है, इसलिए नय सर्वथा प्रमाणरूप नहीं हैं तथा सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं, इसलिए नय

सर्वथा अप्रमाणरूप नहीं हैं। देश और देशी अर्थात् अंश और अंशी में कथंचित् भेद माना जाता है; अतः नय प्रमाणैकदेश होने से कथंचित् प्रमाणरूप हैं और कथंचित् प्रमाण से भिन्न हैं।

प्रश्न – नय भी स्व-पर पदार्थों का निश्चय करते हैं, अतः स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् – परीक्षामुख में प्राप्त इस परिभाषा के अनुसार उन्हें प्रमाणरूप ही क्यों न माना जाए?

उत्तर – स्व-पर पदार्थों के भी एकदेश को जानना नय का लक्षण है तथा उनके सर्वदेश को जानना, प्रमाण का लक्षण है; अतः नयों को सर्वथा प्रमाणरूप मानना ठीक नहीं है।

श्लोकवार्तिक में इस प्रकरण को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि वस्तु का एकदेश, न तो वस्तु है और न अवस्तु। समुद्र की बूँद को सर्वथा समुद्र भी नहीं कह सकते और सर्वथा असमुद्र भी नहीं कह सकते। यदि एक बूँद को ही समुद्र मानें तो बहुत-से समुद्र हो जाएँगे – ऐसी स्थिति में एक अखण्ड समुद्र का क्या स्वरूप रहेगा? तथा एक बूँद को असमुद्र मानने पर समुद्र की सभी बूँदें असमुद्र हो जाएँगी तो समुद्र का अस्तित्व ही न रहेगा।

प्रश्न – यदि अंशी को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है तो अंश को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण क्यों न माना जाए?

उत्तर – अंशी या धर्मी प्रमाण का विषय नहीं, अपितु द्रव्यार्थिकनय का विषय है तथा वस्तु का एक अंश या धर्म पर्यायार्थिकनय का विषय है। इसप्रकार अंशी और अंश दोनों ही पृथक्-पृथक् नय के विषय हैं, जबकि दोनों को एक साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है।

प्रश्न – क्या अभेद वस्तु प्रमाण का विषय है और वस्तु के गुण-पर्यायरूप भेद, नय के विषय हैं?

उत्तर – जिसमें सभी भेद गौण हैं – ऐसा अभेद द्रव्यार्थिकनय का

विषय है, प्रमाण का नहीं। भेद और अभेद को एकसाथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। अभेद और भेद को पृथक्-पृथक् जानना नय है।[1]

वस्तुतः एक अखण्ड द्रव्य, व्यापक होने से वह अपने अनन्त गुण, धर्म, स्वभाव तथा त्रिकालवर्ती पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है। गुण, धर्म आदि द्रव्य के अंश तो हैं; परन्तु एक गुण, धर्म आदि ही सम्पूर्ण द्रव्य नहीं हो सकते।

काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत एक अखण्ड राष्ट्र है। एक-एक इंच भूमि में भारत व्याप्त है; परन्तु एक नगर ही भारत नहीं कहा जा सकता। यदि एक नगर को भारत माना जाए तो शेष सभी नगर, भारत से भिन्न होने से परदेश हो जाएँगे अथवा प्रत्येक नगर भारत कहलाएगा और एक अखण्ड भारत खण्ड-खण्डरूप हो जाएगा, लेकिन यदि एक नगर को भारत का अंश भी स्वीकार न किया जाए तो दूसरे नगर भी भारत नहीं कहे जा सकेंगे, अतः ऐसे भारत के सर्वथा लोप होने का प्रसंग आएगा।

इसप्रकार भारत देश के एक नगर की भाँति, नय और प्रमाण की विषयभूत वस्तु भी परस्पर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न समझनी चाहिए अर्थात् वस्तु के गुण-पर्यायरूप अंशों को अखण्ड वस्तु से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न समझना चाहिए।

प्रश्न - अखण्ड द्रव्य को उसके गुण-पर्यायों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानने से क्या लाभ है?

उत्तर - अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त - ऐसे निजपद की प्राप्ति के अलावा अन्य किसीप्रकार से कार्यकारी नहीं है। अखण्ड वस्तु को उसके गुण-पर्यायों से कथंचित् अभिन्न स्वीकार करने से शुद्धनय के विषयभूत अभेद द्रव्य की सिद्धि होती है तथा कथंचित् भिन्न मानने से

1. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नय-विवरण, श्लोक 4 से 9

गुण-पर्यायरूप प्रत्येक अंश का भी स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। इसप्रकार अभेद और भेद, दोनों को परस्पर मुख्य-गौणभाव से जानने पर सम्यक्-एकान्त की तथा दोनों को प्रधानरूप से जानने पर सम्यक्-अनेकान्त की सिद्धि होती है।

भेद और अभेद के सम्यक्-एकान्त को स्वीकार न किया जाए तो सम्यक्-एकान्त के बिना अनेकान्त अर्थात् प्रमाण की विषयभूत वस्तु भी सम्यक् अनेकान्तरूप नहीं होकर सर्वथा अनेकान्तरूप हो जाएगी, जिससे मिथ्या एकान्त का ही प्रसंग आएगा।

सोने की अँगूठी को सर्वथा स्वर्ण मानने पर अँगूठी के लोप होने का तथा सर्वथा अँगूठी मानने पर स्वर्ण के ही लोप होने का प्रसंग आएगा; अतः उसे कथंचित् स्वर्णरूप और कथंचित् अँगूठीरूप तथा प्रमाण-विवक्षा में सोने की अँगूठी ऐसे दोनों रूप स्वीकार करना चाहिए।

प्रमाण और नय की भिन्नता स्पष्ट करते हुए धवलाकार[1] लिखते हैं -

प्रमाण, नय नहीं हो सकता; क्योंकि उसका विषय अनेकान्त अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु है और न ही नय, प्रमाण हो सकता है; क्योंकि उसका विषय एकान्त अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु का एक अंश है।

आचार्य अकलंकदेव भी नय को सम्यक्-एकान्त और प्रमाण को सम्यक्-अनेकान्त घोषित करते हुए लिखते हैं - **नय-विवक्षा, वस्तु के एक धर्म का निश्चय करानेवाली होने से एकान्त है और प्रमाण-विवक्षा वस्तु के अनेक धर्मों की निश्चयस्वरूप होने से अनेकान्त है।**[2]

नय वाक्यों में स्यात् शब्द लगाकर बोलने को प्रमाण कहते हैं।

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 516
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 6

अस्तित्वादि जितने भी वस्तु के निजस्वभाव हैं, उन सबको अथवा विरोधी धर्मों को युगपत् ग्रहण करनेवाला प्रमाण है और उन्हें गौण-मुख्यभाव से ग्रहण करनेवाला नय है।

वस्तु के अवक्तव्यपने और वक्तव्यपने को नय-प्रमाण की भाषा में प्रस्तुत करते हुए पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, गाथा 747-748 में लिखा है -

तत्त्व, अनिर्वचनीय है - यह शुद्ध द्रव्यार्थिक य का पक्ष है। द्रव्य, गुण-पर्यायवान है - यह पर्यायार्थिकनय का पक्ष है और जो यह अनिर्वचनीय है, वही गुण-पर्यायवान है, कोई अन्य नहीं और जो यह गुण-पर्यायवान है, वही तत्त्व है - ऐसा प्रमाण का पक्ष है।

ऐसे ही प्रयोग शुद्ध-अशुद्ध, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि धर्म-युगलों पर भी किये जाने चाहिए। जैसे, जीव सिद्ध समान शुद्धस्वभावी है - यह द्रव्यार्थिकनय का पक्ष है। जीव संसारी है - यह पर्यायार्थिकनय का पक्ष है। जो यह संसारी जीव है, वही सिद्ध समान शुद्धस्वभाववाला है और जो यह सिद्ध समान शुद्धस्वभाववाला जीव है, वह संसारी है - ऐसा प्रमाण का पक्ष है।

इसप्रकार दोनों धर्मों को जानकर ही वर्तमान पर्याय से दृष्टि हटाकर शुद्धस्वभाव का अवलम्बन किया जा सकता है; अतः आत्महित के लिए नयों को अप्रामाणिक न मानकर प्रमाण का अंश स्वीकार करते हुए जिनागम के अभ्यास द्वारा प्रमाण और नय से वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. नय, प्रमाण से भिन्न हैं या अभिन्न? दोनों अपेक्षाएँ स्पष्ट कीजिए।
2. अभेद वस्तु अथवा धर्मी प्रमाण का विषय है या नय का? स्पष्ट कीजिए।

4

नयों के मूल भेद

नयों की उपयोगिता, स्वरूप और प्रामाणिकता पर विचार करने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नय कितने प्रकार के हैं अर्थात् उसके कितने भेद हैं?

जिनागम में नयों के भेदों की चर्चा भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। मुख्यतया नयों के भेद निम्नानुसार उपलब्ध होते हैं -

(अ) निश्चयनय-व्यवहारनय

(ब) द्रव्यार्थिकनय-पर्यायार्थिकनय

(स) नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय

(द) शब्दनय, अर्थनय और ज्ञाननय

(क) द्रव्यनय और भावनय

(ख) प्रवचनसार में वर्णित सैंतालीस नय

इनके अलावा श्लोकवार्तिक के नय-विवरण में श्लोक 17 से 19 तक आचार्य विद्यानन्दिजी लिखते हैं कि नय, सामान्य से एक, विशेष में - संक्षेप से दो, विस्तार से सात और अति विस्तार से संख्यात भेदवाले हैं। इसीप्रकार धवला में असंख्यात भेद और सर्वार्थसिद्धि एवं प्रवचनसार में नयों के अनन्त भेद भी कहे गये हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ होती हैं; अतः प्रत्येक शक्ति को जाननेवाले ज्ञान की

अपेक्षा नय के अनन्त भेद भी माने जा सकते हैं। इसीप्रकार उक्त भेदों के अनेक प्रभेद भी किये गये हैं।

इसप्रकार नयों के भेद-प्रभेदों की चर्चा बहुत विस्तार से उपलब्ध होती है; लेकिन अब प्रश्न उठता है कि नयों के मूल भेद कितने और कौन-से हैं? इसके सम्बन्ध में द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों को नयों के मूलभेद के रूप में बताते हुए कहा गया है -

णिच्छयववहारणया, मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ, पज्जयदव्वत्थियं मुणह।।182।।

सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहार - ये दो नय हैं तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक ये दोनों नय, निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।

उक्त गाथा का द्वितीय अर्थ इसप्रकार भी किया गया है -

नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार - ये दो भेद माने गये हैं। उसमें निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है - ऐसा समझना चाहिए। उक्त गाथा में निश्चय-व्यवहार को मूलनय बताते हुए द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को उनका हेतु कहा गया है, जबकि उसके तत्काल बाद द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को ही मूलनय बतानेवाली वह गाथा इसप्रकार है -

दो चेव य मूलणया, भणिया दव्वत्थपज्जयत्थगया।
अण्णे असंखसंखा, ते तब्भेया मुणेयव्वा।।183।।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक - ये दो ही मूलनय कहे गये हैं। अन्य असंख्यात-संख्यात आदि को लिये हुए इनके भेद जानने चाहिए।

इसप्रकार दो लगातार गाथाओं में निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक - इन दोनों जोड़ों को मूलनय कहा गया है। इस

सन्दर्भ में निम्न प्रश्न सहज ही उत्पन्न होते हैं –

1. क्या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार पर्यायवाची हैं?
2. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार में क्या अन्तर है?
3. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहने का क्या आशय है?

यहाँ इन्हीं प्रश्नों पर क्रमशः विचार किया जाता है –

1. क्या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार पर्यायवाची हैं?

पंचाध्यायीकार पाण्डे राजमलजी तो स्पष्ट लिखते हैं – "पर्यायार्थिक कहो या व्यवहारनय – इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचार मात्र है।"[1] जबकि द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 182 का द्वितीय अर्थ करते हुए निश्चयनय को द्रव्याश्रित और व्यवहारनय को पर्यायाश्रित कहा गया है।

वस्तुतः द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्यांश, निश्चयनय का विषय भी बनता है तथा पर्यायार्थिकनय का विषयभूत पर्यायांश, व्यवहारनय का विषय भी बनता है, इसलिए निश्चयनय और द्रव्यार्थिकनय तथा व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय में अतिनिकटता भासित होने से इन्हें पर्यायवाची समझ लिया जाता है, लेकिन यदि ये दोनों जोड़े सर्वथा पर्यायवाची होते तो जिनागम में इन्हें अलग-अलग क्यों कहा जाता? तथा इनके भेद-प्रभेद तो बिलकुल अलग शैली में ही किये गये हैं, अतः इनमें अतिनिकटता भासित होने पर भी इन्हें पर्यायवाची नहीं माना जा सकता।

समयसार की गाथा 8 से 12 में व्यवहारनय को निश्चयनय का प्रतिपादक कहकर भी व्यवहार को अभूतार्थ एवं निश्चय को भूतार्थ कहा गया है तथा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए भूतार्थ का आश्रय

1. पंचाध्यायी, अध्याय 1, श्लोक 521

करने की प्रेरणा देते हुए व्यवहार को मात्र जाना हुआ प्रयोजनवान कहा गया है, जबकि समयसार की ही 13वीं गाथा की टीका में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक - इन दोनों नयों को भेद की अपेक्षा भूतार्थ और अभेद निर्विकल्प अनुभूति की अपेक्षा अभूतार्थ कहा गया है।

यह तथ्य भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि समयसार में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों की चर्चा बहुत कम आई है; जबकि निश्चय-व्यवहार की चर्चा मूल ग्रन्थ में, टीका में तथा भावार्थ में बहुत की गई है।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये दोनों जोड़े जिनागम की दो प्रकार की कथन शैलियों के भेद हैं। अध्यात्म-पद्धति में मुख्यतः निश्चय-व्यवहार की शैली का और आगम-पद्धति में मुख्यतः द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की शैली का प्रयोग देखा जाता है; अतः इन दोनों शैलियों को एक-दूसरे में मिलाकर देखने के बदले इन्हें पृथक्-पृथक् सन्दर्भ में देखना चाहिए।

2. निश्चय-व्यवहारनय और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय में क्या अन्तर है?

उक्त दोनों शैलियों में समानता होने पर भी जिनागम में उपलब्ध इनके प्रयोगों के आधार पर निम्नलिखित अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं -

निश्चय-व्यवहारनय	द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय
1. निश्चय-व्यवहार प्रयोजन-परक नय हैं।	1. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक वस्तु-परक नय हैं।
2. निश्यय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक तथा व्यवहार-निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध कहा गया है।	2. इनमें इसप्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं कहा गया है।

3. निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहा गया है।	3. दोनों को ही भेद अपेक्षा भूतार्थ और अभेद अनुभूति की अपेक्षा अभूतार्थ कहा गया है।
4. निश्चय को उपादेय और व्यवहार को हेय कहा गया है।	4. दोनों नयों की विषय-वस्तु को मुख्यतया ज्ञेय कहा गया है, क्योंकि आगम शैली में मुख्यतया ज्ञेयतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है।
5. इनके भेद-प्रभेद, शुद्ध-अशुद्ध या सद्‌भूत-असद्‌भूत तथा उपचरित-अनुपचरित के रूप में किये गये हैं।	5. द्रव्यार्थिक नय के दश और पर्यायार्थिक नय के छह भेद अलग प्रकार से किये गये हैं।
6. निश्चय-व्यवहारनय मुख्यतः आत्मा पर लागू होते हैं।	6. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय छहों द्रव्यों पर लागू होते हैं।
7. इनका प्रयोग मुख्यतया अध्यात्म शैली में किया जाता है।	7. इनका प्रयोग मुख्यतया आगम शैली में किया जाता है।
8. निश्चय-व्यवहार का मुख्यतः सम्बन्ध वस्तु के अंशों/धर्मों से न होकर उसकी निरूपण-पद्धति से है।	8. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक का सम्बन्ध वस्तु के दो मूल अंश द्रव्य-पर्याय से है।
9. निश्चय-व्यवहार शैली में संयोग सम्बन्धों की चर्चा भी होती है।	9. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक में मुख्यतया एक ही वस्तु की चर्चा होती है।

3. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय निश्चय-व्यवहारनयों के हेतु किसप्रकार हैं?

द्रव्यार्थिकनय की विषय-वस्तु में निश्चय और व्यवहार, दोनों नय

घटित होते हैं तथा इसीप्रकार पर्यायार्थिकनय की विषय-वस्तु में भी निश्चय-व्यवहार, दोनों नय घटित होते हैं; अतः निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का हेतु द्रव्यार्थिकनय भी है और पर्यायार्थिकनय भी है। निश्चय का हेतु मात्र द्रव्यार्थिकनय और व्यवहारनय का हेतु मात्र पर्यायार्थिकनय हो - ऐसा सर्वथा नहीं है।

यथार्थ निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहा गया है। यहाँ भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के विषय का निरूपण, यथार्थ और उपचरित दोनों रूपों में होता है अर्थात् द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय - इन दोनों पर निश्चय और व्यवहारनयों का प्रयोग किया जाता है, अतः द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, दोनों नयों को निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का हेतु अथवा आधार कहा गया है।

द्रव्यार्थिकनय के विषय में निश्चयनय के प्रयोग -

1. परमभावग्राही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत अखण्ड निर्विकल्प आत्मस्वभाव को ही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय कहा गया है।

2. शुद्धद्रव्यार्थिकनय के तीनों भेदों का विषय भी परमशुद्ध-निश्चयनय का विषय है।

3. कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय की विषयभूत जीव की विकारी पर्यायें, अशुद्धनिश्चयनय का विषय हैं।

द्रव्यार्थिकनय के विषय में व्यवहारनय के प्रयोग -

1. द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सामान्य, अभेद, नित्य और एक - ऐसे विशेषणों से भेद करना, अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

2. अखण्ड द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य/द्रव्य-पर्याय का भेद करना, पर्यायार्थिक तथा अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

3. अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयभूत भेद-कल्पना, उत्पाद-व्यय तथा कर्मोपाधि में से दृष्टि हटाने के लिए ही उन्हें गौण करके व्यवहारनय का विषय कहा जाता है।

पर्यायार्थिकनय के विषय में निश्चयनय के प्रयोग –

किसी भी पर्याय के स्व-स्वामी, कर्ता-कर्म आदि का यथार्थ अथवा स्वाश्रित निरूपण, निश्चयनय का विषय कहा जाता है। जैसे,

अ. निश्चय से रागादि भावों का कर्ता आत्मा स्वयं है।

ब. निश्चय से शुभभाव बन्ध का कारण है।

स. निश्चय से शरीरादि पर-पदार्थों की क्रिया का कर्ता पुद्गल द्रव्य ही है।

पर्यायार्थिकनय के विषय में व्यवहारनय के प्रयोग –

अ. व्यवहार से रागादिभावों का कर्ता द्रव्यकर्म या नोकर्म है।

ब. व्यवहार से शुभराग, मुक्ति का मार्ग है।

स. व्यवहार से शरीरादि पर-पदार्थों की क्रिया का कर्ता आत्मा है।

द. अखण्ड वस्तु में किसी भी प्रकार का भेद करना, सद्भूत-व्यवहारनय का विषय भी है और पर्यायार्थिकनय का विषय भी है।

इसप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों की विषयभूत वस्तु का कथन, निश्चय-व्यवहारनयों की शैली में भी उपलब्ध होता है; अतः निश्चय-व्यवहारनयों की आधारभूमि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय होने से ये उनके हेतु कहे जाते हैं।

उक्त कथन में यह आशय भी गर्भित है कि **आगम अध्यात्म का हेतु है, क्योंकि आत्मा का साक्षात् हितकारी तो अध्यात्म ही है तथा आगम, अध्यात्म का आधार है, कारण है या साधन है; अतः**

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार, इन दोनों युगलों को, नयों के मूल भेद मानकर भी अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि नयों के मूल भेद निश्चय-व्यवहार ही हैं, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तो उनके हेतु होने से उन्हें भी मूल नय कहा गया है।

अभ्यास-प्रश्न

1. नयों के भेद कितने-कितने प्रकारों से किये गये हैं?
2. मूलनय कितने हैं? दोनों विवक्षाओं को स्पष्ट कीजिए।
3. निश्चय-व्यवहारनय और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों के अन्तर को चार्ट द्वारा समझाइए।
4. 'अध्यात्म का हेतु आगम है' - इस वचन को सिद्ध कीजिए।
5. निश्चय और व्यवहार - दोनों नयों के पृथक्-पृथक् हेतु द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक - दोनों नय किस प्रकार हैं?

दोनों नय में जो विरोध है, उसे नष्ट करने वाले।
स्यात्कार पद से चिर अंकित, जिन-वच में रमनेवाले।।
स्वयं मोह का वमन करें जो कुनय पक्ष कर सके न खण्ड।
परम ज्योतिमय समयसार को, शीघ्र लखें वे पुरुष प्रचण्ड।।

- समयसार कलश, 4

5

निश्चयनय और व्यवहारनय

नयों के मूलभेद निश्चय-व्यवहार हैं - ऐसा निष्कर्ष प्रतिफलित होने के बाद इनके विषय में विस्तार से चर्चा करने का समय आ गया है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा उद्घाटित तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार के कारण दिगम्बर जैन समाज में निश्चय-व्यवहार की चर्चा भी बहुत होने लगी है; परन्तु अभी भी इनके स्वरूप, प्रयोग और प्रयोजन के बारे में गहन और व्यवस्थित चिन्तन के अभाव में अनेक भ्रान्तियाँ विद्यमान हैं, जिससे संघर्ष और वैमनस्य भी होता रहता है। यहाँ तक कि श्रावक, विद्वान और अनेक साधु-सन्त भी निश्चयवाले और व्यवहारवाले कहे जाते हैं।

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा **आत्मधर्म** एवं **वीतराग-विज्ञान** मासिक पत्रिका में लिखे गये सम्पादकीय लेखों में तथा इनके संकलनस्वरूप **परमभावप्रकाशक नयचक्र** जैसी कृतियों में किये गये सन्तुलित विवेचन से यद्यपि वर्तमान में अनेक भ्रान्तियाँ प्रक्षालित होने लगी हैं, तथापि निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में और अधिक स्पष्ट, व्यवस्थित और गहन विवेचन की आवश्यकता प्रतीत होती है, ताकि सामाजिक शान्ति के साथ-साथ आत्मकल्याण की दिशा में भी प्रयास वृद्धिंगत हो सके; अतः निम्नलिखित छह बिन्दुओं के आधार से निश्चय-व्यवहार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं -

1. परिभाषा एवं विषय-वस्तु

2. निश्चय-व्यवहार की भूतार्थता और अभूतार्थता

3. निश्चय-व्यवहार में परस्पर विरोध और अविरोध

4. निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध

5. व्यवहार-निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध

6. व्यवहार-निश्चय में हेय-उपादेयपना।

1. परिभाषा एवं विषय-वस्तु

निश्चय-व्यवहार की परिभाषा अथवा विषय-वस्तु को श्री समयसार, गाथा 27 एवं 7 के आधार पर बहुत सरलता से समझा जा सकता है।

क. दो द्रव्यों की एकता और अनेकता को आधार बनाकर क्रमशः व्यवहारनय और निश्चयनय को इसप्रकार परिभाषित किया गया है -

ववहारणओ भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदा वि एक्कट्ठो।।27।।

व्यवहारनय कहता है कि जीव और देह एक ही हैं और निश्चयनय कहता है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते।

इस गाथा के अनुसार जीव और शरीर के संयोग की मुख्यता से उन्हें एक कहना, व्यवहारनय का कार्य है तथा स्वभाव की मुख्यता से उन्हें भिन्न-भिन्न कहना, निश्चयनय का कार्य है।

इसप्रकार दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एकता स्थापित करना, व्यवहारनय का कार्य है। इसी एकता के आधार पर व्यवहारनय उनमें कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य आदि सम्बन्ध भी बताता है। इसके विपरीत

निश्चयनय, दो भिन्न वस्तुओं में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का निषेध करके उन्हें अत्यन्त भिन्न बताता है। अतः दो भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध देखना व्यवहारनय का कार्य है और उन्हें भिन्न-भिन्न देखना, निश्चयनय का कार्य है।

ख. एक द्रव्य में गुणों के भेद और गुणों के अभेद को आधार बना कर व्यवहार-निश्चयनय की परिभाषा निम्नप्रकार है -

समयसार की ही सातवीं गाथा में एक अखण्ड वस्तु में ही कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य आदि का भेद करना, व्यवहारनय का कार्य कहा गया है तथा इस भेद का निषेध करके वस्तु को अभेद अखण्ड निर्विकल्परूप में देखना, निश्चयनय का कार्य कहा गया है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ववहारेणुवदिस्सदि, णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं, ण दसणं जाणगो सुद्धो।।7।।

ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र, दर्शन और ज्ञान - ये तीन भाव व्यवहार से कहे गये हैं, निश्चय से उसका ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

यहाँ व्यवहारनय ने एक अखण्ड आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद करके समझाया है; किन्तु निश्चयनय ने सब भेदों का निषेध करके आत्मा को अभेद, ज्ञायकरूप कहा है।

अभेद वस्तु में भेद करके कहना, व्यवहारनय है तथा भेद का निषेध करके अभेद वस्तु को बताना, निश्चयनय है - इस आशय के कथन माइल्लधवल कृत द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, आलाप-पद्धति, अनगार धर्मामृत, पंचाध्यायी, तत्त्वानुशासन, मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।[1]

1. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 39

ग. आचार्य अमृतचन्द्रदेव समयसार, गाथा 272 की आत्मख्याति टीका में **आत्माश्रित कथन को निश्चयनय** और **पराश्रित कथन को व्यवहारनय** कहते हैं।

घ. समयसार, गाथा 11 में **भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार** भी कहा गया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के सातवें अधिकार में दो वस्तुओं में सम्बन्ध को आधार बनाकर, निश्चय-व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए निम्न निष्कर्ष निकाले हैं –

1. सच्चे निरूपण को निश्चयनय और उपचरित निरूपण को व्यवहारनय कहते हैं।

2. एक ही द्रव्य के भाव को उसरूप ही कहना, निश्चयनय है और उसी भाव को उपचार से अन्य द्रव्यों के भावस्वरूप कहना, व्यवहारनय है।

3. जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उसी की कहना, निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहना, व्यवहारनय है।

4. व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए उसका त्याग करना तथा निश्चयनय, उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना।

उक्त **चार बिन्दुओं** को विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से इसप्रकार समझा जा सकता है –

1. आत्मा को ज्ञानस्वभावी कहना निश्चयनय और मनुष्य-देव आदिरूप कहना व्यवहारनय है।

2. मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना, निश्चयनय और घी के संयोग की अपेक्षा उसे घी का घड़ा कहना व्यवहारनय है।

3. बोलना, चलना, खाना-पीना आदि पौद्‌गलिक क्रियाओं को पुद्‌गल की क्रिया कहना, निश्चयनय है और जीव के भावों के निमित्त की अपेक्षा उन्हें जीव की क्रिया कहना, व्यवहारनय है।

4. (अ) आत्मा को मनुष्य, देवादिरूप अथवा मनुष्य, देवादि के शरीर को पंचेन्द्रिय जीव कहना - यह स्वद्रव्य-परद्रव्य के सम्बन्ध में किसी को किसी में मिलाकर किया गया कथन होने से व्यवहारनय का कथन है।

(ब) आत्मा को गोरा-काला, दुबला-मोटा, सुन्दर-कुरूप आदि कहना तथा आँख को देखनेवाली, कान को सुननेवाला, जिह्वा को चखनेवाली, नाक को सूँघनेवाली आदि कहना - यह स्व-पर के भावों के सम्बन्ध में किसी को किसी में मिलाकर किया गया कथन होने से व्यवहारनय का कथन है।

(स) पुस्तक, चश्मा, प्रकाश और नेत्रादि से ज्ञान की उत्पत्ति कहना तथा खाने-पीने, बोलने-चलने आदि शरीर की क्रिया का कर्ता आत्मा को कहना - यह स्व-पर के कारण-कार्यादि के सम्बन्ध में किसी को किसी में मिलाकर किया गया कथन होने से व्यवहारनय का कथन है।

उक्त तीनों कथनों का निषेध करके आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न कहना तथा उन्हें अपने-अपने भावों का कर्ता कहना निश्चयनय का कथन है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि पण्डित टोडरमलजी ने व्यवहारनय के बारे में लिखा है - **ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिए इसका त्याग करना** तथा निश्चयनय के बारे में लिखा है - **ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व है, इसलिए इसका श्रद्धान करना।**[1]

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 257

अतः यह स्पष्ट है कि स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को मिलाकर निरूपण करना व्यवहारनय है, लेकिन उन्हें मिला हुआ मान लेना, मिथ्यात्व है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय की पद्धति से कथन करने में मिथ्यात्व नहीं है, विपरीत मान्यता में मिथ्यात्व है तथा यहाँ विपरीत मान्यता को व्यवहारनय नहीं कहा जा रहा है, मात्र संयोगादि की अपेक्षा निरूपण करने को व्यवहारनय कहा जा रहा है।

प्रश्न – स्वद्रव्य-परद्रव्यादिक को मिलाकर कहने में मिथ्यात्व नहीं है तो वैसा मानने में मिथ्यात्व क्यों है? और यदि स्व-पर को एक मानने में मिथ्यात्व है तो वैसा कहना असत्य क्यों नहीं है?

उत्तर – मान्यता अर्थात् श्रद्धान का विषय तो वस्तु-स्वरूप है; अतः स्वद्रव्य-परद्रव्य भिन्न-भिन्न होने पर भी उन्हें एक मानना, वस्तु-स्वरूप का विपरीत श्रद्धान होने से मिथ्यात्व होता है। विचार कीजिए कि स्वद्रव्य-परद्रव्य को मिलाकर कहने के बावजूद भी वैसा माना नहीं जाता; अपितु संयोग, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आदि का ज्ञान करने के प्रयोजन से उन्हें मिलाकर कहा जाता है; अतः ऐसा कहने में व्यवहारनय घटित होता है।

प्रश्न – जब दो द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं तो मिलाकर कहने का प्रयोजन क्या है तथा मिला हुआ नहीं मानने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर – अनेक वस्तुओं को मिलाकर कथन करने का प्रयोजन लोक-व्यवहार चलाना होता है, आत्मानुभूति करना नहीं; लोक-व्यवहार ऐसे ही चलता है, इसलिए वैसा कथन करना, व्यवहारनय से मान्य किया गया है, लेकिन मान्यता से लोक-व्यवहार सीधा प्रभावित नहीं होता, अपितु हमारी अनुभूति प्रभावित होती है। अतः दो द्रव्यों को

एक मानना मिथ्या है, जो कि अनन्त संसार का कारण है और उन्हें भिन्न-भिन्न जानना सम्यक् है, जो कि मुक्ति का कारण है।

प्रश्न – यदि व्यवहारनय कथन में ही है, मान्यता में नहीं तो निश्चयनय के भी कथन होते हैं या नहीं और व्यवहारनय के बारे में मान्यता होती है या नहीं?

उत्तर – पाण्डे राजमलजी, समयसार के पाँचवें कलश की टीका में कहते हैं कि जो कुछ कथन मात्र है सो व्यवहार है; परन्तु यह बात अभेद निर्विकल्प वस्तु और उसकी निर्विकल्प अनुभूति को ध्यान में रखकर कही गई है, लेकिन अभेद में भेद किए बिना उसका कथन नहीं हो सकता, अतः अभेद वस्तु में भेद करके जानना और कहना, व्यवहारनय कहा गया है। इसका आशय यह नहीं है कि निश्चयनय के कथन होते ही नहीं। **यथार्थ निरूपण सो निश्चय** और **स्वाश्रितो निश्चयः** – इन परिभाषाओं में तो निरूपण में ही निश्चयनय घटित किया गया है।

इसीप्रकार मान्यता में केवल निश्चय होता है – ऐसा भी नहीं है। पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 250 पर उभयाभासी प्रकरण में लिखते हैं कि **निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है; क्योंकि एक ही नय का श्रद्धान करने से मिथ्यात्व होता है।**

वास्तव में मान्यता तो मिथ्या या सम्यक् होती है; निश्चय-व्यवहाररूप नहीं; क्योंकि मान्यता, प्रतीति या श्रद्धानरूप होती है, इसीलिए वह निर्विकल्प होती है। निश्चय-व्यवहारनय श्रुतज्ञान के भेद हैं; अतः ये वस्तु को जानने में या वाणी द्वारा कहने में घटित होते हैं। फिर भी अनेक जगह मानने और जानने में भेद न करके जानने के अर्थ

में मानना या श्रद्धान शब्द का प्रयोग भी कर दिया जाता है।

वस्तुतः व्यवहारनय के कथन को वस्तु का सच्चा स्वरूप न जानकर, संयोगादि की अपेक्षा किया गया कथन जानना यथार्थ है; अर्थात् संयोग को संयोग जानना, विकार को विकार जानना, भेद को भेद जानना तथा वस्तु को अभेद अखण्ड निर्विकल्परूप जानना, यथार्थ निरूपण होने से निश्चयनय है और असंयोगी/अविकारी, अभेद वस्तु को संयोगी, विकारी और भेदरूप जानना/कहना व्यवहारनय है।

इसप्रकार यथार्थ निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार – इस परिभाषा को विस्तार और गहराई से समझना चाहिए।

उपर्युक्त परिभाषा में सर्वाधिक मार्मिक सन्देश यह है कि **किसी द्रव्य–भाव का नाम निश्चय और किसी द्रव्य–भाव का नाम व्यवहार – ऐसा नहीं है।**

निश्चय–व्यवहारनयों के प्रतिपादन का मूल सूत्र है – **वस्तु एक, निरूपण दो।** दो द्रव्यों को या उनके गुणों को या पर्यायों को किसी को निश्चय और किसी को व्यवहार नहीं कहा जाता।

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए पण्डितजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 249 पर लिखते हैं – **एक ही द्रव्य के भाव का उसस्वरूप निरूपण करना निश्चयनय है और उसी द्रव्य के भाव का अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना व्यवहारनय है। इसप्रकार निरूपण की अपेक्षा नय घटित होते हैं।**

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि निश्चय–व्यवहारनय, किसी द्रव्य, गुण या पर्याय का नाम या स्वरूप नहीं है; अपितु उनके यथार्थ या उपचरित निरूपण की पद्धति है। यहाँ विभिन्न नय–प्रयोगों से यही बात स्पष्ट की जा रही है :

उदाहरण	गलत मान्यता	सही मान्यता
घी का घड़ा	घी को निश्चय और घड़े को व्यवहार मानना अथवा घड़े को निश्चय और घी को व्यवहार मानना।	घड़ा — मिट्टी का कहना (यथार्थ निरूपण) / घी का कहना (उपचरित निरूपण)
मनुष्य जीव	जीव को निश्चय और शरीर को व्यवहार अथवा शरीर को निश्चय और जीव को व्यवहार समझना।	जीव — शरीर से भिन्न चैतन्य स्वरूप है। (यथार्थ निरूपण) / मनुष्य, देवादिरूप कहा गया है। (उपचरित निरूपण)
पंचेन्द्रिय जीव	पाँच इन्द्रियों को निश्चय या व्यवहार समझना।	शरीर/इन्द्रियाँ — पुद्गल कहना (यथार्थ निरूपण) / जीव कहना (उपचरित निरूपण)
वीतरागता ही मुक्ति का मार्ग है।	वीतराग पर्याय को निश्चय और व्रत-शील-संयम को व्यवहार मानना।	मोक्षमार्ग — वीतरागभाव (यथार्थ निरूपण) / व्रत-शील-संयम (उपचरित निरूपण)
मुझे बहुत क्रोध आता है।	मैं (आत्मा) को निश्चय और क्रोध को व्यवहार समझना।	क्रोध — आत्मा का विकारी परिणाम है। (यथार्थ निरूपण) / गाली सुनने से क्रोध आया। (उपचरित निरूपण)

इसप्रकार विभिन्न कथनों में यथार्थ व उपचरित निरूपण में निश्चय-व्यवहार घटित करना चाहिए। उपर्युक्त तालिका में दिये गये प्रयोगों के अतिरिक्त **'वस्तु एक, निरूपण दो'** - इस सूत्र को समझने के लिए निम्न प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं -

आत्मा

(यथार्थ निरूपण)	(उपचरित निरूपण)
चैतन्यस्वरूप है।	मनुष्य है।

सम्यग्दर्शन

(यथार्थ निरूपण)	(उपचरित निरूपण)
अ. पर से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।	अ. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और सात तत्त्व का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।
ब. जीव की निर्मल पर्याय होने से आत्मा उसका कर्ता है।	ब. कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से सम्यग्दर्शन होता है।
स. मुक्ति का मार्ग है।	स. देवायु के बन्ध का कारण है।

राग-द्वेषादि शुभाशुभ विकारी भाव

(यथार्थ निरूपण)	(उपचरित निरूपण)
अ. आत्मा स्वयं रागादि का कर्ता है।	अ. मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं।
ब. बन्ध का कारण है।	ब. ज्ञानी के शुभभाव पर मोक्षमार्ग का उपचार करके उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

प्रश्न – उक्त तालिका में रागादिभावों का कर्ता जीव को कहना यथार्थ निरूपण अर्थात् निश्चयनय का कथन बताया गया है, जबकि समयसार, गाथा 72 से 79 में राग को आत्मा से भिन्न तथा निश्चयनय से पुद्गल का कार्य कहा गया है तो निश्चय से रागादि का कर्ता जीव को माना जाए या पुद्गल को?

उत्तर – अध्यात्म ग्रन्थों में स्वभाव और विभाव में भेदज्ञान की मुख्यता से, रागादिभावों में अचेतनपना होने से तथा पुद्गल कर्म के उदय का निमित्तपना होने से, बाह्य-पदार्थों के लक्ष्य से होने के कारण तथा रागादि और जीव में तात्त्विक भेद होने से अर्थात् रागादिभाव आस्रव होने से उन्हें निश्चयनय से पुद्गल का कहा गया है; परन्तु जहाँ

दो द्रव्यों की स्वतन्त्रता बताने का प्रयोजन हो, वहाँ उन्हीं ग्रन्थों में आगम पद्धति को मुख्य करके उसे व्यवहार से पुद्गलकृत कहा गया है तथा उपादान की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय से जीव का कहा गया है।

इसप्रकार रागादिभावों में विभिन्न अपेक्षाओं से निम्नानुसार नय प्रयोगों द्वारा वीतरागता का ही पोषण किया गया है -

1. शुद्धनिश्चयनय से पुद्गलकृत हैं।
2. उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से जीवकृत हैं।
3. अशुद्धनिश्चयनय से जीवकृत हैं।
4. अनुपचरित-असद्भूव्यवहार नय से कर्मकृत हैं।

विशेष - प्रवचनसार, गाथा 189 की टीका में रागादिभावों का कर्ता जीव को कहना - शुद्ध द्रव्य का निरूपणात्मक निश्चयनय कहा गया है, क्योंकि रागादि के कर्तृत्व में केवल (शुद्धरूप से) आत्मा ही कारण है, अन्य नहीं; अतः उन्हें जीव शुद्धनय से जीव का कहा है।

प्रश्न - अभेद वस्तु में भेद करना व्यवहार कहा गया है तो क्या भेद को भी घी के घड़े के समान उपचरित मानना चाहिए?

उत्तर - आध्यात्मिक दृष्टि से पंचाध्यायी की शैली में अथवा दृष्टि के विषय की अपेक्षा भेद को भी उपचरित माना जा सकता है; परन्तु अभेद और भेद की चर्चा सद्भूतव्यवहारनय के प्रकरण में आती है। अध्यात्म-पद्धति में अभेद-अखण्ड वस्तु की दृष्टि से भेद भी उपचरित या कथन मात्र कहे जाते हैं। पाण्डे राजमलजी ने 252वें कलश की टीका में अभेद निर्विकल्प वस्तु को स्वद्रव्य तथा भेद को परद्रव्य कहा है। आगम-पद्धति से विचार किया जाए तो वस्तु में विद्यमान एक-अनेक, भेद-अभेद आदि सभी धर्म निश्चय से ही हैं; अतः अभेद वस्तु में गुण-गुणी आदि का भेद करना अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है और

रागादि कृत भेद करना उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है।

प्रश्न – स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः – यह परिभाषा कब और कैसे घटित होती है?

उत्तर – वस्तुतः किसी भी द्रव्य, गुण या पर्याय का उसके स्वरूप से ही कथन करना स्वाश्रित निरूपण है और यही यथार्थ निरूपण अर्थात् निश्चयनय है तथा उसका अन्य द्रव्य, उसके गुण या पर्याय से निरूपण करना पराश्रित निरूपण अर्थात् व्यवहारनय है।

यह भी विचित्र तथ्य है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल द्रव्य पूर्णतः शुद्ध, स्वतन्त्र और अखण्ड हैं; तथापि उनका निरूपण पराश्रित अर्थात् जीव और पुद्गलों की सापेक्षता से ही किया जाता है। जबकि जीव और पुद्गलों की पर्यायें शुद्ध-अशुद्ध, स्वाश्रित-पराश्रित और संयोगी-असंयोगी भी हैं; इसलिए इनका निरूपण स्वाश्रित और पराश्रित दोनों प्रकार से किया जाता है। जीव को चैतन्यगुण से तथा पुद्गल को स्पर्शादि गुणों से बताना, उनको स्वाश्रित निरूपण है तथा जीव-पुद्गल का परस्पर संयोगी कथन करना, पराश्रित निरूपण है।

अध्यात्म-पद्धति में अभेद निर्विकल्प द्रव्य को **स्व** एवं संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की दृष्टि से उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की भेद कल्पना को **पर** कहा जाता है; इसलिए निर्विकल्प वस्तु, स्वाश्रित अनुभूति का विषय बनती है तथा भेद से उसका विचार/कथन करना, पराश्रित या उपचरित कहा जाता है।

2. निश्चय-व्यवहारनय की भूतार्थता और अभूतार्थता

प्रश्न – जब वस्तु-स्वरूप को समझने में दोनों नयों की समान

उपयोगिता है तो समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ क्यों कहा गया है?

उत्तर – निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मतत्त्व के आश्रय अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि होती है, इसलिए निश्चयनय को भूतार्थ कहते हैं तथा व्यवहारनय के विषयभूत आत्मा के अवलम्बन से मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, इसलिए व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।

भूतार्थ का अर्थ विद्यमान और अभूतार्थ का अर्थ अविद्यमान भी होता है। निश्चयनय के विषयभूत आत्मा में अथवा त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में रंग-राग-भेद अविद्यमान हैं, इसलिए उन्हें विषय बनानेवाला व्यवहारनय अभूतार्थ कहा जाता है।

प्रश्न – क्या व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ है?

उत्तर – नहीं, शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय की अपेक्षा तथा मोक्षमार्ग की अपेक्षा व्यवहारनय को अभूतार्थ/असत्यार्थ कहा जाता है; अतः वह कथंचित् अभूतार्थ है, सर्वथा अभूतार्थ नहीं। व्यवहारनय की विषयभूत पर्यायें, शरीरादि संयोग भी विद्यमान हैं, उनका सर्वथा अभाव नहीं है; अतः व्यवहारनय भी कथंचित् सत्यार्थ है। यदि दृष्टि की अपेक्षा उसे कहीं सर्वथा असत्यार्थ भी कहा हो तो यह कथन भी दृष्टि की अपेक्षा सहित होने से कथंचित् असत्यार्थ ही समझना चाहिए, सर्वथा नहीं।

समयसार, गाथा 14 की टीका में पाँच बोलों द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाते हुए, व्यवहारनय को पाँच उदाहरणों से कथंचित् सत्यार्थ बताया है तथा उसे परमार्थ दृष्टि से अभूतार्थ भी कहा है।

आचार्य जयसेन भी समयसार की 11वीं गाथा का अर्थ करते हुए

द्वितीय व्याख्यान में व्यवहार को अभूतार्थ और भूतार्थ भी कहते हैं।

इस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेवश्री ने समयसार की 11वीं गाथा के प्रवचनों में विशेष स्पष्टीकरण किया है, जो प्रवचन रत्नाकर, भाग 1, पृष्ठ 147–148 पर पठनीय है।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि बहुत से लोग पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का सांगोपांग गहन अध्ययन किये बिना ही उन्हें एकान्ती, स्वच्छन्दी, निश्चयाभासी आदि समझ लेते हैं, लेकिन यदि उनके प्रवचनों का निष्पक्ष दृष्टि से गहन अध्ययन करें तो न केवल भ्रम निकल जाएगा, अपितु वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय करके मोक्षमार्ग की प्राप्ति का सम्यक् पुरुषार्थ भी कर सकेंगे।

प्रश्न – व्यवहारनय को सर्वथा सत्यार्थ मानने में क्या हानि है?

उत्तर – व्यवहारनय, जीव और शरीर को एक कहता है, आत्मा को रागादिरूप या गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि के भेदरूप कहता है। यदि व्यवहारनय को सर्वथा सत्यार्थ माना जाए तो जीव और शरीर को एक कहनेवाले कथन भी सत्यार्थ हो जाएँगे, जिससे मिथ्यात्व का पोषण होने का प्रसंग आएगा।

प्रश्न – व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ मानने में क्या हानि है?

उत्तर – नियमसार, गाथा 159 में केवली भगवान द्वारा लोकालोक को जानना, व्यवहारनय से कहा गया है। यदि व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माना जाए तो उनके द्वारा लोकालोक का ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता भी असत्यार्थ होगी; अर्थात् सर्वज्ञता के अभाव का प्रसंग आएगा तथा संसार और मोक्ष भी सिद्ध नहीं होंगे।

इसीप्रकार जीव और देह को एक कहना भी सर्वथा असत्यार्थ

माना जाए अर्थात् उन्हें संयोग की अपेक्षा भी एक न माना जाए तो भस्म को मसलने में हिंसा के अभाव के समान संसारी जीवों को मसलने में भी हिंसा का अभाव हो जाएगा; अतः व्यवहार को सर्वथा अत्यार्थ मानने पर हिंसा के पोषण का प्रसंग भी आएगा।

प्रश्न – केवली भगवान द्वारा लोकालोक को जानना व्यवहारनय से है – ऐसा कहने का क्या आशय है?

उत्तर – वास्तव में केवली भगवान, जैसे अपने आत्मा को तन्मय होकर जानते हैं; वैसे लोकालोक को तन्मयतापूर्वक नहीं जानते, इसलिए लोकालोक को जानना, व्यवहार कहा गया है। इसका यह आशय नहीं है कि भगवान के ज्ञान में लोकालोक सम्बन्धी ज्ञेयाकार परिणमन ही नहीं होता।

वस्तुतः ज्ञेयाकार परिणमन भी ज्ञान का ही परिणमन है, ज्ञेयों का नहीं; इसलिए ज्ञेयाकार परिणमन वास्तव में आत्मा ही होने से वह आत्मा को ही प्रकाशित करता है। इस अपेक्षा से ज्ञान में स्वयं ज्ञान अर्थात् आत्मा ही प्रकाशित होने से केवलज्ञान अपने को प्रकाशित करता है – यह कथन, ज्ञान का स्वाश्रित निरूपण होने से निश्चयनय का है। कहा भी है –

ज्ञेयाकार ज्ञान में भी कलाकार ज्ञान है[1]

अथवा

तुम्हारा चित् प्रकाश कैवल्य, कहें तुम ज्ञायक लोकालोक[2]

ज्ञान में बनते हुए ज्ञेयाकार प्रतिबिम्ब को ज्ञेय कहना, ज्ञान में ज्ञेय का उपचार करना ही है; अतः यह ज्ञान का पराश्रित निरूपण होने से उपचरित कथन हुआ कि – 'ज्ञान लोकालोक को जानता है।'

---

1. मुमुक्षु समाज में प्रचलित आध्यात्मिक गीत
2. बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत सिद्ध-पूजन

यदि ज्ञान में ज्ञेय झलकें ही नहीं अर्थात् ज्ञेयाकार परिणमन ही न हो तो लोकालोक का आरोप किस पर किया जाएगा? अतः ज्ञान का विशेष परिणमन तो यथार्थ ही है, परन्तु उसे ज्ञेय कहकर ज्ञान में लोकालोक झलकता है – ऐसा कहना उपचार है।

केवली भगवान निश्चयनय से आत्मा को जानते हैं और व्यवहारनय से लोकालोक को जानते हैं – *इस कथन के सन्दर्भ में यह बात गम्भीरता से विचारणीय है कि केवलज्ञान में तो नय ही नहीं होते तो फिर निश्चयनय या व्यवहारनय से जानते हैं – ऐसा कहने का क्या आशय है? वास्तव में हम अपने श्रुतज्ञान में केवलज्ञान का स्वरूप ऐसा जानें कि वह केवलज्ञान, अपने स्वरूप को ही प्रकाशित करता है तो हमने केवलज्ञान का स्वाश्रित स्वरूप जाना; यही हमारे श्रुतज्ञान में निश्चयनयरूप परिणमन है। इसीप्रकार यदि हम केवलज्ञान का स्वरूप, लोकालोक को जाननेवाला जानें तो यह उस केवलज्ञान का पराश्रित निरूपण होने से हमारे ज्ञान में व्यवहारनयरूप परिणमन है। इसप्रकार केवलज्ञान के सम्बन्ध में निश्चय–व्यवहारनय हमारे ज्ञान में होते हैं, केवलज्ञान में नहीं।*

3. निश्चय–व्यवहारनय में परस्पर विरोध और अविरोध

प्रश्न – निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश हैं तो फिर वे परस्पर विरोधी कथन क्यों करते हैं?

उत्तर – निश्चयनय और व्यवहारनय के कथन परस्पर विरोधी ही होते हैं। यदि दोनों एक ही प्रकार के कथन करें तो दो नय कहने की क्या जरूरत है? दोनों नय, एक ही वस्तु के भिन्न–भिन्न पहलुओं को बताते हैं, इसलिए उनमें भिन्नता और विरोध होना स्वाभाविक है; परन्तु उनमें विरोध होने पर भी वे दोनों मिलकर उसी वस्तु का स्वरूप बताते हैं –

यही उनका अविरोधपना है। इसलिए उनमें ३६ के आँकड़े जैसा विरोध न होकर ६३ के आँकड़े जैसा अविरोध समझना चाहिए अर्थात् दोनों नय, वस्तु-स्वरूप का निर्णय करने की प्रक्रिया के ही अंग हैं।

प्रत्येक नाटक में नायक और खलनायक का चरित्र परस्पर विरोधी दिखाया जाता है। रामलीला में रावण और राम का चरित्र परस्पर विरोधी होने पर भी रावण का चरित्र राम के व्यक्तित्व को उभारता है। यदि रावण का चरित्र रखा ही न जाए या रावण भी राम जैसी भाषा बोलने लगे तो रामलीला का क्या स्वरूप होगा? अतः रावण और राम, दोनों चरित्र मिलकर रामलीला का समग्र स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

हमारे गृहस्थ जीवन में भी पति-पत्नी का स्वभाव, उनके उत्तरदायित्व तथा कार्य भिन्न-भिन्न दिखते हैं। पति धन कमाने की तथा घर के बाहर की जिम्मेदारी सँभालता है तो पत्नी घर की व्यवस्था की जिम्मेदारी सँभालती है। दोनों के कार्य, परस्पर विरुद्ध दिखने पर भी एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, अपितु पूरक हैं, इसलिए उनका सम्बन्ध ३६ के अंक जैसा विरोधी न होकर ६३ के अंक जैसा अविरोधी समझना चाहिए।

व्यापार, खेल, राजनीति आदि जीवन के समस्त अंगों में यह विरोध और अविरोध अनिवार्य है, अन्यथा जीवन के ये महत्त्वपूर्ण कार्य व्यवस्थितरूप से सम्पन्न नहीं हो सकते।

हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ भी परस्पर विरोधी होने पर भी जीवन के लिए अनिवार्य हैं। पेट खाली होना और भरना, नींद लेना और नींद का त्याग करना अर्थात् जागना, श्वास लेना और छोड़ना आदि अनेक विरोधी कार्यकलाप हमारे जीवन को व्यवस्थितरूप से संचालित करते हैं।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार के कथनों में परस्पर विरोध होने पर भी उन्हें एक-दूसरे का पूरक समझना चाहिए।

4. निश्चय-व्यवहारनय में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध

आत्मानुभूति के प्रयोजन से निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहने से यह **प्रश्न** सहज उत्पन्न होता है कि यदि व्यवहार अभूतार्थ/असत्यार्थ है तो जिनागम में उसका कथन क्यों किया गया है? दो अत्यन्त भिन्न वस्तुओं को एक कहकर, उनमें अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना, एक अखण्ड वस्तु में भेद-कल्पना करना तथा व्रतादिरूप बाह्यक्रिया एवं शुभभाव को मोक्षमार्ग कहना तो ठीक नहीं लगता तो फिर जिनागम में ऐसे कथन क्यों किये गये और उन्हें व्यवहारनय कहकर जिनागम में स्थान क्यों दिया गया?

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 251 पर यही प्रश्न उठाकर उसके **समाधान** के लिए आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आठवीं गाथा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिसप्रकार अनार्य को अनार्य भाषा के बिना समझाया नहीं जा सकता; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का कथन नहीं हो सकता, इसलिए जिनागम में व्यवहार को स्थान दिया है तथा सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश माना गया है।

प्रश्न – परस्पर विरोधी कथन करनेवाले निश्चय-व्यवहारनय में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अभेद वस्तु में गुण-पर्याय का भेद करनेवाला व्यवहारनय, भेद का निषेध करनेवाले परमार्थ (निश्चयनय) का प्रतिपादन कैसे कर सकता है? इसीप्रकार देह और जीव को एक कहनेवाला व्यवहारनय, उन्हें अत्यन्त भिन्न कहनेवाले परमार्थ का प्रतिपादन कैसे कर सकता है? तथा शुभभाव को मुक्ति का कारण कहनेवाला व्यवहारनय, उसे बन्ध का कारण कहनेवाले परमार्थ का प्रतिपादक कैसे हो सकता है?

उत्तर – उक्त प्रश्न में व्यवहारनय और निश्चयनय के तीन विरोधी कथन प्रस्तुत किए गए हैं, जिनमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादकपना निम्नलिखित अनुसार समझा जा सकता है –

अ. व्यवहारनय अभेद वस्तु में गुण-पर्यायों के भेद करके भी उसी वस्तु को बताता है, जिसमें वे गुण-पर्यायें हैं अर्थात् वह भेद करके अभेद का प्रतिपादन करता है।

ब. व्यवहारनय, देह और जीव को एक कहकर भी मनुष्य-देह में रहनेवाले जीव को तथा जीव की संयोगी पर्याय को बताकर भी जीव का ही प्रतिपादन करता है।

स. इसीप्रकार व्यवहारनय, शुभभाव को मुक्ति का मार्ग कहकर भी उस शुभराग के साथ रहनेवाले वीतरागभाव का ज्ञान कराता है; क्योंकि वीतरागभाव के बिना मात्र शुभभाव और बाह्य-क्रिया को मोक्षमार्ग नहीं कहा जाता। वीतरागता के साथ होनेवाले शुभभाव और बाह्य-क्रिया को ही उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है, क्योंकि साधक दशा में होनेवाले वीतरागभाव को शुभ क्रियाओं के माध्यम से ही समझा जा सकता है, इसलिए शुभभाव के माध्यम से वीतरागी परिणति का ज्ञान कराया जाता है। इसप्रकार शुभभाव को मोक्षमार्ग कहकर वीतरागभाव का प्रतिपादन किया जाता है।

जहाँ व्यवहारनय से कथन किया गया हो, वहाँ 'ऐसा है नहीं निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से कथन किया गया है' – इसप्रकार व्यवहारनय का ग्रहण करना चाहिए – ऐसा निर्देश पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय 7, पृष्ठ 251 पर दिया है। इस पद्धति से अर्थ करने पर भी व्यवहार, परमार्थ का ही प्रतिपादन करता है।

निश्चय-व्यवहारनय के प्रयोगों का मर्म समझने के लिए निम्न चार बिन्दुओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए –

अ. प्रतिपादक वाक्य

ब. प्रतिपाद्य विषय

स. प्रतिपादन का सन्दर्भ (अपेक्षा)

द. प्रतिपादन का प्रयोजन

अ. प्रतिपादक वाक्य – इससे आशय जिनागम में उपलब्ध कथनों से है। सम्पूर्ण जिनागम में वस्तु-स्वरूप अथवा मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया गया है; अतः समग्र जिनागम में प्रतिपादक वाक्य ही हैं। जैसे, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा संसारी है, आत्मा देह से भिन्न है, अतः देहादि की क्रिया का कर्ता नहीं है अथवा आत्मा मनुष्य है, वह शरीरादि की क्रिया का कर्ता है....आदि सभी कथन प्रतिपादक वाक्य कहलाते हैं; क्योंकि वे किसी अपेक्षा से वस्तु-स्वरूप का ही कथन करते हैं।

ब. प्रतिपाद्य विषय – विभिन्न प्रकार के वचनों की वाच्यभूत वस्तु ही प्रतिपाद्य विषय है। यह जानना आवश्यक है कि यह बात किसके बारे में कही जा रही है, अन्यथा स्पष्ट निर्णय होने के बजाय संशय और विभ्रम खड़े हो जाएँगे।

जैसे, घी का घड़ा और **घड़े का घी** – ये दोनों कथन व्यवहारनय के हैं, परन्तु इनके प्रतिपाद्य विषयों में अन्तर है। **घी का घड़ा** कहने का आशय उस घड़े से है, जिसमें घी रखा है अर्थात् बात घड़े की ही है, घी की नहीं; अतः इस कथन का प्रतिपाद्य विषय घड़ा है, घी नहीं। इसीप्रकार **घड़े का घी** कहने का आशय उस घी से है, जो घड़े में रखा है अर्थात् बात उसके घी की है, घड़े की नहीं; अतः इस कथन का प्रतिपाद्य विषय घी है, घड़ा नहीं।

इस उदाहरण में दोनों वाक्य अलग-अलग हैं; परन्तु 'पंचेन्द्रिय-जीव' कहने में शरीर और जीव दोनों ही प्रतिपाद्य बिन्दु हो सकते हैं।

जीव को भी पाँच इन्द्रियवाले शरीर के संयोग की अपेक्षा पंचेन्द्रिय-जीव कहते हैं तथा पाँच इन्द्रियमय यह शरीर पौद्गलिक होने पर भी, जीव के संयोग की अपेक्षा उसे जीव कहा जाता है; अतः यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कब शरीर के संयोगवाले जीव का कथन है और कब जीव का संयोग होने से शरीर को जीव कहा गया है। समयसार गाथा 27 एवं 46 की टीका में जीव और देह दोनों को अर्थात् उनकी संयोगी पर्याय को व्यवहारनय से एक कहा गया है।

स. प्रतिपादन का सन्दर्भ – निश्चय-व्यवहारनय के प्रयोगों में यह जानना भी आवश्यक है कि इस कथन द्वारा स्व-पर की एकता, अथवा स्व-स्वामी सम्बन्ध की बात कही जा रही है या उनमें कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य या ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध की बात कही जा रही है। **मैंने क्रोध किया** – इस कथन में आत्मा को क्रोध का कर्ता कहा गया है। **मैं क्रोध से दुखी हुआ** – इस कथन में आत्मा को क्रोध का भोक्ता कहा गया है।

क्रोध परिणाम, स्वयं में निश्चय-व्यवहारनय कुछ नहीं है; परन्तु जब उसका जीव या पुद्गल के साथ एकत्व, कर्तृत्व या भोक्तृत्व बताया जाए, तब उसमें यथार्थ या उपचरित निरूपण की अपेक्षा निश्चय-व्यवहारनय घटित होंगे। पण्डित टोडरमलजी ने व्रत-शील-संयम को व्यवहार कहने का निषेध किया है, क्योंकि किसी द्रव्य-भाव को निश्चय और किसी को व्यवहार कहना ठीक नहीं; परन्तु मोक्षमार्ग के प्रसंग में व्रत-शील-संयम को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग प्ररूपित किया अर्थात् व्रत-शील-संयम को मोक्षमार्ग कहना, व्यवहारनय है – ऐसा कहा है।

द. प्रतिपादन का प्रयोजन – किसी भी अपेक्षा वस्तु का

निरूपण किया जाए, उसमें भेदज्ञान और वीतरागता के प्रयोजन की सिद्धि किसप्रकार हो रही है – यह जानना भी अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा यथार्थ तत्त्व-निर्णय और सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ नहीं हो पाएगा।

घी का घड़ा कहने का प्रयोजन घड़े में रखे हुए घी का ज्ञान कराना है। इसी प्रकार व्रत-शील-संयम को मोक्षमार्ग कहने का प्रयोजन, वे **मोक्षमार्ग के निमित्त व सहचारी हैं** – ऐसा ज्ञान कराना है, न कि इन्हें मोक्षमार्ग मानना। व्रत-शील-संयम को बन्ध के कारण कहने का प्रयोजन इन्हें वास्तविक मोक्षमार्ग न मानकर, वीतरागता को वास्तविक मोक्षमार्ग बताना है, न कि उन्हें छोड़कर स्वच्छन्द प्रवर्तन करना।

इसप्रकार व्यवहारनय या निश्चयनय, किसी भी अपेक्षा से किये गये कथनों से आत्महित की पुष्टि करना अभीष्ट है।

निश्चय-व्यवहारनय के प्रयोगों को गहराई से समझने पर निश्चय-व्यवहारनय में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध समझना सरल हो जाता है। निश्चयनय को प्रतिपाद्य और व्यवहारनय प्रतिपादक कहने का आशय यह है कि व्यवहारनय के कथन से निश्चयनय का विषय ही कहा जाता है, अतः व्यवहारनय को ही पारमार्थिक सत्य न मानकर, उसके द्वारा कहे गए परमार्थ को ही समझना चाहिए, अन्यथा व्यवहाराभास का प्रसंग आता है।

प्रश्न – कहें कुछ और समझें कुछ – ऐसा कैसे सम्भव है? जैसा कहेंगे, वैसा ही तो समझना पड़ेगा?

उत्तर – भाई! हमारे दैनिक जीवन में भी ऐसे अनेक प्रसंग बनते हैं, जब हम मात्र शब्दानुसार अर्थ न समझकर, उसका भाव ग्रहण करते हैं, अन्यथा हम लोक-व्यवहार में भी मूर्ख समझे जाएँगे – इस आशय के कुछ प्रयोग निम्नानुसार हैं –

व्यवहार कथन	समझा गया आशय
अ. आदमी देखकर कचरा फेंकना	जब आदमी न हो, तब कचरा फेंकना
ब. सिर-दर्द की दवा लाना	सिर-दर्द मिटाने की दवा लाना
स. आपका ही घर है, कोई संकोच न करें।	आपका घर नहीं है, परन्तु आप यहाँ हमारे घर पर अपने घर के समान निःसंकोच रहें।
द. अम्मा को यह दवा हिलाकर पिला देना।	अम्मा को नहीं हिलाना है, दवा की शीशी को हिलाकर दवा को हिलाना है।
इ. बेटा! मम्मी को बुलाना।	बेटा! तुम अपनी मम्मी को बुलाना।
ई. यह पेटी बहुत कीमती है, इसे सम्भाल कर ले जाना।	इस पेटी में रखा हुआ माल बहुत कीमती है, उसे सम्भालना है।

इसप्रकार हमारे लोक-जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग बनते हैं, जब हम सामनेवाले के कथनों को शब्दानुसार ग्रहण न करके, उसका भाव ग्रहण करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अपने भावों को व्यक्त करने हेतु किये गये कथन व्यवहारनय के हैं और उनके माध्यम से समझा गया भाव, परमार्थ या निश्चयनय है।

यही पद्धति जिनवाणी का आशय समझने में भी अपनाई जाती है, अन्यथा हम जिनवाणी का यथार्थ मर्म नहीं समझ पाते और यह मनुष्य भव व्यर्थ चला जाता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 252 पर व्यवहारनय द्वारा परमार्थ को समझने के निम्नलिखित तीन प्रयोग बताये गये हैं -

व्यवहार कथन	पारमार्थिक आशय
अ. मनुष्य, देव, नारकी या तिर्यंच आदि जीव हैं।	मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंच आदि शरीरों के संयोग में रहनेवाली चेतन सत्ता ही जीव है।
ब. आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं।	आत्मा, ज्ञानादि अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है।
स. व्रत-शील-संयमादि मोक्षमार्ग हैं।	व्रतादि के साथ रहनेवाला वीतरागभाव मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार जिनागम के हजारों व्यवहार कथनों का पारमार्थिक आशय ग्रहण करना चाहिए। कुछ प्रयोग निम्नानुसार हैं -

व्यवहार कथन	पारमार्थिक कथन
1. मैं व्यापार करता हूँ	मैं व्यापार करने का राग करता हूँ, बाह्य क्रिया नहीं।
2. मैंने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया।	मुझे रात्रिभोजन-सम्बन्धी राग उत्पन्न नहीं होता।
3. भरत चक्रवर्ती ने छह खण्ड का राज्य छोड़कर दीक्षा ली थी।	भरत चक्रवर्ती ने षट्खण्ड की विभूति का राग छोड़कर दीक्षा ली थी।
4. ऋषभदेव मुनिराज ने चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्रगट किया।	ऋषभदेव मुनिराज ने आत्मा में विशेष लीनता द्वारा केवलज्ञान प्रगट किया। उस समय घातिया कर्मों का क्षय भी स्वयं हो गया।

इसप्रकार जिनागम के सभी व्यवहार कथनों में कोई न कोई पारमार्थिक आशय अवश्य छिपा रहता है, अतः व्यवहारनय प्रतिपादक है और उसका यथार्थ आशय अर्थात् निश्चयनय प्रतिपाद्य है।

5. व्यवहार और निश्चयनय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध

निश्चयनय निषेधक है और व्यवहारनय निषेध्य है - यह बात समयसार कलश 173 और गाथा 272 आदि अनेक स्थानों पर स्पष्ट कही गई है, परन्तु दोनों नयों का अर्थ करने की यथार्थ पद्धति न जानने से समाज में यह भ्रम व्याप्त हो गया है कि व्यवहार निषेध्य है अर्थात् पूजन-पाठ, व्रत-शील-संयमादिरूप शुभभाव अथवा ये क्रियाएँ छोड़ देना चाहिए। अध्यात्म से अरुचि रखनेवाले लोगों द्वारा भी जान-बूझकर समाज को गुमराह किया जाता है कि ये शुद्धात्मा के गीत गानेवाले लोग, पूजन-पाठ, व्रत-शील-संयमादि छुड़ाकर, **खाओ-पियो, मौज करो** वाला स्वच्छन्ता पोषक धर्म बता रहे हैं।

व्यवहारनय अर्थात् उसकी विषय-वस्तु स्वयं परमार्थ नहीं है - ऐसा जानना ही व्यवहारनय का निषेध है। यह बात समझने के लिए व्यवहारनय की निम्नलिखित तीन विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं -

अ. व्यवहारनय स्वयं परमार्थ नहीं है।

ब. व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है।

स. व्यवहारनय अन्यत्र (गृहीत मिथ्यात्व तथा पापों में) भटकने से बचाता है।

यदि हम मुम्बई जानेवाले मार्ग पर यात्रा कर रहे हैं और रास्ते में एक चौराहे पर बोर्ड पर लिखा है - 'मुम्बई 100 कि.मी.' तो उक्त तीन बातें, उस पर निम्नानुसार घटित होंगी -

अ. जिस बोर्ड पर मुम्बई लिखा है, वह बोर्ड स्वयं मुम्बई नहीं है।

ब. वह मुम्बई की दिशा और दूरी का ज्ञान कराता है।

स. उस दिशा में जाने से शेष तीन दिशाओं में भटकना बच जाता है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन

कहा गया है, उसमें भी उक्त तीन बिन्दु निम्नानुसार घटित होंगे –

अ. देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा स्वयं सम्यक्त्व नहीं है।

ब. उक्त विकल्पात्मक श्रद्धारूप व्यवहार, शुद्धात्मा की श्रद्धारूप निश्चय सम्यक्त्व का सहचारी होने से निश्चय सम्यक्त्व का ज्ञान कराता है।

स. अन्य कुगुरु-कुदेव की श्रद्धा, मिथ्यात्वपोषक है, अतः हमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा उन कुगुरु आदि की श्रद्धा से बचाती है।

6. व्यवहारनय का ग्रहण एवं त्याग करने की प्रक्रिया –

इस सम्बन्ध में पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 251 पर लिखते हैं –

यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

समाधान – जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' – ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसे हैं नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर, 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' – ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

व्यवहार का निषेध करने की आड़ में व्रत-शीलादि छोड़ देने के बारे में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं –

यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि तुम व्यवहार को असत्यार्थ-हेय कहते हो तो हम व्रत, शील, संयमादिक व्यवहारकार्य किसलिए करें? – सबको छोड़ देंगे।

उससे कहते हैं कि कुछ व्रत, शील, संयमादि का नाम व्यवहार

नहीं है; इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित हैं तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इसप्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय जानना। व्रतादिक को छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना होता नहीं है।

फिर हम पूछते हैं कि व्रतादिक को छोड़कर क्या करेगा? यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी सम्भव नहीं है; वहाँ प्रवर्तने से क्या भला होगा? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिए ऐसा करना तो निर्विचारीपना है। तथा व्रतादिकरूप परिणति को मिटाकर, केवल वीतराग उदासीन भावरूप होना बने तो अच्छा ही है; लेकिन वह निचली दशा में हो नहीं सकता, इसीलिए व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है। इसप्रकार श्रद्धान में निश्चय को, प्रवृत्ति में व्यवहार को उपादेय मानना भी मिथ्याभाव ही है।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि व्यवहारनय का ग्रहण-त्याग, ज्ञान में ही होता है। क्रिया न तो स्वयं व्यवहारनय है और न ही उसका व्यवहारनय के ग्रहण-त्याग से कोई सम्बन्ध है।

व्यवहारनय के द्वारा परमार्थ को जानना – यही व्यवहारनय का ग्रहण है और व्यवहारनय को परमार्थ (निश्चयनय) नहीं मानना – यही व्यवहारनय का निषेध है।

अद्‌भुत बात तो यह है कि ये दोनों प्रक्रियाएँ एक ही ज्ञान-पर्याय में एक साथ सम्पन्न होती हैं। घी के घड़े के उदाहरण में यह बात इसप्रकार समझी जा सकती है –

घी का घड़ा कहकर, घी के संयोगवाले घड़े को जानना – व्यवहारनय का ग्रहण करना हो गया; लेकिन उसी समय हम यह भी

जानते हैं कि घड़ा घी का नहीं, मिट्टी का है – ऐसा जानना ही व्यवहारनय का निषेध या त्याग करना है।

जरा सोचिए! यहाँ घड़ा, घी का नहीं है, मात्र उसे ऐसा जाना गया है कि जिस घड़े में घी रखा है या जिसमें हम घी रखते हैं, हम उस घड़े की बात कर रहे हैं। इसके लिए हम क्रिया में क्या करते हैं? क्या हम घड़े को घी से ही बना हुआ मान लेते हैं? नहीं! अथवा घड़ा, घी से नहीं बनता है – ऐसा जानकर क्या हम घड़े में घी रखना बन्द कर देते हैं या घड़े को फोड़ देते हैं? नहीं! क्रिया तो जैसी आवश्यकता होती है, वैसी होती है। मात्र ज्ञान में समझ लिया कि यह घड़ा घी का नहीं है – बस यही, व्यवहारनय का त्याग हो गया।

इसीप्रकार व्रत-शील-संयमादि के माध्यम से वीतरागभावरूप निश्चय मोक्षमार्ग को समझना अथवा व्रतादि को मोक्षमार्ग कहना – व्यवहार का ग्रहण हुआ; लेकिन यह शुभभाव मोक्षमार्ग नहीं है, वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है – ऐसा जानना ही व्यवहार का त्याग या निषेध समझना चाहिए।

इसीप्रकार मनुष्य-जीव कहकर, मनुष्य-शरीर के संयोग में रहनेवाले जीव को जानना ही व्यवहारनय का ग्रहण है तथा जीव, मनुष्य-शरीररूप नहीं है, वह तो शरीर से भिन्न है – ऐसा जानना ही व्यवहारनय का निषेध है।

उक्त विवेचन से व्यवहारनय और निश्चयनय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

प्रश्न – जब व्यवहारनय, निश्चयनय का प्रतिपादन करता है तो उसका निषेध करने की आवश्यकता ही क्या है? यदि हम उसका निषेध न करें तो उससे क्या हानि है?

उत्तर – भाई! व्यवहारनय के निषेध में ही उसकी सार्थकता और

सफलता है। जिसप्रकार पेकिंग (आवरण) अपने में छिपी/रखी वस्तु को बताती है और सुरक्षित रखती है, परन्तु उस वस्तु को पाने के लिए पेकिंग को तोड़ना ही पड़ता है; उसीप्रकार व्यवहारनय को परमार्थ न मानकर ही परमार्थ को पाया जा सकता है।

यदि हम पेकिंग (आवरण) को ही माल (मूल वस्तु) समझ लेंगे या उसकी चमक-दमक में ही सन्तुष्ट हो जाएँगे तो माल को पाने के लिए प्रयत्न ही क्यों करेंगे? इसीप्रकार जो शरीर को ही जीव मानेगा, वह देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करने का प्रयत्न ही क्यों और कैसे करेगा?

जरा सोचिए! आत्मा को गुणस्थान-मार्गणास्थानरूप मानते-मानते क्या त्रिकाली चैतन्य स्वभाव में अपनापन किया जा सकता है, अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति की जा सकती है? - नहीं; इसीप्रकार क्या व्रत-शील-संयमादि को मोक्षमार्ग मानते हुए रागरहित ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का अनुभव किया जा सकता है? - नहीं; अतः शुद्धात्मा का अनुभव करने के लिए देहादि में एकत्व-बुद्धि तोड़ना ही होगा। यही मिथ्यात्व का निषेध है और यही व्यवहारनय का निषेध भी है, क्योंकि व्यवहारनय जैसा कहता है, वस्तु-स्वरूप वैसा ही मानने पर मिथ्यात्व होता है और व्यवहारनय के कथनों को मात्र प्रयोजनवश किये गये उपचरित कथन समझकर, परमार्थ न मानकर ही शुद्धात्मा की प्राप्ति अर्थात् आत्मानुभूति अथवा निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

वास्तव में हम बाह्य क्रिया-काण्ड को ही व्यवहारनय समझते हैं, इसलिए व्यवहारनय का निषेध सुनकर, हमें व्रतादि छोड़कर, स्वच्छन्द प्रवृत्ति के समर्थन की शंका होने लगती है; परन्तु जब हम यह समझ लेंगे कि व्यवहारनय का ग्रहण-त्याग ज्ञान में ही होता है, क्रिया में नहीं, तब हम निःशंक होकर यथार्थ तत्त्व-निर्णय कर सकेंगे।

प्रश्न – निचली भूमिका में व्यवहारनय को ग्रहण करना चाहिए, फिर बाद में उसका त्याग करना चाहिए – ऐसा मानें तो क्या हानि है?

उत्तर – भाई! ग्रहण करना और उसका त्याग करना तो कथन की विधि-निषेधरूप पद्धतियाँ हैं। व्यवहारनय के विषय की सत्ता को स्वीकार करना अथवा उसके माध्यम से परमार्थभूत वस्तु को समझना – यही व्यवहारनय का ग्रहण है और उसी समय, व्यवहारनय स्वयं परमार्थभूत वस्तु नहीं है – ऐसा जानना ही व्यवहारनय का त्याग है। ज्ञानी के ज्ञान में व्यवहारनय का ग्रहण-त्याग एक साथ वर्तता है, क्योंकि ज्ञानी न तो व्यवहारनय का सर्वथा निषेध करते है और न उसे परमार्थभूत निश्चयनय के समान मानते हैं।

प्रश्न – समयसार की 12वीं गाथा में व्यवहारनय को निचली भूमिका में जाना हुआ प्रयोजनवान् कहा है? इस कथन का क्या आशय है?

उत्तर – जाना हुआ प्रयोजनवान् का आशय भी यही है कि संयोग और संयोगी भावों की यथार्थ स्थिति समझी जाए; परन्तु उन्हें ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप न मान लिया जाए। यदि व्यवहारनय के विषय को समझेंगे ही नहीं तो उसका यथायोग्य ग्रहण-त्याग कैसे करेंगे? अतः व्यवहारनय को जाना हुआ प्रयोजनवान् कहा है।

प्रश्न – ऐसा भी देखा जाता है कि जो कथन व्यवहारनय का है, वही कथन निश्चयनय का भी कहा जाता है तो तब प्रतिपाद्य-प्रतिपादक या निषेध्य-निषेधक का निर्णय कैसे करें? जैसे, आत्मा अपने रागादिभावों का कर्ता-भोक्ता है – इस कथन में इसे घटित करके समझाएँ?

उत्तर – यह बहुत अच्छा प्रश्न है। इसके अन्तर को समझने के लिए हमें अपनी प्रज्ञा को सूक्ष्म करने की आवश्यकता है। जब संयोग, संयोगीभाव या भेद के कथन द्वारा असंयोगी तत्त्व को समझने का

अभिप्राय हो, तब वह कथन परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहारनय का कथन समझना चाहिए, क्योंकि व्यवहारनय का कार्य परमार्थ का प्रतिपादन करना है। (प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध) जब किसी कथन के द्वारा संयोग, संयोगीभाव या भेद का निषेध करने का अभिप्राय हो तो वह कथन निश्चयनय का समझना चाहिए, क्योंकि निश्चयनय का कार्य व्यवहारनय का निषेध करना है। (निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध)

जैसे - आत्मा, अपने रागादि भावों का कर्ता-भोक्ता है - ऐसा कहकर, शरीरादि पर-पदार्थों के कर्तापने का निषेध करना हो अथवा रागादि को आत्मा स्वतन्त्रपने करता है, किसी अन्य का उसमें किंचित् मात्र भी कर्तृत्व नहीं है अथवा रागादि को आत्मा की अशुद्ध पर्याय बताना हो तो यह कथन निश्चयनय का माना जाएगा और जब इसी कथन के द्वारा आत्मा में कर्ता-कर्म के भेद के माध्यम से आत्मा का स्वरूप बताना हो अथवा आत्मा, रागादि सम्बन्धी अपने ज्ञान का कर्ता है - यह बताना अभीष्ट हो, तब यह कथन व्यवहारनय का समझना चाहिए। इसीलिए तो कहा है - **वक्तुरभिप्रायो नयः** अर्थात् वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

व्यवहारनय और निश्चयनय में एक विवक्षा यह भी है कि व्यवहारनय जितना-जितना सूक्ष्म होता जाता है, वह उतना-उतना वह निश्चयनय के करीब आता जाता है, बल्कि निश्चयनय ही बनता जाता है तथा निश्चयनय जितना-जितना स्थूल होता जाता है, वह उतना-उतना व्यवहारनय के करीब आता जाता है, बल्कि व्यवहारनय ही बनता चला जाता है। इस बात को हम उक्त उदाहरणों से भी समझ सकते हैं। जैसे, 'आत्मा, रागादि का कर्ता-भोक्ता है' - यह कथन जब हम परद्रव्यों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध कर रहे हों तो निश्चयनय का है और जब इस कथन का हम ज्ञानादि के कर्तृत्व की तुलना में

देखेंगे तो रागादि का कर्तृत्व व्यवहारनय से कहलाएगा। तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहारनय हो जाता है तथा परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धनिश्चयनय भी व्यवहारनय हो जाता है। इसीप्रकार अन्यत्र भी हम समझ सकते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो प्रतिपादन करे – वह व्यवहारनय है और जिसका प्रतिपादन किया जाए – वह निश्चयनय है। अथवा जो निषेध करे, वह निश्चयनय है और जिसका निषेध किया जाए – वह व्यवहारनय है।

अब यहाँ निम्नलिखित प्रयोगों द्वारा उक्त कथन का आशय स्पष्ट किया जा रहा है –

प्रतिपादक (व्यवहारनय)	**प्रतिपाद्य (निश्चयनय)**
1. जीव घट-पटादि बाह्य-पदार्थों का कर्ता है।	1. जीव घट-पटादि के लक्ष्य से होने वाले रागादि भावों का कर्ता है।
2. प्रत्येक जीव को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना पड़ता है।	2. जीव कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले रागादि के अनुसार सुखी-दुःखी होता है।
3. जीव अपने रागादि विभाव भावों का कर्ता है।	3. स्वभाव दृष्टि से आत्मा रागादि का कर्ता नहीं है। वह रागादि को जानने वाले अपने ज्ञान का कर्ता है।
4. आत्मा अपनी निर्मल पर्यायों का कर्ता है।	4. आत्मा में कर्ता-कर्म आदि भेद व्यवहार से किए जाते हैं। आत्मा अखण्ड अभेद एक चैतन्यमात्र वस्तु है। उसकी दृष्टि करने पर स्वाभाविकरूप से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है।

इन्हीं वाक्य प्रयोगों को निषेध्य-निषेधक की दृष्टि से निम्नानुसार समझना चाहिए -

निषेध्य (व्यवहारनय)	निषेधक (निश्चयनय)
1. हमारे विकल्पों या वर्तमान पुरुषार्थ से बाह्य संयोगों में परिवर्तन नहीं होता है।	1. सब जीवों का जीवन-मरण, सुख-दुख उनके कर्मोदय के अनुसार होता है।
2. आत्मा जड़ कर्मो का कर्ता-भोक्ता है।	2. आत्मा अपने भावों का ही कर्ता-भोक्ता है।
3. आत्मा अपने स्वभाव से रागादि का कर्ता-भोक्ता है।	3. आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि निर्मल पर्यायों का कर्ता-भोक्ता है।
4. आत्मा कर्ता है और उसकी पर्यायें कर्म हैं - इसप्रकार कर्ता-कर्म का भेद करना।	4. आत्मा कर्ता-कर्म के भेद से रहित अभेद वस्तु है।

इसप्रकार प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और निषेध्य-निषेधक भी ज्ञान में होते हैं, क्रिया में नहीं; क्योंकि नयों का प्रयोजन वस्तु-स्वरूप को समझकर यथार्थ निर्णय करना है और निर्णय ज्ञान में ही होता है, अतः वह ज्ञान की ही क्रिया है, बाह्य-क्रिया नहीं।

7. व्यवहारनय और निश्चयनय की हेयोपादेयता

समयसार की 11वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहकर, हेय कहा है तथा निश्चय को भूतार्थ कहकर, उसे आश्रय करने योग्य बताया है। यहाँ निश्चय अर्थात् निश्चयनय का विषयभूत त्रिकाली शुद्धात्मा समझना चाहिए तथा व्यवहार से आशय संयोग, विकार और भेद समझना चाहिए, क्योंकि यह ग्रन्थ, आचार्यदेव ने शुद्धात्मा का स्वरूप बताने के लिए ही लिखा है।

अन्यत्र भी व्यवहार को परमार्थ नहीं मानना - यही उसका हेयपना है तथा निश्चयनय के कथन को सत्यार्थ जानना ही उसका उपादेयपना है। निषेध्य अर्थात् हेय तथा प्रतिपाद्य अर्थात् उपादेय। निष्कर्ष के रूप में प्रतिपादक - व्यवहारनय के द्वारा निश्चयनय, प्रतिपादन करने योग्य है, प्रतिपाद्य है, उपादेय है तथा निषेधक - निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय, निषेध करने योग्य है, निषेध्य है, हेय है।

इसप्रकार प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और निषेध्य-निषेधक के अनुसार ही हेय-उपादेय का स्वरूप जानना चाहिए।

प्रश्न - व्यवहार को कथंचित् हेय और कथंचित् उपादेय कहने का आशय स्पष्ट कीजिए?

उत्तर - व्यवहारनय के विषय का सर्वथा निषेध नहीं करना चाहिए। उसकी सत्ता तो स्वीकार करना ही चाहिए - इस अपेक्षा व्यवहारनय को कथंचित् उपादेय कहा गया है तथा व्यवहारनय के कथनों को उपचार मात्र समझना, परमार्थ नहीं मानना - इस अपेक्षा उसे परमार्थतः हेय कहा जाता है।

प्रश्न - शुभभावों को भी कथंचित् हेय और कथंचित् उपादेय कहा जाता है? क्या यह भी व्यवहारनय के समान हेयोपदेयपना है?

उत्तर - देखिए! शुभभाव, मोक्षमार्ग में निमित्त हैं, अतः पापों से बचने के लिए और वीतरागता का पोषण करने के लिए उन्हें कथंचित् उपादेय भी कहा गया है, परन्तु वे पुण्यबन्ध के ही कारण हैं, अतः उन्हें मोक्षमार्ग में हेय भी कहा गया है।

इसप्रकार ज्ञान में शुभभाव के हेय-उपादेयपने का निर्णय, एक साथ वर्तता है, परन्तु उन्हें हेय कहना वचनात्मक निश्चयनय है तथा उपादेय कहना वचनात्मक व्यवहारनय है। इसीप्रकार उन्हें यथार्थतः

हेयोपादेय जानना, ज्ञानात्मक निश्चय-व्यवहारनय है। इसप्रकार शुभभावों के सन्दर्भ में भी निश्चय-व्यवहारनय का ग्रहण-त्याग एक साथ होता है।

इसी विषय को आचरण की अपेक्षा विचार किया जाए तो पहले-दूसरे-तीसरे गुणस्थान में मुख्यता की अपेक्षा तारतम्यरूप से अशुभभाव की हीनता, चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में तारतम्यरूप से शुभभाव की अधिकता होती है तथा सातवें गुणस्थान से आगे शुद्धता की अधिकता होती है; इसलिए यह भी कहा जाता है कि पहले अशुभभाव को छोड़कर शुभभावरूपी व्यवहार की नाव में बैठो और **उस पार** (शुद्धोपयोग में) जाने के बाद शुभभाव स्वयं छूट जायेगा, यदि उसे पहले छोड़ दोगे तो मँझधार में डूब जाओगे अर्थात् शुद्धभाव को तो प्राप्त होगे नहीं, शुभभाव को छोड़कर वापस अशुभ में चले जाओगे।

उक्त कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव करते-करते वीतरागता प्रगट हो जाएगी। यह तो शुभभावों के ग्रहण-त्याग की भूमिका को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है। यहाँ उन पर घटित होने वाले व्यवहारनय के ग्रहण-त्याग की बात नहीं है, क्योंकि व्यवहारनय का ग्रहण-त्याग ज्ञान में एक साथ होता है, क्रिया में नहीं।

सम्यग्दर्शन के पहले भी शुभभाव होते हैं तथा उन्हें करने का उपदेश भी दिया जाता है, परन्तु वहाँ सच्चा व्यवहार मोक्षमार्ग भी नहीं है, अतः उस शुभभाव पर मोक्षमार्ग का पूर्वचर व्यवहार (उपचार) घटित होता है। जिनागम में व्रतादिकरूप व्यवहार क्रिया सम्यग्दर्शन के उत्तरचर व्यवहार के रूप में कही गई है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार नयों का यथार्थ स्वरूप समझना श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. निश्चय और व्यवहारनयों की परिभाषायें लिखते हुए उनके लौकिक एवं आगम में समागत प्रयोजन बताते हुए उनका स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. निश्चय और व्यवहारनयों की भूतार्थता और अभूतार्थता की समीक्षा कीजिए।
3. निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर सम्बन्धों को प्रयोग पद्धति से समझाइए।
4. व्यवहारनय के ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
5. व्यवहारनय की हेयोपादेयता की समीक्षा कीजिए।

केवलज्ञानमूर्ति यह आतम नय-व्यवहार कला द्वारा।
वास्तव में सम्पूर्ण विश्व का, नितप्रति है जाननहारा।।
मुक्तिलक्ष्मी रूपी कामिनी के कोमल वदनाम्बुज पर।
काम-क्लेश, सौभाग्य चिह्नयुत, शोभा को फैलाता है।।
श्री जिनेश ने क्लेश और रागादिक मल का किया विनाश।
निश्चय से देवाधिदेव वे, निज स्वरूप का करें विकास।।

– नियमसार कलश, 272

6

जैनाभास

मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में जैनाभासी मिथ्यादृष्टियों का वर्णन करते हुए निश्चयाभास, व्यवहाराभास, उभयाभास और सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि की चर्चा की गई है। यहाँ इनमें से आभासों का उल्लेख करना, प्रासंगिक होने से नयाभास प्रकरण लिखा जा रहा है, क्योंकि ये आभास निश्चय-व्यवहारनय सम्बन्धी एकान्त पक्ष को ग्रहण करने के होते हैं। *सम्यक्त्व-सन्मुख मिथ्यादृष्टि को कोई आभास नहीं है, वह तो देशनालब्धि पाकर तत्त्व-निर्णय की प्रक्रिया में है।*

वस्तु के एक धर्म को मुख्य एवं अन्य धर्मों को गौण करके जानना, नय है। लेकिन यदि अन्य धर्मों को गौण करने के बदले उनका निषेध किया जाए तो **मिथ्यानय अथवा नयाभास** हो जाता है, जिसे **मिथ्या-एकान्त** भी कहते हैं।

शक्कर के सफेदी-आकार आदि धर्मों का निषेध करके उसे सर्वथा मीठी ही मानना/कहना, **नयाभास** है। शक्कर मीठी ही है - ऐसा कहने का तो यही अर्थ हुआ कि उसमें मिठास के अलावा सफेदी, चमक, आकार आदि तथा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि कोई धर्म हैं ही नहीं। इसीप्रकार आत्मा को सर्वथा नित्य कहने का यही अर्थ होगा कि उसमें अनित्यादि विरोधी धर्म, ज्ञान-दर्शन आदि विशेष गुण तथा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सामान्य गुण हैं ही नहीं; अतः अन्य धर्मों का निषेध

करते हुए आत्मा को सर्वथा ज्ञानरूप ही जानना/कहना, **नयाभास** है।

प्रश्न – यदि आत्मा को ज्ञानमात्र कहना, मिथ्या-एकान्त है तो समयसार टीका के परिशिष्ट में आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा गया है?

उत्तर – इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए वहाँ कहा गया है कि ज्ञानमात्र कहने से आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध रागादि विकारों का तो निषेध समझना चाहिए, परन्तु ज्ञान से अविरुद्ध अन्य अनन्त गुणों या धर्मों का निषेध नहीं समझना चाहिए, लेकिन 'ज्ञान' लक्षण से आत्मा प्रसिद्ध होता है, इसलिए ज्ञान को मुख्य करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहना, सम्यक्-एकान्त है, मिथ्या-एकान्त नहीं।

यद्यपि जिनागम में 363 मिथ्या एकान्तों (नयाभासों) का उल्लेख मिलता है तथा पंचाध्यायी में भी नयाभासों की चर्चा है, परन्तु यहाँ संक्षेप में तीनों प्रकार के जैनाभासों तथा सम्यक्त्व-सन्मुख मिथ्यादृष्टि के स्वरूप का भी वर्णन किया जा रहा है –

1. जैनाभास, मान्यता का दोष है, आचरण का नहीं

पण्डित टोडरमलजी ने जैनाभासी मिथ्यादृष्टियों के प्रकरण में इनका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि ये तीनों आभास मान्यता या अभिप्राय के दोष हैं, आचरण के नहीं।

प्रायः हम विषय-भोगादि अशुभाचरण को निश्चयाभास एवं भक्ति, पूजा, व्रत, शीलादि शुभाचरण को व्यवहाराभास समझ लेते हैं; परन्तु अशुभाचरण तो पाँचवें गुणस्थान तक और शुभाचरण छठवें गुणस्थान तक भी होते हैं; अतः ये शुभाशुभभाव आचरण के ही दोष हैं, श्रद्धान के नहीं। **जिनवाणी के आधार से विषय-भोगादि की पुष्टि करना अर्थात् उन्हें उचित ठहराना, निश्चयाभास है तथा व्रत-शीलादि में धर्म मानकर, सन्तुष्ट हो जाना, व्यवहाराभास है; अतः यह भूल, श्रद्धा अर्थात् मान्यता मूलक है।**

कैसी विडम्बना है कि जिस जिनवाणी का अभ्यास मिथ्यात्व के

नाश के लिए किया जाता है; हम उसी जिनवाणी का मर्म न समझने से सच्चे जैन बनने के बदले जैनाभासी हो जाते हैं।

संस्कृत की एक सूक्ति में कहा गया है -

उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।
पयः-पानं भुजंगानां, केवलं विषवर्धनम्।।

जैसे, सर्प को दूध पिलाने से उसका विष ही बढ़ता है, वैसे ही मूर्खों को उपदेश देने से उनका प्रकोप शान्त नहीं होता।

हमारी भी ऐसी ही स्थिति हो रही है। हमारे मिथ्यात्वरूपी विष की तीव्रता के कारण जिनवाणी माता का दूध पीने पर भी वह हमारे अभिप्राय में निश्चयाभास, व्यवहाराभास या उभयाभासरूपी मिथ्यात्व के रूप में परिणमित हो जाता है। अतः यहाँ इन तीनों प्रकार के जैनाभास का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

2. जैनाभासी मान्यता का मूल कारण

लोक में सामान्यतया प्रत्येक वस्तु पेकिंग (आवरण) सहित होती है। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले अनाज, फल आदि भी छिलके के भीतर अपने मूल तत्त्व के साथ उत्पन्न होते हैं। इसीप्रकार अनादिकाल से यह चैतन्य स्वभावी आत्मा भी भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म की पेकिंग (आवरण) सहित है। वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग भी प्रारम्भिक भूमिका में शुभभाव और बाह्य शुभाचरण की पेकिंग सहित होता है।

पेकिंग के माध्यम से मूल पदार्थ की पहचान की जाती है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की अपनी विशिष्ट पेकिंग होती है। पहचान कराने के साथ-साथ पेकिंग में वह मूल वस्तु सुरक्षित भी रहती है। जब हमें वस्तु का उपभोग करना होता है, तभी उसे हटाया जाता है। यदि उचित समय से पहले पेकिंग हटा दी जाए तो वह वस्तु खराब हुए बिना नहीं रहेगी।

पेकिंग का इतना महत्त्व होने पर भी वह स्वयं मूल वस्तु नहीं

होती है; अतः उसके माध्यम से वस्तु की पहचान करके और उसे सुरक्षित रखकर, उपभोग के समय पेकिंग हटा दी जाती है। लोक में प्रत्येक वस्तु के उपभोग की यही पद्धति है। जैसे, केला खाने के पहले हम उसका छिलका हटा देते है। गेहूँ के ऊपर का भूसा हटाकर, हम उसके दाने का उपयोग करते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र समझ लेना चाहिए।

लोक में हम प्रायः पदार्थ और पेकिंग का अन्तर समझते हैं और दोनों का यथायोग्य उपयोग करते हैं, किन्तु कभी-कभी कुछ लोग या तो पेकिंग को अनुपयोगी मानकर, उसका सर्वथा निषेध करने लगते हैं (निश्चयाभासी के समान) या मूल पदार्थ को भूलकर, पेकिंग में ही सन्तुष्ट हो जाते हैं (व्यवहाराभासी के समान) अथवा दोनों को एक जैसा मानकर, उनसे एक समान व्यवहार करना चाहते हैं। (उभयाभासी के समान) धर्मक्षेत्र में होने वाली इन्हीं भूलों को क्रमशः निश्चयाभास, व्यवहाराभास या उभयाभास कहते हैं।

लोक में तो कोई अति मन्दबुद्धि ही ऐसी भूलें करता है, परन्तु मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत तत्त्वों के बारे में जिनागम का अभ्यास करने पर भी ऐसी भूलें क्यों हो रही हैं - यह विचारणीय है।

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप

यदि कोई पेकिंग को अनावश्यक समझकर, उसका सर्वथा निषेध करे तो यह मान्यता निश्चयाभास जैसी होगी। **इसीप्रकार निश्चयनय के कथन को ही सर्वथा सत्य मानकर, व्यवहारनय की विषय-वस्तु का और उसके कथन का सर्वथा निषेध करना, निश्चयाभास है।** इसी वृत्ति को आधार बनाकर पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में निश्चयाभासी की मान्यताओं का उल्लेख किया है, जो इसप्रकार हैं -

1. आत्मा, वर्तमान पर्याय में भी सिद्धों के समान शुद्ध है अर्थात् रागादिरहित है।
2. आत्मा की वर्तमान पर्याय में भी केवलज्ञान प्रगट है, परन्तु वह कर्मों से ढँका हुआ है।
3. आत्मा, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से सर्वथा रहित है।
4. व्रत-शील-संयमादि, बन्ध के कारण हैं, अतः सर्वथा त्याज्य हैं।
5. शास्त्राभ्यास भी पर-द्रव्याश्रित होने से हेय है।
6. सात तत्त्व के चिन्तन से बन्ध होता है, अतः केवल आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।
7. तपश्चरणादि में वृथा क्लेश होता है।
8. परिणाम शुद्ध हों तो बाह्य-त्याग करना आवश्यक नहीं है।
9. प्रतिज्ञा करने में बन्धन होता है, अतः प्रतिज्ञारूप व्रतादि अंगीकार नहीं करना चाहिए।
10. शुभोपयोग भी बन्ध का कारण है, अतः शुभरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त सभी मान्यताओं का आगम-प्रमाण सहित और तर्क-संगत निराकरण, पण्डित टोडरमलजी ने किया है, जिसका मूलतः गहराई से अध्ययन करना अति आवश्यक है। विस्तार से बचने के लिए यहाँ उनका निराकरण नहीं किया जा रहा है।

बहुत-से भोले लोग तो समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों के पठन-पाठन को निश्चयाभास और श्रावकाचार तथा गोम्मटसारादि व्यवहार-प्रधान ग्रन्थों के पठन-पाठन को व्यवहाराभास कहकर, इनके पठन-पाठन का ही निषेध करके जिनवाणी का निषेध करने के महापाप का बन्ध करते हैं, उन्हें यह परन्तु विचार करना चाहिए कि चारों अनुयोग, वीतरागी सन्तों द्वारा रचे गये हैं तथा जिनागम के अभ्यास को व्यवहार से सम्यग्ज्ञान कहा गया है; अतः किसी भी शास्त्र के अभ्यास को

किसी प्रकार का आभास कैसे कहा जा सकता है?

प्रश्न – निश्चयाभासी, अध्यात्म के माध्यम से स्वच्छन्द होकर अशुभाचरण में प्रवृत्ति करते हैं, अतः आप अशुभाचरण को निश्चयाभास क्यों नहीं कहते?

उत्तर – स्वच्छन्दता का पोषण भी अभिप्राय का दोष है, आचरण का नहीं, क्योंकि जिनागम के आधार पर विषय-कषायों को पुष्ट करने की अर्थात् दोषरूप न मानकर उचित ठहराने की वृत्ति ही निश्चयाभास है।

यद्यपि प्रायः स्वच्छन्दता का पोषण अध्यात्म की आड़ में देखा जाता है; परन्तु विपरीत अभिप्राय ग्रहण करके, यह जीव चारों अनुयोगों के माध्यम से स्वच्छन्दता का पोषण कर सकता है – यह बात निम्न तालिका से स्पष्ट समझी जा सकती है –

अनुयोग	स्वच्छन्दता का अभिप्राय
1. प्रथमानुयोग के निमित्त से होने वाला विपरीत अभिप्राय	• भरत-बाहुबली, सम्यग्दृष्टि होकर भी युद्ध कर सकते हैं तो हम यदि आपस में लड़ें तो हमारा क्या दोष है? • जब भरत चक्रवर्ती छह खण्ड पर राज्य करते हुए और 96 हजार रानियों के साथ भोग भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टि रह सकते हैं तो हम भी भोग भोगते हुए सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं रह सकते?
2. करणानुयोग के निमित्त से होने वाला विपरीत अभिप्राय	• सब जीव आयुकर्म के क्षय से मरते हैं तो हमें उन्हें मारने में हिंसा का दोष क्यों लगेगा? • स्त्री/पुरुष वेदकर्म के उदय से विषय-वासना होती है, अतः इसमें हमारा क्या दोष है?

अनुयोग	स्वच्छन्दता का अभिप्राय
3. चरणानुयोग के निमित्त से होने वाला विपरीत अभिप्राय	• रात्रिभोजनत्याग और ब्रह्मचर्य तो छठवीं और सातवीं प्रतिमा में कहे हैं, इसलिए हम इनका पालन क्यों करें? • सम्यग्दर्शन के बिना व्रतादि होते ही नहीं तो अभी व्रताचरण का अभ्यास क्यों करें?
4. द्रव्यानुयोग के निमित्त से होनेवाला विपरीत अभिप्राय	• देव-शास्त्र-गुरु तो परद्रव्य हैं; अतः उनका अवलम्बन क्यों लिया जाए? • जिस समय जो पर्याय होनेवाली होती है, वही होती है; अतः विषय-कषाय के परिणाम भी अपनी क्रमबद्ध योग्यता से हो रहे हैं, इसमें हम क्या करें?

उपर्युक्त प्रयोगों के आधार पर विपरीत अभिप्रायरूप स्वच्छन्दता की और भी अनेक मान्यताओं को समझा जा सकता है।

प्रश्न – क्या निश्चयाभासी को सदैव अशुभभाव ही होते हैं?

उत्तर – सदैव अशुभभाव या शुभभाव तो किसी भी जीव को नहीं होते। वे तो अन्तमुहूर्त में बदल जाते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि निश्चयाभास या स्वच्छन्दता, अभिप्राय में होती है; शुभाशुभभावों या बाह्य-आचरण में नहीं।

प्रश्न – उपर्युक्त तालिका में दिए गए तर्क तो सही मालूम पड़ते हैं, फिर आप उन्हें स्वच्छन्दता क्यों कह रहे हैं?

उत्तर – जैनाभासियों के तर्क भी शास्त्राधार से ही होते हैं, क्योंकि जिनवाणी पढ़कर उसका विपरीत अभिप्राय ग्रहण करने से

उनकी यह मान्यता बनी है; अतः उनकी बात सत्य प्रतीत होती है, परन्तु उनका अभिप्राय, मोक्षमार्ग के विपरीत है; इसलिए उनके तर्क सम्यक् न होकर मिथ्या अर्थात् तर्काभास कहे जाते हैं।

प्रश्न – निश्चयाभास से बचने का क्या उपाय है?

उत्तर – व्यवहारनय के कथनों का सर्वथा निषेध न करके उनका सही आशय (अभिप्राय) समझना चाहिए। अनुभूति में निश्चयनय की मुख्यता होने पर भी कथन में व्यवहारनय की मुख्यता होती है। अतः हमें लोक-व्यवहार में निश्चयनय की भाषा का प्रयोग करने से बचना चाहिए। प्रायः जो लोग, आपसी बोलचाल में भी हँसी-मजाक करते हुए निश्चय की भाषा बोलते हैं, उससे न केवल तत्त्व की अप्रभावना होती है, अपितु जिनवाणी की विराधना का महापाप लगता है। जन-सामान्य तो व्यवहार की भाषा का ही प्रयोग जानता है और करता है, अतः निश्चयप्रधान भाषा का प्रयोग तत्त्व को समझाने के लिए ही किया जाना चाहिए।

व्यवहार मोक्षमार्ग अर्थात् बाह्य-धर्माचरण भी हमें पापों से बचाकर, वीतरागता के पोषण में निमित्त होता है, अतः जीवन में भी यथाशक्ति नीतिमय धर्माचरण होना चाहिए। यदि कषाय की तीव्रता से कोई विशेष धर्माचरण न हो पाए तो इसे अपनी कमजोरी मानकर, उसके प्रति खेद होना चाहिए, लेकिन शास्त्रों के आधार से उसका पोषण नहीं करना चाहिए अर्थात् उसे उचित नहीं मानना चाहिए।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप

निश्चयाभासी के विपरीत व्यवहाराभासी जीव पेकिंग को ही मूल पदार्थ मानकर उसमें सन्तुष्ट हो जाते हैं और वस्तु के मूल स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् सच्चे मोक्षमार्ग से वंचित रहते हैं। **व्यवहारनय के कथन**

को उपचरित न मानकर सर्वथा सत्यार्थ मानना, व्यवहाराभास है।

व्यवहाराभासी जीव, आत्मा को रंग-राग और भेद से भिन्न चैतन्यस्वभावी न मानकर मनुष्य, देव, स्त्री, पुरुष आदि पर्यायरूप तथा रागादिभावों से तन्मय मानकर, उनका कर्ता-भोक्ता मानते हैं। इसीप्रकार वे शुभभाव को मोक्षमार्ग में निमित्त व सहचारी न मानकर, उसे ही सच्चा मोक्षमार्ग मान लेते हैं।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में निम्नानुसार चार प्रकार के व्यवहाराभासियों का वर्णन किया है -

1. कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी

कुल में चली आई परम्पराओं का पालन करने में धर्म मानना, व्यवहाराभास है। ये परम्पराएँ धर्म-विरुद्ध भी हो सकती हैं और धर्मानुकूल भी हो सकती हैं। किसी कुल-देवी या कुल-देवता की पूजा करना आदि धर्म-विरुद्ध परम्परा है। वीतरागी देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, भक्ति, रात्रिभोजन तथा अन्य अभक्ष्य पदार्थों का त्याग, धर्मानुकूल परम्परा है। इन धर्मानुकूल परम्पराओं को वीतरागता के पोषण के उद्देश्य से पालने के बदले कुल-परम्परा के पोषण हेतु पालना भी कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभास है।

इस प्रकरण में पण्डितजी द्वारा दिया गया निष्कर्ष अनुकरणीय है -

यदि कुलक्रम ही से धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा हो जाएँ। जैनधर्म की क्या विशेषता रही?

तथा यदि कुल में जैसी जिनदेव की आज्ञा है, उसीप्रकार धर्म की प्रवृत्ति है तो अपने को भी वैसे ही प्रवर्तन करना योग्य है; परन्तु उसे कुलाचार न जान धर्म जानकर, उसके स्वरूप, फलादि का निश्चय करके अंगीकार करना। जो सच्चे भी धर्म को कुलाचार जानकर प्रवर्तता है तो उसे धर्मात्मा नहीं कहते; क्योंकि यदि सब

कुल के उस आचरण को छोड़ दें तो आप भी छोड़ देंगे। तथा वह जो आचरण करता है सो कुल के भय से करता है, कुछ धर्मबुद्धि से नहीं करता, इसलिए वह धर्मात्मा नहीं है।

इसलिए विवाहादि कुल–सम्बन्धी कार्यों में तो कुलक्रम का विचार करना, परन्तु धर्म–सम्बन्धी कार्य में कुल का विचार नहीं करना। जैसा धर्म–मार्ग सच्चा है, उसीप्रकार प्रवर्तन करना योग्य है।[1]

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने कुल–परम्परा का त्याग कर, दिगम्बर सन्तों द्वारा प्ररूपित वीतराग धर्म को तर्क और अनुभूति की कसौटी पर परख कर अंगीकार करके, विगत बीसवीं शताब्दी में एक अनुपम कीर्तिमान स्थापित किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा की गई इस आध्यात्मिक क्रान्ति का चित्रण बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा द्वारा 'लो रोको तूफान चला रे!' – इस शीर्षक से लिखित कविता में निम्न शब्दों द्वारा किया गया है –

बोली दुनिया – अरे–अरे रे! मात–पिता का धर्म न छोड़ो,
जिस कुल में यह जन्म लिया है, उस पथ से अब मुँह मत मोड़ो।
हरी–भरी–सी कीर्तिलता है, दिग्–दिगन्त में व्याप्त तुम्हारी,
'यह लो यह लो सिंहासन लो' लेकिन रक्खो लाज हमारी।।
अरे! तुम्हारे इस निश्चय से, भूतल पर भूचाल मचा रे!
पाखण्डों के महल ढहाता, लो रोको तूफान चला रे।।
उत्तर मिला – धर्म शिशु–जननी के अंचल में नहिं पलता है,
और पिता की परम्परा से बँध कर धर्म नहीं चलता है।।
अरे! लोक की सीमाओं को, तोड़ धर्म का स्यन्दन[2] चलता,
ज्ञान–चेतना के अंचल में, प्यारा धर्म निरन्तर पलता।।

---

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 216 2. स्यन्दन = रथ

जिसकी करवट से संशय का, चिर-सिंहासन डोल चला रे।
पाखण्डों के महल ढहाता, लो रोको तूफान चला रे।।

पूज्य गुरुदेवश्री की सत्य-निष्ठा एवं मोक्षमार्ग की निश्छल निरूपणा ने लाखों पात्र जीवों को मोक्षमार्ग पर चलने की राह बताई है; यही कारण है कि वे युगपुरुष हम सबके आदर्श बन गये हैं।

2. परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी

बहुत-से लोग शास्त्रों में लिखी हुई बातों को बिना परीक्षा किये मानते हैं। परीक्षा किये बिना सत्य-असत्य का निर्णय नहीं होता और निर्णय किये बिना आज्ञा मानना, अन्य-मतियों द्वारा अपने-अपने शास्त्रों की आज्ञा मानने जैसा ही हुआ। यह तो पक्ष से आज्ञा मानना है। आज्ञा का सही आशय और प्रयोजन समझना ही आज्ञा मानना है।

मोक्षमार्ग में देव-गुरु-धर्म तथा जीवादि सात तत्त्वों का निर्णय प्रयोजनभूत है, अतः इनकी परीक्षा अवश्य करना चाहिए तथा जिन ग्रन्थों में इनके सच्चे स्वरूप का वर्णन किया हो, उनमें कहे गए द्वीप-समुद्र, स्वर्ग-नरक आदि का स्वरूप ग्रन्थानुसार मानना चाहिए, क्योंकि इनकी परीक्षा करना सम्भव नहीं है। जो प्रयोजनभूत बातों को यथार्थ कहता है, वह अप्रयोजनभूत बातों को अन्यथा क्यों कहेगा? जिनमत के प्रवक्ता वीतराग और सर्वज्ञ हैं, अतः उनके वचन असत्य नहीं हो सकते - ऐसा मानकर उनके सम्बन्ध में विकल्प नहीं करना चाहिए।

प्रश्न - यदि जिनदेव के वचन अन्यथा नहीं हो सकते तो जीवादि तत्त्वों की परीक्षा करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर - स्वयं विचार करके निर्णय किये बिना उनकी प्रतीति नहीं हो सकती, अतः इनके स्वरूप का विचार करके निर्णय करना आवश्यक

है। यदि मात्र आज्ञा मानने से ही प्रतीति हो जाती तो ग्रैवेयक तक जानेवाले मुनि भी मिथ्यादृष्टि क्यों रहते हैं? इसलिए परीक्षा करके आज्ञा मानने पर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होता है।

कुछ लोग परीक्षा तो करते हैं, परन्तु मात्र बाह्य-चिह्नों से अर्थात् तप-शील-संयम, पूजा-प्रभावना, चमत्कारादि तथा इष्ट-प्राप्ति से प्रभावित होकर ही जैनधर्म को सच्चा मान लेते हैं। जैनधर्म में कहे गए वस्तुस्वरूप और वीतरागभावरूप धर्म का सच्चा निर्णय नहीं करते; अतः उन्हें भी सच्ची तत्त्व-प्रतीति नहीं होती।

● यह सम्पूर्ण प्रकरण, मूल ग्रन्थ से अवश्य पढ़ने और विचारने योग्य है। उक्त दोनों प्रकार के मिथ्यादृष्टियों को **भोले मिथ्यादृष्टि** कहा जा सकता है, क्योंकि भोलेपन के कारण ये कुल अथवा शास्त्र की आज्ञा मानकर धर्माचरण करते हैं। इन्हें औरों से भला बताते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं -

इतना तो है कि जिनमत में पाप की प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती और पुण्य के निमित्त बहुत हैं तथा सच्चे मोक्षमार्ग के कारण भी वहाँ बने रहते हैं, इसलिए जो कुलादि से भी जैनी हैं, वे औरों से तो भले ही हैं।

3. सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाराभासी

जो लोग, आजीविका व यश के लोभ से तथा कुछ विषय-कषाय सम्बन्धी प्रयोजन की पूर्ति के लिए कपट से जैनी होते हैं, वे पापी ही हैं। जैनधर्म का सेवन तो विषय-कषाय का नाश करने के लिए किया जाता है, परन्तु उसके द्वारा विषय-कषाय की पूर्ति की वांछा रखना अति तीव्र कषाय के बिना सम्भव नहीं है - ऐसे मिथ्यादृष्टियों को **बेईमान मिथ्यादृष्टि** कहना उचित है, क्योंकि इन्हें धर्म नहीं करना है,

बल्कि सुविधाओं के लिए धर्मात्मा दिखना है अर्थात् ये धर्म को बेचना चाहते हैं।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिनशासन की अन्तर्बाह्य प्रभावना के परिणामों से बाँधे गए पुण्योदय से सहज ही अनुकूल संयोग बनते हैं और गृहस्थ भूमिका में राग होने से लोग उन्हें स्वीकार भी करते हैं। यह तो प्रकृति की सहज व्यवस्था है। पण्डितजी ने सुविधाएँ लेने-देने का निषेध नहीं किया, अपितु सुविधाओं के उद्देश्य से धर्माचरण करने का निषेध किया है। मुनिराजों के आहार आदि की व्यवस्था के सन्दर्भ में उन्होंने यह बात अच्छी तरह स्पष्ट की है।

4. धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी

यहाँ **धर्मबुद्धि** से आशय मात्र आत्मकल्याण का प्रयोजन मुख्य रखने से है, तीसरे प्रकार के व्यवहाराभासियों से भिन्न ये लोग मात्र मुक्ति की वांछा से धर्म-साधन करते हैं। **धर्मधारक** से आशय भक्ति, पूजा, दया, दान, व्रत, संयम आदि बाह्याचरण करने से है।

लौकिक सुख-सुविधा आदि की कामना न रखकर, मात्र मुक्ति की कामना से बाह्य-धर्माचरण करते हुए भी जो लोग, बाह्य-क्रिया में ही धर्म मानकर सन्तुष्ट होते हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग-धर्म के लिए प्रयत्न नहीं करते, वे भी धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी हैं - ऐसे जीवों को **ईमानदार मिथ्यादृष्टि** कहना उचित है, क्योंकि वे धर्म का प्रदर्शन नहीं करना चाहते, उसे बेचना नहीं चाहते; अपितु मुक्ति-प्राप्ति के लिए सच्चे हृदय से धर्म करना चाहते हैं, **परन्तु सच्चे धर्म का स्वरूप नहीं जानते, इसलिए मिथ्यादृष्टि हैं।**

ऐसे जीव, धर्म करने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु आत्मानुभूति स्वरूप निश्चय रत्नत्रयधर्म को

न जानकर, मात्र स्वयं के द्वारा मान्य तथाकथित व्यवहार रत्नत्रयात्मक शुभ-विकल्पों में ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है –

1. पण्डित प्रवर दौलतरामजी कृत छहढाला की तीसरी ढाल में समागत **'परद्रव्यनि तैं भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त्व भला है'** – इस पंक्ति के अनुसार जो शुद्धात्मतत्त्व की रुचि-प्रतीतिरूप निश्चय सम्यक्त्व को नहीं जानते और मात्र देव-शास्त्र-गुरु तथा जीवदि सात तत्त्वों के विकल्पात्मक श्रद्धान में ही सन्तुष्ट रहते हैं।

2. **'आपरूप को जानपनो सो, सम्यग्ज्ञान कला है'** – इस पंक्ति में कहे अनुसार, जो देहादि और रागादि से भिन्न आत्मा को नहीं जानते और मात्र जैन-शास्त्रों के पठन-पाठन में ही सन्तुष्ट रहते हैं।

3. **'आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यक् चारित सोई'** – इस पंक्ति में कहे अनुसार, जिन्हें आत्मलीनतारूप वीतरागदशा का अंश भी प्रगट नहीं हुआ और मात्र व्रत-शील-संयमादि बाह्याचरण में ही सन्तुष्ट रहते हैं।

इसप्रकार मात्र व्यवहार में ही सन्तुष्ट रहने के कारण ये जीव धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी कहलाते हैं। इनके व्यवहार श्रद्धान-ज्ञान-आचरण में भी अनेक विपरीतताएँ तथा विकृतियाँ पाई जाती हैं, जिनका विस्तृत वर्णन मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अध्याय से जानने योग्य है।

उभयाभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप

जैनाभास के प्रकरण में उभयाभास का वर्णन करना, पण्डित टोडरमलजी के मौलिक चिन्तन का परिचय देता है। ऐसा लगता है कि ऐसे चिन्तन की अव्यक्त प्रेरणा, उन्हें आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा

में वर्णित उभयैकान्त से मिली है। यद्यपि पंचास्तिकाय की टीका के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन, दोनों ने निश्चयाभासी एवं व्यवहाराभासी का संक्षिप्त विवेचन तो किया है, जिसका विस्तार पण्डित टोडरमलजी ने किया है, लेकिन उभयाभासी प्रकरण तो उनके चिन्तन की मौलिक विशेषता ही है।

उभयाभासियों की मानसिक दुविधा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं – **जो जीव ऐसा मानते हैं कि जिनमत में निश्चय-व्यवहार, दोनों नय कहे हैं, इसलिए हमें उन दोनों को अंगीकार करना चाहिए – ऐसा विचार कर, जैसे केवल निश्चयाभास के अवलम्बियों का कथन किया था, वैसे तो निश्चय का अंगीकार करते हैं और जैसे, केवल व्यवहाराभास के अवलम्बियों का कथन किया था, वैसे व्यवहार का अंगीकार करते हैं।**

यद्यपि इसप्रकार अंगीकार करने में दोनों नयों के परस्पर विरोध है, तथापि करें क्या? सच्चा तो दोनों नयों का स्वरूप भासित हुआ नहीं और जिनमत में दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को छोड़ा भी नहीं जाता, इसलिए भ्रमसहित दोनों नयों का साधन साधते हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि जानना।

उक्त मानसिक दुविधा के फलस्वरूप उभयाभासी द्वारा किये जाने वाले तत्त्व-अभ्यास में अनेक भूलें उत्पन्न हो जाती हैं। यहाँ उनकी कुछ प्रमुख विपरीत मान्यताओं का, उनके संक्षिप्त निराकरण सहित वर्णन किया जा रहा है –

1. विपरीत मान्यता – मोक्षमार्ग दो प्रकार का है – निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग?

निराकरण – मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो

प्रकार का है। वीतराग भावरूप मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहना, **निश्चय मोक्षमार्ग** है और जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहना **व्यवहार मोक्षमार्ग** है।

2. विपरीत मान्यता – निश्चय–व्यवहार, दोनों समानरूप से उपादेय हैं?

निराकरण – निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है; अतः दोनों के स्वरूप में परस्पर विरोध है; इसप्रकार दोनों को एक जैसा उपादेय मानना मिथ्या है।

3. विपरीत मान्यता – सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभव निश्चय और व्रत, शील, संयम आदिरूप प्रवृत्ति व्यवहार है?

निराकरण – यह मान्यता भी गलत है, क्योंकि किसी द्रव्यभाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार – ऐसा नहीं है। एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना, **निश्चय** है और उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना, **व्यवहार** है; अतः किसी को निश्चय मानना और किसी को व्यवहार मानना भ्रम है।

उपर्युक्त मान्यता में परस्पर विरोध भी है, क्योंकि अपने को शुद्ध मानने में व्रतादि करने की आवश्यकता ही नहीं है और यदि व्रतादि साधन द्वारा शुद्ध होना चाहते हैं तो वर्तमान में अपने को शुद्ध मानना मिथ्या है।

शुद्धात्मा का अनुभव, सच्चा मोक्षमार्ग है, इसलिए उसे **निश्चय मोक्षमार्ग** कहते हैं। यहाँ शुद्ध शब्द से आशय पर–भावों से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न अर्थात् एकत्व–विभक्त स्वभाव से है। संसार अवस्था में सिद्ध अवस्था मानना, भ्रम है। व्रत–तप आदि को

निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से मोक्षमार्ग कहा है; ये वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं हैं।

4. विपरीत मान्यता – श्रद्धान निश्चय का रखना चाहिए और प्रवृत्ति व्यवहाररूप करना चाहिए? – इसप्रकार दोनों नयों को अंगीकार करना?

निराकरण – एक ही नय का श्रद्धान करने से एकान्त मिथ्यात्व होता है; अतः निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है।

प्रवृत्ति में नय लागू नहीं होते, क्योंकि प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। जिस द्रव्य की परिणति हो, उसे उसी की कहना **निश्चयनय** है और उसे अन्य द्रव्य की कहना, **व्यवहारनय** है। इसप्रकार कथन करने में अभिप्राय के अनुसार दोनों नय बनते हैं, प्रवृत्ति स्वयं में किसी नयरूप नहीं होती।

अतः **निश्चयनय** से जो निरूपण किया हो, उसे **सत्यार्थ** मानना चाहिए और **व्यवहारनय** से जो कहा गया हो, उसे **असत्यार्थ** मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिए।

5. विपरीत मान्यता – इस नय से आत्मा ऐसा है और इस नय से ऐसा है अर्थात् आत्मा निश्चयनय से शुद्ध है, व्यवहारनय से अशुद्ध है?

निराकरण – आत्मा तो जैसा है, वैसा ही है, उसमें नय द्वारा निरूपण करने का अभिप्राय पहचानना चाहिए। सिद्ध और संसारी को जीवत्वपने की अपेक्षा समान मानना तथा संसारी और सिद्ध पर्याय की अपेक्षा दोनों में अन्तर मानना चाहिए।

संसारी जीव की पर्याय में रागादि तथा मतिज्ञान आदि निश्चयनय से हैं, लेकिन त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा व्यवहार से कहा गया है - ऐसा मानना चाहिए।

6. विपरीत मान्यता - यथायोग्य व्रतादि क्रिया तो करना चाहिए, परन्तु उसमें ममत्व नहीं करना चाहिए?

निराकरण - हम स्वयं जिसके कर्ता हैं, उसमें ममत्व कैसे न किया जाए? और यदि हम कर्ता नहीं हैं तो **व्रतादि करना चाहिए** - यह भाव कैसे सम्भव है? यदि हम कर्ता हैं तो व्रतादि के भाव अपने कर्म हुए। इसप्रकार कर्ता-कर्म सम्बन्ध स्वयमेव हो ही गया, अतः उपर्युक्त मान्यता भ्रम है।

बाह्य व्रतादि क्रियाएँ शरीर की क्रिया हैं। आत्मा, उनका कर्ता नहीं है, अतः उनमें कर्तृत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि नहीं करना चाहिए। व्रतादि में जो शुभोपयोग है, वह आत्मा का परिणाम है; अतः अपने को पर्यायदृष्टि से उनमें कर्तृत्व-ममत्व भी करना चाहिए, परन्तु इस **शुभोपयोग को बन्ध का ही कारण जानना** चाहिए, मोक्ष का कारण नहीं। जहाँ व्रत और अव्रत अर्थात् परद्रव्य के त्याग-ग्रहण का कुछ भी विकल्प नहीं है - ऐसे उदासीन **शुद्धोपयोग को ही मुक्ति का मार्ग मानना** चाहिए।

शुभाशुभभावों के ग्रहण-त्याग के सन्दर्भ में मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 255-256 पर निम्नलिखित कथन विचारणीय है -

इसप्रकार शुद्धोपयोग ही को उपादेय मानकर, इसका उपाय करना और शुभोपयोग-अशुभोपयोग को हेय जानकर, उनके त्याग का उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके, वहाँ अशुभोपयोग को छोड़कर, शुभ में ही प्रवर्तन करना, क्योंकि शुभोपयोग की अपेक्षा

अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है तथा शुद्धोपयोग हो, तब तो परद्रव्य का साक्षीभूत ही रहता है, वहाँ तो कुछ परद्रव्य का प्रयोजन ही नहीं है। शुभोपयोग हो, वहाँ बाह्य-व्रतादिक की प्रवृत्ति होती है और अशुभोपयोग हो, वहाँ बाह्य-अव्रतादिक की प्रवृत्ति होती है; क्योंकि अशुद्धोपयोग के और परद्रव्य की प्रवृत्ति के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है तथा पहले अशुभोपयोग छूटकर, शुभोपयोग हो, फिर शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग हो - ऐसी क्रम-परिपाटी है।

7. विपरीत मान्यता - शुभोपयोग शुद्धोपयोग का कारण है?

निराकरण - जैसे, अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, वैसे शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है; इसलिए यदि इनमें कारण-कार्यपना माना जाए तो मात्र शुभोपयोग ही शुद्धोपयोग का कारण नहीं ठहरेगा, अशुभोपयोग को भी शुभोपयोग का कारण मानना होगा, परन्तु ऐसा मानना तो विपरीत है, क्योंकि द्रव्यलिंगी को उत्कृष्ट शुभोपयोग होने पर भी शुद्धोपयोग नहीं होता; इसलिए इनमें परमार्थ से कारण-कार्यपना मानना योग्य नहीं है।

मात्र मन्दकषायरूप शुभोपयोग, निःकषायरूप शुद्धोपयोग का कारण नहीं हो सकता। हाँ, यदि शुभोपयोग होने पर शुद्धोपयोग का पुरुषार्थ करें तो यह हो सकता है, परन्तु यदि शुभोपयोग को ही भला जानकर, उसी का साधन करें तो शुद्धोपयोग कैसे होगा? इसलिए मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण हो ही नहीं सकता; लेकिन सम्यग्दृष्टि को भी शुभोपयोग होने पर शुद्धोपयोग का पुरुषार्थ करने के अवसर अधिक हैं, इस अपेक्षा व्यवहार से शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण कहते हैं।

उभयाभासी जीव की परिणति

उभयाभासी जीव की अनेक मान्यताएँ, निश्चयाभासी जैसी होने पर भी वे व्यवहार-साधन को भला जानते हैं, इसलिए स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करते, व्रतादि शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति करने से अन्तिम ग्रैवेयेक तक भी चले जाते हैं। निश्चयाभास की प्रबलता से अशुभ प्रवृत्ति करके कुगति में भी जा सकते हैं। परिणामों के अनुसार फल प्राप्त करते हैं, परन्तु संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं, सच्चा मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं करते।

सम्यक्त्व-सन्मुख मिथ्यादृष्टि का स्वरूप

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी और उभयाभासी की मीमांसा करने के बाद पण्डितजी ने सम्यक्त्व-सन्मुख मिथ्यादृष्टि का वर्णन किया है। यद्यपि उन्होंने जैनाभासी मिथ्यादृष्टियों के अन्तर्गत ही सम्यक्त्व-सन्मुखता का भी वर्णन किया है, तथापि सम्यक्त्व-सन्मुख मिथ्यादृष्टि और निश्चयाभासी आदि तीनों जैनाभासियों में बहुत अन्तर है।

उक्त तीनों जैनाभासी नय-विवक्षा को न जानकर, शास्त्रों का विपरीत अभिप्राय ग्रहण करके मिथ्यात्व को दृढ़ करते हैं अर्थात् वे विपरीत शास्त्राभ्यासी हैं; जबकि सम्यक्त्व-सन्मुख जीव तो देशना सुनकर, आत्महित की भावना जाग्रत करके तत्त्व-निर्णय के लिए प्रयत्नशील होता है। उसका यथार्थ तत्त्व-निर्णय, उसे उक्त तीनों जैनाभासों से बचाते हुए प्रायोग्यलब्धि में पहुँचा देता है अर्थात् उसके दर्शनमोह के साथ समस्त कर्मों के स्थिति-अनुभाग घटने लगते हैं; लेकिन यदि वह जिनवाणी का यथार्थ अभिप्राय ग्रहण न करके विपरीत अभिप्राय ग्रहण कर ले तो उक्त तीन जैनाभासों में से किसी एक जैनाभास में भटक कर,

सम्यक्त्व-सन्मुखता के बदले पूर्ववत् विपरीत मान्यता पुष्ट करके मिथ्यात्व दृढ़ करने लगेगा।

प्रश्न – क्या जब तक सम्यक्त्व न हो, तब तक किसी न किसी आभास का रहना अनिवार्य है?

उत्तर – उक्त तीन प्रकार के जैनाभास तो उन जीवों की मुख्यता से कहे गए हैं, जो जीव जैनकुल में जन्मे हैं व जैन शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, परन्तु जिनागम का सही अभिप्राय नहीं समझ पाए; इसलिए जैनाभासी ही कहे जाते हैं, अतः विपरीत दृष्टिपूर्वक शास्त्र-अभ्यास करनेवालों को भी उक्त आभास होते हैं।

जैनेतर मत में जन्मे जीवों की विपरीत मान्यता का उल्लेख मोक्षमार्ग प्रकाशक के पाँचवें और छठवें अधिकार में किया गया है और एकेन्द्रिय आदि सभी मिथ्यादृष्टियों में पाये जाने वाले अगृहीत मिथ्यात्व का वर्णन, वहीं चौथे अधिकार में किया गया है। यद्यपि अगृहीत मिथ्यात्वरूप परिणति, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रियपर्यन्त चारों गतियों के जीवों को करणलब्धि के अन्तिम समय तक पायी जाती है, तथापि सम्यक्त्व-सन्मुख जीव का मिथ्यात्व गलने लगता है अर्थात् उसके मिथ्यात्व की अनुभाग-शक्ति हीन होने लगती है।

प्रश्न – क्या जैनकुल में जन्मे व्यक्ति को ही सम्यक्त्व हो सकता है?

उत्तर – यदि ऐसा नियम होता तो शेष तीन गतियों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति सम्भव न होती, क्योंकि जैन-अजैन का भेद तो मुख्यतया मनुष्य गति एवं पंचम काल में ही है।

सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए कोई भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, ज्ञानी गुरु के उपदेश के निमित्त से तत्त्व-निर्णय करके, यथार्थ तत्त्व-प्रतीतिरूप

सम्यक्त्व-रत्न को पा सकता है। यमपाल चाण्डाल जैसे निम्न-कुलोत्पन्न व्यक्ति को भी सम्यक्त्व प्राप्ति का तथा इन्द्रभूति गौतम जैसे उच्च-कुलोत्पन्न, तीव्र गृहीत-मिथ्यादृष्टि जीव को भी सम्यक्त्व प्राप्ति तथा गणधरपद एवं कैवल्य-प्राप्ति का उल्लेख शास्त्रों में पाया जाता है। भगवान महावीर एवं पार्श्वनाथ के जीव ने शेर तथा हाथी के भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया था। नरक में भी अनेक जीवों द्वारा सम्यक्त्व प्राप्ति करने के उल्लेख जिनागम में प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सम्यक्त्वोत्पत्ति की पात्रता चारों गतियों में उत्पन्न संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों में होती है, परन्तु सम्यक्त्वोत्पत्ति के पूर्व वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के श्रद्धान और जिनेन्द्रकथित तत्त्वार्थश्रद्धान के साथ सामान्य सदाचार होता ही है। सम्यक्त्वोत्पत्ति के पश्चात् भी यथासम्भव जैनाचार का पालन सहज ही होता है चाहे वह किसी भी कुल में उत्पन्न क्यों न हो?

प्रश्न – उक्त विवेचन से तो ऐसा लगता है कि आप अन्य मतानुयायियों को भी सम्यग्दर्शन होना मानते हैं?

उत्तर – अरे भाई! जब प्रत्येक संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीव, सम्यक्त्व प्रगट कर सकता है तो अन्य-मतानुयायी क्यों नहीं कर सकता? वे भी तो आत्मा हैं और उनमें भी श्रद्धागुण है तथा संज्ञी-पंचेन्द्रिय होने से उनमें सम्यग्दर्शन प्रगट करने की सामान्य योग्यता भी प्रगट हो गई है।

ध्यान रहे, इस कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि वे अपनी वर्तमान मान्यता को सुरक्षित रखकर सम्यग्दृष्टि हो जाएँगे। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और सात तत्त्वों के श्रद्धान का नियम तो सबके लिए एक ही है।

लोक-व्यवहार में भी शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका आदि की

आवश्यकताएँ और व्यवस्थाएँ सबके लिए एक जैसी होती हैं; उनमें जाति, कुल, लिंग, धर्म आदि का कोई भेद नहीं होता। कैंसर आदि बीमारियाँ भी शरीर की योग्यतानुसार जाति, धर्म आदि का भेद किये बिना सबकी एक जैसी होती हैं तथा प्रत्येक को उनका इलाज कराने का अधिकार होता है, परन्तु कैंसर का इलाज तो कैंसर के अस्पताल में कैंसर के विशेषज्ञ द्वारा ही होगा। किसी भी अस्पताल में किसी भी डॉक्टर से इलाज कराना कैसे सम्भव है? यही व्यवस्था शिक्षा, आजीविका, यातायात, जीवन में प्रगति-प्रतिष्ठा आदि सभी प्रसंगों में यथासम्भव समझ लेना चाहिए। इस अपेक्षा से विचार करें तो सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए जैनधर्म में बाह्य जातिभेद, लिंगभेद को बिलकुल अहमियत नहीं दी गई है।

प्रश्न - सम्यक्त्व-सन्मुखता का प्रारम्भ कब से होता है?

उत्तर - किसी भी संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीव को सच्चे देव-गुरु-शास्त्रादि के निमित्त से सच्चे उपदेश का लाभ मिले, उसे सुनकर तथा गहराई से विचार करने पर उसका मोह मन्द हो तो उसे आत्म-हित करने की गहरी भावना उत्पन्न होती है। तब उसके मन में उठनेवाले विचारों का चित्रण पण्डित टोडरमलजी ने निम्नानुसार किया है -

"अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं; इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना, उसके निर्धार करने का उद्यम किया।"[1]

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 257

इसप्रकार आत्महित के प्रयोजन से उपदेश में सुनी गई प्रयोजनभूत बातों के निर्णय करने हेतु प्रयत्नशील होना – यही सम्यक्त्व-सन्मुखता का प्रथम बिन्दु है।

तत्त्व-निर्णय की प्रक्रिया में वह जीव, प्रयोजनभूत तत्त्वों की परीक्षा में तब तक प्रयत्नशील रहता है, जब तक कि जैसा उपदेश सुना है, वैसा ही निर्णय होकर अन्तरंग में भाव-भासित न हो जाए।

तत्त्व-निर्णय की प्रक्रिया में अन्तरंग परिणति का उल्लेख करते हुए पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 260 पर लिखते हैं –

इसप्रकार इस जानने के अर्थ कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है – इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है, इसलिए अन्तरंग प्रीति से उसका साधन करता है। इसप्रकार साधन करते हुए जब तक (1) सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो, (2) 'यह इसीप्रकार है' – ऐसी प्रतीतिसहित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो, (3) जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आए, (4) हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने; तब तक सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। यह जीव, थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा; इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा।

उक्त विवेचन में उपदेश में सुने गये **वस्तु-स्वरूप की अपूर्वता और आत्महित की भावना में अत्यन्त हर्ष होना** – ये दो बिन्दु सम्यक्त्व-सन्मुखता के विशेष लक्षण कहे जा सकते हैं।

सम्यक्त्व के पुरुषार्थ में तत्त्व-विचार की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए पण्डितजी पूर्वोक्त स्थल पर लिखते हैं –

देखो! तत्त्व-विचार की महिमा! तत्त्व-विचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं और तत्त्व-विचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।

तत्त्व-निर्णय के पश्चात् यह जीव करणलब्धि के योग्य परिणाम करता हुआ, सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तथा करणलब्धिवाला जीव, नियम से सम्यक्त्व प्राप्त करता ही है; अतः करणलब्धि की दशा ही सच्ची सम्यक्त्व-सन्मुखता है। इसीलिए पण्डित टोडरमलजी ने तत्त्व-निर्णय की प्रक्रिया के बाद पाँच लब्धियों का वर्णन किया है, जो मूल-ग्रन्थ से पठनीय है।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन सहजसाध्य है या यत्नसाध्य?

उत्तर - जन्मजात ज्ञानावरणादिक का क्षयोपशम तो हमारे प्रयत्नों के बिना ही होता है, अतः वह सहज है। कभी-कभी विशुद्धि, एकाग्रता, रुचि आदि बाह्य प्रयत्नों के द्वारा भी क्षयोपशम बढ़ता देखा जाता है, उसे कथंचित् प्रयत्नसाध्य भी कहा जा सकता है। सच्चे गुरु की देशना का योग सहज भी बन जाता है और आत्म-हित की रुचि होने पर बुद्धिपूर्वक भी बनाया जाता है। देशना का निमित्त मिलने पर बुद्धिपूर्वक विचार करके आत्म-हित की रुचि जाग्रत करना, प्रायः प्रयत्नपूर्वक ही होता है। कभी-कभी किसी बाह्य-वैराग्य आदि का प्रसंग बनने पर सहज ही आत्म-कल्याण के भाव जाग्रत होते हैं तो जीव, सत्समागम और तत्त्वाभ्यास में प्रयत्नशील होता है।

इसप्रकार क्षयोपशम, विशुद्धि और देशनालब्धि प्रयत्नपूर्वक भी होती है और सहज भी होती है।

देशना प्राप्त होने पर तत्त्व-निर्णय की प्रक्रिया तो विशेष प्रयत्नपूर्वक सम्पन्न होती है, परन्तु वह प्रयत्न भी आत्म-कल्याण की प्रेरणा से सहज होता है। तत्त्व-निर्णय में ज्ञानी गुरु अथवा साधर्मी मार्गदर्शक तो होते हैं, परन्तु सत्य समझने का पुरुषार्थ, जीव स्वयं ही करता है।

अपने ज्ञान में तत्त्व का स्वरूप कब और किसप्रकार भासित होगा - इसमें कोई बाह्य-निमित्त हस्तक्षेप नहीं कर सकता। तत्त्व-निर्णय में जीव की तत्समय की योग्यता ही समर्थ उपादान कारण है और वह योग्यता, अपने स्वकाल में सहज प्रगट होती है।

तत्त्व-निर्णय की प्रक्रिया में, क्षयोपशम ज्ञान में वस्तु-स्वरूप का निर्णय होने के साथ-साथ स्वरूप की महिमा अर्थात् रुचि भी वृद्धिंगत होती है। यह रुचि अर्थात् स्वभाव का रस ही दर्शनमोह के अनुभाग में मन्दता का निमित्त बनता है, जिससे जीव प्रायोग्यलब्धि में आता है। मात्र बहिर्लक्ष्यी शास्त्रज्ञान, मोह की मन्दता में निमित्त नहीं बनता।

प्रायोग्यलब्धि अर्थात् मिथ्यात्व की विशेष मन्दता होने पर स्वानुभूति के लिए तत्त्व-विचार आदि मानसिक प्रयत्न भी सहज होते हैं और जीव करणलब्धि में आकर सम्यक्त्व प्रगट कर लेता है। करणलब्धि में स्वरूप-सन्मुखता का अबुद्धिपूर्वक प्रयत्न, सहज होता है।

सामान्यतया किसी भी कार्य के लिए हमारी मन-वचन-काय सम्बन्धी चेष्टाओं को प्रयत्न/उद्यम/पुरुषार्थ कहा जाता है, परन्तु इन विकल्पों से तो कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। विकल्पानुसार कार्य हो भी और न भी हो। कार्य तो तत्समय की योग्यता से ही होता है, अतः व्यवहार से यत्नसाध्य कहे जाने पर भी परमार्थ से प्रत्येक कार्य अपने स्वकाल में उस द्रव्य की तत्समय की योग्यतानुसार सहज ही होता है। इस योग्यता के निर्णय से अकर्ता स्वभाव की रुचि होना ही सम्यक्त्व-सन्मुखता का पुरुषार्थ है।

इसप्रकार स्वरूप के अवलम्बन से सहजता (अकर्ता स्वभाव) की अनुभूति होने का सहज पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. नयाभास किसे कहते हैं? वह क्रिया में होता है या अभिप्राय में?
2. तीनों प्रकार के जैनाभासों की परिभाषा और उनमें पाई जानेवाली मिथ्या मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।
3. मोक्षमार्ग प्रकाशक के आधार पर तीनों जैनाभासों में पाई जानेवाली मान्यताओं का खण्डन कीजिए।
4. सम्यक्त्व-सन्मुखता में जैनाभास है या नहीं? स्पष्ट कीजिए।
5. सम्यग्दर्शन पुरुषार्थ से होता है या सहज? दोनों अपेक्षाएँ स्पष्ट कीजिए।
6. अन्य-मतानुयायियों को सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है?

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
भये हैं स्वच्छन्द न पिछानें निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान शील तप भाव ही कौ,
आतम कौ हित जानि छोड़ै नहीं मूढ़ता।
कोई व्यवहारनय निश्चय के मारग कौ,
भिन्न-भिन्न जानि, पहचानि करै उद्धता।
जब जाने, निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता।।

– पण्डित टोडरमलजी कृत
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका का मंगलाचरण

7

पक्षातिक्रान्त

निश्चय-व्यवहारनयों के स्वरूप और विषय-वस्तु की चर्चा करने के पश्चात् पक्षातिक्रान्त की चर्चा क्रम प्राप्त है; क्योंकि नयों के द्वारा वस्तु-स्वरूप का सम्यक् निर्णय करने के पश्चात् नय-विकल्पों से भी पार निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगट होती है। इसी निर्विकल्प अनुभूति को पक्षातिक्रान्त अथवा समयसार कहा जाता है।

नयपक्ष एवं पक्षातिक्रान्त की चर्चा जिनागम में विभिन्न स्थलों में अत्यन्त गहन और सूक्ष्मता से की गई है। यद्यपि उसी सन्दर्भ में इस विषय की चर्चा करना इष्ट है, तथापि हमारे लौकिक जीवन में भी पक्ष और निष्पक्ष (पक्षातिक्रान्त) दशा के अनेक प्रसंग बनते हैं, जिन पर विचार करने से जिनागम में उपलब्ध विषय को सरलता से समझा जा सकेगा; अतः यहाँ पहले कुछ लौकिक प्रसंगों के माध्यम से हमारे जीवन में घटित होनेवाले पक्षपात एवं निष्पक्षता को स्पष्ट किया जा रहा है। उसके पश्चात् प्रश्नोत्तरों के माध्यम से हम आत्मानुभूति के सन्दर्भ में उत्पन्न होनेवाले नय-पक्ष और पक्षातिक्रान्त की चर्चा करेंगे।

वास्तव में वस्तु-स्वभाव अर्थात् सत्य को स्वीकार करना, पक्षपात नहीं है, अपितु व्यक्तियों/समूहों के प्रति राग-द्वेष के आधार पर उनका समर्थन या निषेध करना पक्षपात है। यहाँ कुछ वर्तमान प्रसंगों के सन्दर्भ में इस विषय को स्पष्ट किया जा रहा है।

1. आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने दिगम्बर धर्म की सत्यता को जानकर, पहचानकर, उसे अंगीकार करते हुए स्थानकवासी सम्प्रदाय और उसमें स्वीकृत साधुवेश का त्याग कर दिया तो क्या यह कहना उचित है कि वे दिगम्बर सम्प्रदाय के पक्ष में आ गए या कुन्दकुन्दाचार्य का पक्ष करने लगे? नहीं, क्योंकि उन्हें सत्य की उपलब्धि ही दिगम्बर शास्त्रों के माध्यम से हुई, इसलिए उन्होंने डंके की चोट पर यह घोषणा की कि दिगम्बर धर्म ही सत्य है।

वे अपने श्रोताओं से भी यही अपेक्षा रखते थे कि वे उन्हें सम्प्रदाय परिवर्तन करनेवाले के रूप में न देखें, अपितु सच्चे मुक्तिमार्ग के पथिक के रूप में देखें। इसीलिए वे अपने प्रवचनों में बारम्बार कहा करते हैं कि **दिगम्बर धर्म कोई वाड़ा या सम्प्रदाय नहीं है; यह तो वीतराग-सर्वज्ञ-परमात्मा द्वारा सौ इन्द्रों और गणधरों की उपस्थिति में कहा गया वस्तु का स्वरूप है;** *अतः वे दिगम्बर धर्म के प्रबल प्रचारक होने पर भी पक्षातिक्रान्त ही हैं और हम यदि दिगम्बर धर्म का मर्म न समझकर, मांत्र कुल-परम्परा से दिगम्बर धर्म को सही मानते हैं, तो हम जरूर पक्षपाती ही हैं।*

दिगम्बर समाज के सैकड़ों विद्वानों और लाखों साधर्मियों ने पूज्य गुरुदेवश्री से दिगम्बर धर्म का मर्म समझा और उसकी श्रद्धा करने लगे; परन्तु इस सत्य को न समझनेवाले लोग कहने लगे कि ये लोग कानजीमत/सोनगढ़ पन्थ के समर्थक हो गए, परन्तु यह उनकी द्वेषपूर्ण भ्रान्ति ही है, क्योंकि पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं कि यह हमारे घर की बात नहीं है, यह तो तीर्थंकर परमात्मा का कहा हुआ तथा दिगम्बर सन्तों द्वारा शास्त्रों में गूँथा हुआ परम सत्य है; अतः पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किये गये दिगम्बर धर्म के रहस्योद्घाटन को कानजीमत/सोनगढ़ पन्थ

की संज्ञा देना इतिहास को विकृत करने का विफल प्रयास और द्वेषपूर्ण पक्षपात है।

2. एक अदालत में हत्या के आरोपी को जज के सामने प्रस्तुत किया गया। उसका वकील उसे निरपराधी सिद्ध करने हेतु और सरकारी वकील उसे अपराधी सिद्ध करने हेतु बहस करते हैं। यहाँ पक्षपात और पक्षातिक्रान्त के सन्दर्भ में निम्न परिस्थितियाँ बनती हैं –

अ. वह आरोपी, अपराधी है या निरपराधी, इससे किसी वकील को कोई प्रयोजन नहीं है। वे तो मात्र पैसे के लिए उसके पक्ष या विपक्ष में बहस कर रहे हैं तो वे पैसे के पक्षपाती हैं और सत्य से निरपेक्ष हैं।

ब. लेकिन यदि आरोपी का वकील, उसे अच्छी तरह जानता है कि वास्तव में इसने हत्या नहीं की और वह उसे न्याय दिलाने के लिए उसके पक्ष में लड़ता है तो वह फीस लेते हुए भी पक्षपाती न होकर निष्पक्ष ही है।

स. यदि वह आरोपी वास्तव में हत्यारा है और सरकारी वकील यह जानता है; इसलिए वह कानून की रक्षा के लिए उसे सजा दिलाने के लिए लड़ता है तो वह भी अपना वेतन लेते हुए भी निष्पक्ष ही है, पक्षपाती नहीं।

द. यदि जज साहब साम-दाम-दण्ड भेद से प्रभावित होकर गवाहों और सबूतों को उपेक्षा करके निर्णय देते हैं तो भले वह निर्णय सही हो, परन्तु वे पक्षपाती होंगे, निष्पक्ष नहीं; किन्तु यदि वे गवाहों और सबूतों के आधार पर अपने विवेक एवं नियमानुसार उसे अपराधी/ निरपराधी घोषित करते हैं तो वे निष्पक्ष ही हैं।

इसीप्रकार गवाहों की निष्पक्षता या पक्षपात के सम्बन्ध में भी निर्णय कर लेना चाहिए।

3. पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से प्रभावित होने पर भी कुछ लोग, अपने को निष्पक्ष घोषित करने के चक्कर में, अपने को दोनों पक्षों का समर्थक कहते हैं। जरा विचार कीजिए कि सत्य और असत्य अथवा सोना और पीतल दोनों को एक-सा जानना, निष्पक्षता कैसे हो सकती है। जो जैसा है, उसे वैसा जानकर राग-द्वेष नहीं करना ही सच्ची निष्पक्षता है। वस्तुतः राग-द्वेष ही पक्षपात है और वीतरागता ही निष्पक्षता है। ज्ञान में स्व-पर, हितकारी-अहितकारी, द्रव्य-पर्याय आदि को यथार्थ जानना - यह ज्ञान की वीतरागता है/निष्पक्षता है।

बहुत-से लोगों का तथाकथित निष्पक्षता का यही चिन्तन आज वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु और सरागी देव-शास्त्र-गुरु के बारे में है। वे कहते हैं कि किसी को अच्छा-बुरा मानने में पक्षपात है। हम तो निष्पक्ष हैं, इसलिए हम सभी देवों/धर्मों को समान मानते हैं; परन्तु उनकी यह निष्पक्षता भ्रान्ति ही है। वे नहीं जानते कि सब को वोट देने के चक्कर में उनका वोट ही व्यर्थ हो जाएगा। *वीतरागी को मोक्षमार्ग में निमित्त जानना और सरागी को मोक्षमार्ग में निमित्त नहीं मानना - पक्षपात नहीं, अपितु सत्य का पक्ष होने से निष्पक्षता है।* इसी में प्रयोजन की सिद्धि है।

ज्ञानीजन, वीतरागी देव-गुरु को भी अपने हित में निमित्तमात्र जानते हैं, उन्हें हित का कर्ता नहीं मानते; अतः उन्हें निचली भूमिका में उनके प्रति भक्ति का राग आता है, परन्तु सरागी देवादिक के प्रति उन्हें द्वेष नहीं होता, माध्यस्थ भाव रहता है; इसलिए सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्ति तथा सरागी देवादिक के समागम से दूर रहने पर भी वे निष्पक्ष हैं, लेकिन जो कुलादिक के आग्रह से यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भी भक्ति-भाव रखते हैं, तो वे भी पक्षपाती ही हैं।

वीतरागी मुनिराज, अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निन्दक-प्रशंसक आदि सभी के प्रति समभाव रखते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सबको एक जैसा मानते हैं। समभाव का अर्थ सबको एक-सा मानना नहीं है, अपितु जो जैसा है, उसे वैसा जानकर, राग-द्वेष नहीं करना, स्वरूप में समाना - यही समभाव है।

4. भारतीय राजनैतिक जगत् में आज **धर्मनिरपेक्षता** और **साम्प्रदायिकता** - इन दो शब्दों का प्रयोग बहुत होता है। यदि कोई हिन्दू नेता मुसलमानों के पक्ष की बात करता है तो उसे धर्म-निरपेक्ष कहा जाता है और हिन्दू-हितों की बात करता है तो उसे साम्प्रदायिक कहा जाता है।

वस्तु-स्थिति यह है कि भारत में वैधानिकरूप से रहनेवाले सभी जातियों तथा वर्गों के लोग, भारत के नागरिक हैं; अतः सभी को शिक्षा स्वास्थ्य, रोजगार आदि की सुविधाएँ समानरूप से मिलनी ही चाहिए। भाषा या जाति आदि के आधार पर विकास की नीतियाँ बनाना पक्षपात होगा और आवश्यकता के अनुसार, जाति आदि से निरपेक्ष रहकर विकास के प्रयास करना, निष्पक्षता कही जाएगी।

यदि कोई राष्ट्रद्रोही या आतंकवादी है तो उसे न्याय-व्यवस्था के अनुसार न्यायालय से सजा दिलाना शासन का कर्तव्य है। यदि नियमानुसार, मानवीयता के आधार पर शासक उसे क्षमा करके, फाँसी की सजा निरस्त कर दे तो भी यह निष्पक्षता होगी, परन्तु यदि राजनैतिक स्वार्थवश उसे क्षमा किया जाए या उसके लिए घोषित सजा को टाला जाए तो वह पक्षपात होगा।

5. राजनैतिक जीवन में नेता, भले पक्षपात से ग्रस्त हों, परन्तु व्यक्तिगत व्यवसाय में सभी निष्पक्ष वर्तन करते हैं। कोई भी दुकानदार

माल बेचते समय या डॉक्टर इलाज करते समय, ग्राहक या मरीज की जाति, आर्थिक स्थिति आदि से प्रभावित हुए बिना उन्हें माल बेचते हैं या चिकित्सा करते हैं। ईमानदार कर्मचारी और अधिकारी भी जनता की गरीबी-अमीरी या जाति आदि को देखे बिना योग्यता/पात्रता के आधार पर उनसे व्यवहार करते हैं तो यह उनका निष्पक्ष वर्तन कहलाता है।

6. इसी प्रकार वस्तु को उसके स्वभाव से ही देखने पर अर्थात् उसमें पर्यायगत संयोग आदि हैं या नहीं, कर्मोपाधि है या नहीं, राग है या नहीं - इत्यादि विधि-निषेध के विकल्प नहीं करने पर ही वस्तु की निर्विकल्प अनुभूति सम्भव है। एक काल्पनिक घटना के आधार पर विधि-निषेध के विकल्पों से उत्पन्न आपत्ति को समझा जा सकता है -

एक बार एक सज्जन अपने मित्र के साथ किसी पार्टी में गए। संयोगवशात् उनका सूट लॉन्ड्री से धुलकर नहीं आ पाया तो उन्हें उनके मित्र ने अति आग्रह करके अपना सूट पहना दिया। पार्टी में वह मित्र, अपने किसी अन्य मित्र से उन सज्जन का परिचय कराते हुए अन्य बातों के साथ-साथ यह भी बोल पड़े कि बस! **इन्होंने जो सूट पहन रखा है, वह मेरा है।** यह सुनकर उन सज्जन को बहुत बुरा लगा। उन्होंने अपने मित्र को टोकते हुए कहा कि यह कहने की क्या जरूरत थी? मित्र ने क्षमा माँगते हुए वादा किया कि अबकी बार ऐसी गलती नहीं होगी।

दूसरी बार पुनः किसी से परिचय देते हुए उन्होंने कहा कि **इन्होंने जो सूट पहना है, यह इन्हीं का है।** इस बार उन सज्जन को और अधिक बुरा लगा और वे नाराज होकर बोले - क्यों मेरी इज्जत उतारने पर तुले हो, क्या यह कहना भी जरूरी था? इस बार पुनः उस मित्र ने क्षमा माँगी और कहा कि अब ऐसी गलती नहीं होगी।

तीसरी बार पुनः परिचय देने का प्रसंग बना और उनसे यह कहे बिना नहीं रहा गया कि देखो, **यह सूट किसका है? – इसके बारे में मैं कुछ नहीं कहूँगा।** वे सज्जन पुनः बहुत नाराज हुए और कहा कि तुम सूट के बारे में सोचो ही नहीं – ऐसा नहीं हो सकता क्या? इस प्रसंग में सूट के बारे में कोई विकल्प न होना ही पक्षातिक्रान्त की स्थिति है।

इसीप्रकार आत्मा में कर्म नहीं है, राग नहीं है या इस सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं करना – ऐसे विकल्प भी निर्विकल्प अनुभूति में बाधक ही हैं; अतः चैतन्य रस का वेदन ही पक्षातिक्रान्त दशा है और यही मोक्षमार्ग है।

7. वस्तु की विकल्पात्मक महिमा भी नयपक्ष ही है, क्योंकि उसमें भी रागात्मक विकल्प हैं, वस्तु का रसास्वाद नहीं।

एक महिला साड़ी खरीदते समय 20–25 साड़ियों में से एक साड़ी पसन्द करती है अर्थात् जो साड़ी नहीं लेना है, उनकी कमी देखकर उन्हें नहीं लेने का निर्णय करके सामने से हटा देती है। मानो उसने व्यवहार का पक्ष छोड़ दिया और जिसे खरीदना है, उसकी खूबियों का भली-भाँति विचार कर उसे खरीद लेती है। मानो वह शुद्धनय के पक्ष में आ गई, लेकिन जब वह साड़ी पहनती है, तब उन खूबियों का अर्थात् उसकी कीमत, रंग, डिजाइन आदि का विकल्प न करके मात्र पहनने का आनन्द लेती है, मानो यही उसकी पक्षातिक्रान्त अनुभूति है।

इसप्रकार उपर्युक्त लौकिक प्रसंगों के माध्यम से पक्ष एवं पक्षातिक्रान्त दशा का स्वरूप भली-भाँति समझा जा सकता है।

• उक्त विवेचन द्वारा पक्षातिक्रान्त का स्वरूप विभिन्न उदाहरणों द्वारा समझने पर भी आत्मानुभूति के सम्बन्ध में जिनागम में उपलब्ध

प्रमाणों के सन्दर्भ में इस विषय की मीमांसा आवश्यक है; अतः इस गम्भीर एवं गहन विषय को कुछ प्रश्नोत्तरों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है -

प्रश्न 1 – नयपक्ष एवं पक्षातिक्रान्त से क्या आशय है?

उत्तर – नयपक्ष से आशय किसी नय के विषय-सम्बन्धी विकल्पों से है। आत्मा कर्मों से बँधा है, अशुद्ध है, अनेकरूप है – इत्यादि पर्यायगत भेदों का विचार करना, व्यवहारनय का पक्ष है तथा आत्मा कर्मों से अबद्ध है, शुद्ध है, एकरूप है – इत्यादि शुद्धनय के विषय-सम्बन्धी विकल्प, शुद्धनय अथवा निश्चयनय का पक्ष है। आत्मा कर्मों से बँधा है या नहीं बँधा है, इसप्रकार कर्मों की अपेक्षा विचार न करके उसे मात्र चैतन्यस्वरूप ही अनुभव करना, पक्षातिक्रान्त दशा है।

इस सन्दर्भ में समयसार, गाथा 142 की आत्मख्याति टीका का पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत भावार्थ अवश्य ध्यान देने योग्य है, जो इसप्रकार है -

जीव कर्म से बँधा है तथा नहीं बँधा हुआ है – यह दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया, किसी ने अबन्ध पक्ष लिया तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण किया; परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वही शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर, उसरूप समयसार को – शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयपक्ष को ग्रहण करना, राग है; इसलिए समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वस्तु-स्वभाव का

अनुभव, पक्षातिक्रान्त दशा है तथा स्वभाव-सम्बन्धी विकल्प, शुद्धनय का पक्ष है और संयोग विकार या भेद-सम्बन्धी विकल्प, व्यवहारनय का पक्ष है।

प्रश्न 2 – जब प्रमाण एवं नयों के बिना वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता तो नय-पक्ष छोड़ने से आत्मानुभूति कैसे हो जाएगी?

उत्तर – इस प्रश्न का उत्तर आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार कलश 69 में दिया है। वह कलश इस प्रकार है –

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः, त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।

जो नय-पक्ष-पात को छोड़कर, सदा स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं और जिनका चित्त विकल्प-जाल से रहित शान्त हो गया है, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

इसके भावार्थ से स्पष्ट किया गया है कि **जब तक कुछ भी पक्ष-पात (विकल्प) रहता है तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्ष-पात दूर हो जाता है, तब वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।**

प्रश्न 3 – जब अनुभूति, पक्षान्तिक्रान्त होती है तो नय-विकल्पों की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – नयों का प्रयोग, विकल्पात्मक भूमिका में तत्त्वों का निर्णय करने के लिए ही होता है, आत्माराधना के समय नहीं। अनुभव के काल में तो नय-सम्बन्धी सर्व विकल्प विलय को प्राप्त होते हैं। द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 268 में यही आशय निम्नलिखित

शब्दों में व्यक्त किया गया है –

तच्चाणेसणकाले, समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये, पच्चक्खो अणुहवो जह्मा।।

तत्त्वान्वेषण–काल में ही आत्मा, युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय–व्यवहारनयों द्वारा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय वे विकल्प नहीं होते, क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।

जब तक आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो जाता, तब तक उसके विभिन्न पक्षों (पहलुओं) को जानने के विकल्प उठना स्वाभाविक ही है। उन विकल्पों का समाधान, प्रत्यक्षानुभूति होने पर ही होता है। श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 24 में कहा भी है –

एवमात्मा यावद्व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्त्वमनुभवति तावत् परोक्षानुभूतिः। प्रत्यक्षानुभूतिर्नयपक्षातीता।

इसप्रकार आत्मा जब तक व्यवहार और निश्चय के द्वारा तत्त्व का अनुभव करता है, तब तक परोक्षानुभूति होती है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत होती है।

इस सन्दर्भ में इसी ग्रन्थ में पृष्ठ 35 पर देवदत्त द्वारा राजा से अपूर्व और परोक्ष घोड़ों की चर्चा किए जाने का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि राजा उन घोड़ों के कद, रंग आदि अनेक धर्मों के बारे में विकल्प उठाकर पूछता है और जब वे घोड़े, राजा के सामने प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाते हैं, तब सब कुछ प्रत्यक्ष स्पष्ट हो जाने से विकल्पों का शमन सहज हो जाता है।

परोक्ष पदार्थ की चर्चा होने पर उसमें रहने वाले अनन्त धर्मों के बारे में विकल्प का उठना स्वाभाविक है, अतः शुद्धात्म तत्त्व के निर्णय

के काल में अनेक विकल्प सहज उठते हैं तथा प्रत्यक्ष अनुभव होने पर उन विकल्पों का शमन हो जाना स्वाभाविक है, सहज सिद्ध है; अतः प्रत्यक्षानुभूति, नयपक्षातीत-विकल्पातीत है।

प्रश्न 4 – यदि आत्मानुभूति में सभी नयों का पक्ष छूट जाता है तो नयों को जानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – नयों की उपयोगिता के प्रकरण में इस बात की चर्चा विस्तार से की गई है, अतः जिज्ञासु पाठकों से अनुरोध है कि एक बार पुनः उस प्रकरण को पढ़ लें। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार की 6वीं-7वीं गाथा में शुद्धात्मा का स्वरूप बताने के तत्काल बाद 8वीं से 12वीं गाथा तक निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादकपना तथा व्यवहारनय की अभूतार्थता और शुद्धनय की भूतार्थता का वर्णन किया है। आचार्य उमास्वामी ने भी **प्रमाणनयैरधिगमः** सूत्र द्वारा प्रमाण-नयों की उपयोगिता बताई है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आत्मानुभूति के लिए नयों को जानना भी जरूरी है, लेकिन यदि नय-विकल्पों में उलझे रहकर, आत्मा का साक्षात्कार करके निर्विकल्प अनुभूति का सहज पुरुषार्थ नहीं किया जाएगा तो भी आत्मानुभूति नहीं होगी; अतः विषय-कषाय, धन्धे-व्यापार तथा अन्य अनर्थदण्डरूप विकल्प-जाल को कम करके जिनागम का अभ्यास करना चाहिए, जो कि प्रमाण-नय का स्वरूप जाने बिना सम्भव नहीं हैं। इन्हें जानने का निषेध करना जिनागम की तीव्र विराधना है, जिससे बचना प्रत्येक आत्मार्थी का कर्तव्य है।

प्रश्न 5 – समयसार में भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होना कहा है। यहाँ तक कि **निश्चय नयाश्रित श्रमण ही, प्राप्ति करें निर्वाण की** तथा **तजे शुद्धनय बन्ध है, गहे शुद्धनय मोख** – ऐसे अनेक कथन

उपलब्ध हैं, जो शुद्धनय का अवलम्बन करने से आत्मानुभूति होने के विधान का प्रतिपादन करते हैं; अतः यहाँ शुद्धनय का पक्ष छोड़ने की बात क्यों कही जा रही है?

उत्तर – पक्षातिक्रान्त होने की बात भी समयसार में ही कही गई है। आचार्य अमृतचन्द्र, कर्ता-कर्म अधिकार में **नयपक्ष के संन्यास (त्याग) की भावना को कौन नहीं नचाएगा?** – ऐसा कहकर 69वें कलश में कहते हैं कि **विकल्पजाल से रहित शान्त चित्तवाले स्वरूप गुप्त पुरुष साक्षात् अमृत का पान करते हैं।** इसके बाद उन्होंने कलश क्रमांक 70 से 89 तक 20 कलशों की रचना की है, जिसमें दोनों नयों के पक्षपात रहित, तत्त्ववेदी पुरुषों के लिए चैतन्य तो बस चैतन्य ही है – ऐसा कहकर नयपक्ष छोड़ने की प्रेरणा दी है। बानगी के लिए यहाँ कलश क्रमांक 70 दिया जा रहा है –

एकस्य बद्धो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी-च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।

जीव कर्म से बँधा है – ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव कर्म से नहीं बँधा है – ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के बारे में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपातरहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव, चित्स्वरूप ही है (अर्थात् चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा निरन्तर उनके अनुभव में आता है।)

इसके पश्चात् *बद्धो* के स्थान पर मूढो, रक्तो, दुष्टो, कर्ता आदि अन्य धर्मों का उल्लेख करते हुए हूबहू वैसे ही 19 कलश और रचे हैं।

वास्तव में शुद्धनय का पक्ष छोड़ना तथा शुद्धनय का आश्रय करना – इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों जगह शुद्धनय शब्द का आशय अलग-अलग है। जब शुद्धनय का पक्ष छोड़ने की बात

कही जाए तो शुद्धनय-सम्बन्धी विकल्प छोड़ने की बात समझना चाहिए, शुद्धनय के विषय की बात नहीं समझना चाहिए तथा जब शुद्धनय के आलम्बन की बात कही जाए, तब शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की बात समझना चाहिए, शुद्धनयरूप पर्याय या शुद्धनय-सम्बन्धी विकल्पों की नहीं।

यह भी विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि शुद्धनय का विकल्प मात्र छोड़ने की बात है, उसका विषय नहीं छुड़ाया। जबकि व्यवहारनय का विकल्प तो छुड़ाया ही है, उसके विषयभूत संयोग, विकार और भेद का लक्ष्य भी छुड़ाया है। यही कारण है कि मात्र जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है।

प्रश्न 6 – तत्त्वाभ्यास की प्रक्रिया में ही नय-पक्ष (विकल्प) होते हैं या इसके अतिरिक्त भी नय-पक्ष होते हैं?

उत्तर – अनादि से हमने शरीरादि पर-पदार्थों को ही आत्मा माना है। इस अनादि अगृहीत मान्यता को व्यवहारनय का पक्ष बताते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा, समयसार की 11वीं गाथा के भावार्थ में लिखते हैं –

प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं तथा जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश भी शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है, वह कहीं-कहीं पाया जाता है; इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर, उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से

सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय-सम्यक्त्व नहीं हो सकता – ऐसा आशय समझना चाहिए।

उक्त गद्यांश में पण्डितजी ने भेदरूप व्यवहार का पक्ष अनादि से है – यह बात स्वीकार करते हुए उसका फल संसार ही बताया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि व्यवहार के पक्ष का फल संसार कहा है, व्यवहारनय का फल नहीं। व्यवहारनय तो ज्ञानी को ही होता है, जबकि उसका पक्ष अनादि से अज्ञानी को है। यहाँ देहादि में एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व को ही व्यवहार का पक्ष कहा है।

अनादिकाल से इस जीव को कभी शुद्धनय का पक्ष भी नहीं आया; शुद्धनयरूप परिणमन या उसके आश्रय की तो बात ही दूर रही। शुद्धनय के पक्ष से आशय शुद्धात्मतत्त्व की बात सुनकर, अपूर्वता भासित होना, प्रसन्नता होना, उसके अनुभव की प्यास लगना आदि सम्यक्त्व-पूर्व होनेवाले भावों से है।

यहाँ यह स्पष्ट समझना चाहिए कि अज्ञानी जीव को तत्त्व-निर्णय की प्रक्रिया में व्यवहारनय का विषयभूत आत्मा, आत्मानुभूति के लिए प्रयोजनभूत नहीं है; अतः वह मात्र जानने योग्य है और शुद्धनय का विषयभूत शाश्वत ध्रुव चैतन्य पिण्ड शुद्धात्मा ही वास्तविक आत्मा है; अतः उसी का अवलम्बन करने योग्य है, यह शुद्धनय का पक्ष है – ऐसा यथार्थ निर्णय होने पर ही जीव को आत्मानुभूति की पात्रता प्रगट होती है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने शुद्धनय का फल मोक्ष बताया है, शुद्धनय के पक्ष का फल नहीं। पहले व्यवहार का पक्ष छूटकर, शुद्धनय का पक्ष प्रगट होता है, फिर शुद्धनय का पक्ष भी छूटकर, पक्षातिक्रान्त अर्थात् निर्विकल्प अनुभूति प्रगट होती है। यही आशय श्रुतभवनदीपक

नयचक्र, पृष्ठ 131-132 में व्यक्त निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया गया है -

यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारो निवर्तते तथा निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते। यथा निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते तथा स्वपर्यवसितभावेनैकत्व-विकल्पोऽपि निवर्तते। एवं हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसितस्वभाव, स एव नयपक्षातीतः।

जिसप्रकार सम्यक् व्यवहार से मिथ्या व्यवहार की निवृत्ति होती है, उसीप्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की भी निवृत्ति हो जाती है। जिसप्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की निवृत्ति होती है; उसीप्रकार स्वपर्यवसितभाव (परनिरपेक्ष स्वाश्रित स्वभाव) से एकत्व का विकल्प भी निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार जीव का स्वपर्यवसितस्वभाव ही नयपक्षातीत है।

अज्ञानी और ज्ञानी, दोनों को होनेवाले नयपक्ष तथा पक्षातिक्रान्त दशा का उल्लेख करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा समयसार, गाथा 143 की टीका के भावार्थ में लिखते हैं -

जैसे, केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञाता-द्रष्टा) हैं, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करते हैं, तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही हैं, यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाए तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है, प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्रमोह का राग रहता है और जब नयपक्ष को छोड़कर, वस्तुस्वरूप को मात्र जानते ही हैं, तब उससमय श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं - ऐसा जानना।

प्रश्न 7 – सम्यग्दर्शन होने के बाद नयपक्ष होता है या नहीं?

उत्तर – सम्यग्दर्शनरूप श्रद्धा में स्वरूप की निर्विकल्प प्रतीति बनी रहती है तथा ज्ञान भी वस्तु के दोनों पक्षों को यथावत् जानता है; फिर भी स्वरूप में पुन-पुनः स्थिरता के लिए वस्तु के दोनों पक्षों का रागात्मक विचार सहज होता है, जिसे नय-पक्ष कहा जा सकता है।

पण्डित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में ज्ञानी को आत्मानुभूति के पूर्व होनेवाले प्रयत्नों की चर्चा निम्नलिखित शब्दों में की है –

वही सम्यक्त्वी, कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है, वहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्व-पर का करे, नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्मरहित केवल चैतन्य-चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने; पश्चात् पर का भी विचार छूट जाये, केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ अनेक प्रकार निजस्वरूप में अहंबुद्धि धरता है – चिदानन्द हूँ, सिद्ध हूँ, इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्द-तरंग उठती है, रोमांच हो आता है; तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाए, केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, वहाँ सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन-ज्ञानादिक का व नय-प्रमाणादिक का भी विचार विलय हो जाता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा तो ज्ञानी पक्षातिक्रान्त ही होते हैं, परन्तु चारित्रमोहोदय के निमित्त से होने वाले विकल्पों की अपेक्षा उन्हें भी नय-सम्बन्धी विकल्प होते हैं, जिन्हें नयपक्ष कहा जा सकता है।

प्रश्न 8 – अज्ञानी को मात्र व्यवहार का पक्ष होता है या कभी शुद्धनय का पक्ष भी होता है?

उत्तर – अज्ञानी को अनादि से अगृहीत मिथ्यात्व में होनेवाले व्यवहार का पक्ष तो है ही, परन्तु नयों का सम्यक् प्रयोग न होने से उसे निश्चयाभास, व्यवहाराभास, उभयाभास के रूप में एकान्त नयपक्ष भी उत्पन्न हो जाता है। आत्मा को एकान्त शुद्ध मानकर, पर्याय में भी रागादिक का सर्वथा निषेध मानने का मिथ्या अभिप्राय, एकान्त शुद्धनय का पक्ष है।

प्रश्न 9 – शुद्धनय के पक्ष के सम्बन्ध में अभी तक तीन बातें कही गई हैं –

1. अनादि से आज तक इस जीव को शुद्धनय का पक्ष कभी आया ही नहीं।

2. आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानना, शुद्धनय का पक्ष है।

3. आत्मानुभूति के पूर्व होनेवाले शुद्धस्वरूप-सम्बन्धी विकल्प को भी शुद्धनय का पक्ष कहा है।

उक्त तीनों बातों में हम सत्य किसे मानें?

उत्तर – भाई! प्रत्येक कथन का यथार्थ आशय समझकर, उस अपेक्षा से उसे सत्य समझना चाहिए।

1. जब यह कहा जाए कि अनादि से जीव को शुद्धनय का पक्ष नहीं आया तो इसका आशय यह है कि जीव को शुद्धात्मा की बात सुनने की रुचि भी नहीं हुई अर्थात् आत्महित की सच्ची जिज्ञासा नहीं हुई।

2. आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानना, शुद्धनय के एकान्तरूप नयाभास है, अतः यह मिथ्या नयपक्ष है।

3. आत्मानुभूति के पूर्व शुद्धात्मा-सम्बन्धी विकल्प भी नयपक्ष हैं, क्योंकि उसमें शुद्ध चैतन्य का स्वाद तो है नहीं, मात्र आत्मा ऐसा

है और ऐसा नहीं है - ऐसे विकल्प ही हैं; अतः यह भी विकल्पात्मक पक्ष है। आत्मानुभूति की बात तो अलौकिक है, जबकि इन्द्रिय-भोगों के पूर्व भी उस विषय-सम्बन्धी विकल्प होते हैं और उस विषय के स्वाद में तन्मयता होने पर इस प्रकार के सभी विकल्प शमित हो जाते हैं; अतः इन विकल्पों को भी नयपक्ष कहा जाता है।

समयसार, गाथा 143 की टीका में क्षयोपशमज्ञान में होनेवाले श्रुतज्ञानात्मक विकल्पों को भी नयपक्ष कहा गया है।

इसप्रकार जहाँ जिस विवक्षा से कथन किया गया हो, वहाँ वह विवक्षा ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न 10 - विवक्षा ग्रहण करना अर्थात् नयों के विषय को जानने में नयपक्ष है या नहीं?

उत्तर - भाई! वस्तु में विद्यमान धर्मों को मात्र जानना, नयपक्ष नहीं है, तत्सम्बन्धी विकल्प अर्थात् उन धर्मों के प्रति रागात्मक झुकाव को नयपक्ष कहा है। समयसार, गाथा 143 की टीका में स्पष्ट कहा गया है कि जिसप्रकार केवली भगवान श्रुतज्ञान की भूमिका से पार होने से समस्त नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी पर को ग्रहण करने का उत्साह निवृत्त होने से व्यवहार-निश्चय नयपक्षों के स्वरूप को मात्र जानते हैं; परन्तु श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका से पार होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते। यहाँ गाथा 143 की टीका का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है -

जैसे केवली भगवान, विश्व के साक्षीपन के कारण, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चय नयपक्षों के स्वरूप को ही जानते मात्र हैं, परन्तु निरन्तर प्रकाशमान सहज, विमल, सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से, श्रुतज्ञान की भूमिका

की अतिक्रान्तता के द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण) समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते; इसीप्रकार (श्रुतज्ञानी आत्मा), क्षयोपशम से जो उत्पन्न होते हैं – ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होने से, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार–निश्चय नयपक्षों के स्वरूप को केवल जानते ही हैं, परन्तु अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय समय (शुद्धात्मा) से प्रतिबद्धता के द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्मा के अनुभवन द्वारा) अनुभव के समय स्वयं ही विज्ञानघन हुए होने से, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तव में समस्त विकल्पों से अति पार को प्राप्त परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है।

प्रश्न 11 – जिसप्रकार नयपक्ष छोड़कर पक्षातिक्रान्त दशा में आत्मानुभूति होती है; उसीप्रकार क्या प्रमाण का पक्ष भी छोड़कर आत्मानुभूति होती है?

उत्तर – हाँ हाँ ! क्यों नहीं? समयसार, गाथा 13 की टीका में समागत कलश के पश्चात् लिखी गई टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने नव तत्त्व, प्रमाण, प्रमाण के प्रत्यक्ष–परोक्ष आदि भेद, नय, नय के द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक आदि भेद, निक्षेप, निक्षेप के नाम, स्थापना आदि भेद, इत्यादि समस्त विकल्पों को शुद्ध वस्तुमात्र जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर अभूतार्थ कहा है। वहाँ वे शुद्ध चैतन्य–मात्र वस्तु को द्रव्य और पर्याय दोनों से अनालिंगित कहते हैं।

टीका का वह अंश इसप्रकार है -

अब, जैसे नव तत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है, उसीप्रकार एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपाय जो प्रमाण-नय-निक्षेप हैं, वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है.....।

इस टीका के बाद आचार्यदेव, कलश 9 में कहते हैं कि **आत्मानुभूति होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण का सूर्य अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, हम नहीं जानते, इसमें अधिक क्या कहें कि द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।**

इस कलश का भाव कविवर बनारसीदासजी ने अत्यन्त सफलता पूर्वक निम्नलिखित छन्द में स्पष्ट किया है -

जैसें रवि-मंडल के उदै महि-मंडल मैं,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसें परमातमा कौ अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहुँ दुविधा न कहुँ पच्छपातु है।।
नय कौ न लेस परवान कौ न परवेस,
निच्छेप के वंस कौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहाँ बाधक हैं।
बाकी राग दोष की दसा की कौन बातु है।।

इस सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि आत्मानुभूति के पूर्व तत्त्वविचार की प्रक्रिया में होनेवाले सभी विकल्प, रागात्मक होने से पक्षरूप हैं तथा अनुभूति में उनका सहज शमन हो जाने से वह पक्षातिक्रान्त दशा है।

आत्मानुभूति के सन्दर्भ में नयपक्ष और पक्षातिक्रान्त का यह विवेचन अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म है, अतः जिनागम के आलोक में

इस विषय का गम्भीर चिन्तन करके निर्विकल्प अनुभूति हेतु प्रयास करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. पक्ष और पक्षातिक्रान्त का आशय लौकिक सन्दर्भ में स्पष्ट कीजिए।
2. अज्ञानी और ज्ञानी को अलग-अलग नयपक्ष किसप्रकार घटित होते हैं?
3. केवली एवं ज्ञानी की पक्षातिक्रान्त दशा में अन्तर एवं समानता स्पष्ट कीजिए।
4. पक्षातिक्रान्त दशा निरन्तर रहती है? स्पष्ट कीजिए।

नय-लक्ष्मी का उदय न होता, अरु प्रमाण भी लय होता।
हम न जानते कहाँ हो गया, यह निक्षेप समूह विलय।।
तेजपुंज चैतन्य मात्र का, भेद रहित जब अनुभव हो।
और अधिक क्या कहें, द्वैत भी भासित नहिं होता हमको।।

– समयसार कलश 9

8

निश्चयनय के भेद-प्रभेद

यद्यपि जिनागम का सम्पूर्ण कथन नयों पर आधारित है, परन्तु सर्वत्र यह उल्लेख नहीं होता कि यह किस नय का कथन है। समयसार में आत्मा को प्रमत्त-अप्रमत्त भावों से रहित भी कहा है और अज्ञानी भी कहा है; रागादि का कर्ता भी कहा है और अकर्ता भी कहा है; परन्तु ये किस नय के कथन हैं – यह बात हर जगह नहीं कही गई। यदि कदाचित् यह कथन निश्चयनय या व्यवहारनय से है – ऐसा कहा भी हो तो यह निश्चयनय/व्यवहारनय के किस भेद-प्रभेद का कथन है – यह स्पष्ट नहीं हो पाता। निश्चयनय से ही आत्मा को रागादि का कर्ता भी कहा है और निश्चयनय से ही आत्मा को रागादि रहित भी कहा है।

आत्मा को रागादि का कर्ता कहनेवाला निश्चयनय, कौन-सा है और आत्मा को रागादि रहित त्रिकाल शुद्ध कहनेवाला निश्चयनय कौन-सा है? – यह स्पष्ट समझे बिना आत्मा के स्वरूप का निर्णय कैसे हो सकेगा? इसलिए आवश्यक है कि हम नयों के भेद-प्रभेद, उनकी विषय-वस्तु, प्रयोजन, उपयोगिता आदि पर गम्भीरता से विचार करें।

नयों के भेद-प्रभेद की शृंखला में सर्वप्रथम निश्चयनय के भेद-प्रभेद की चर्चा प्रारम्भ की जा रही है –

निश्चयनय के भेद हो सकते हैं या नहीं

निश्चय के भेदों की चर्चा करते समय सर्वप्रथम यह तथ्य विचारणीय

है कि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु का सामान्यांश, निश्चयनय का विषय है तथा जब सामान्य एक है, अभेद है तो उसे विषय बनानेवाला निश्चय-नय भी एक ही हो सकता है और उसके भेद होना भी असम्भव है।

यद्यपि सामान्य के स्वरूप में भी अनेक विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर उसे अभेद, निरुपाधि, द्रव्य, शक्ति, स्वभाव, शुद्धभाव, परमभाव, एक, परमार्थ, निश्चय, ध्रुव, त्रिकाली आदि अनेक नामों से कहा जाता है; तथापि वह है तो एक अखण्डरूप ही, अतः उसे जाननेवाला निश्चयनय भी एक अखण्ड अभेद होना चाहिए।

सामान्य, शुद्धभावरूप या परमभावरूप अथवा परमार्थरूप है; अतः उसे विषय बनानेवाले निश्चयनय को भी शुद्धनय या परमशुद्धनय अथवा परमार्थनय भी कहा जाता है।

यद्यपि विशेष अनेक प्रकार का होता है; उसे भेद, विकार, उपाधि, पर्याय आदि अनेक नामों से कहा जाता है; अतः विशेष को विषय बनानेवाला व्यवहारनय भी अनेक प्रकार का होना स्वाभाविक है, तथापि अनेक नामों वाला होने पर भी निश्चयनय तो सामान्यग्राही होने से एक ही होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में पंचाध्यायीकार लिखते हैं -

निश्चयनय का लक्षण 'न तथा' है, इसलिए वह एक ही है अनेक नहीं। ताम्ररूप उपाधि की निवृत्ति के कारण स्वर्णपना जिसप्रकार अन्य है, चाँदीरूप उपाधि की निवृत्ति के कारण वह वैसा ही अन्य है। इस कथन से उनका निराकरण हो गया, जो अपनी प्रज्ञा के अपराध से निश्चयनय को अनेक प्रकार का मानते हैं।

निश्चय-व्यवहार के स्वरूप का विवेचन करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि निश्चयनय का लक्षण, 'न तथा' कहकर व्यवहारनय का निषेध करना है; अतः सर्वत्र निषेधक लक्षण होने से

पंचाध्यायीकार निश्चयनय को एक ही प्रकार का मानते हैं। वे अपनी मान्यता पर इतने दृढ़ हैं कि ज्ञान में निश्चयनय के अनेक भेद को वे **ज्ञान का अपराध** घोषित करते हैं।

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों को जानने की आवश्यकता

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यद्यपि निश्चयनय एक ही प्रकार का होता है, फिर भी जिनागम में उसके भेद-प्रभेदों का और उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख पाया जाता है।

आलापपद्धति में निश्चयनय दो प्रकार का कहा है - शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय।

शुद्धनिश्चयनय की विषय-वस्तु के आधार पर इसका कथन भी तीन रूपों में पाया जाता है; अतः निश्चयनय के कुल चार भेद हो जाते हैं, जिन्हें निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है -
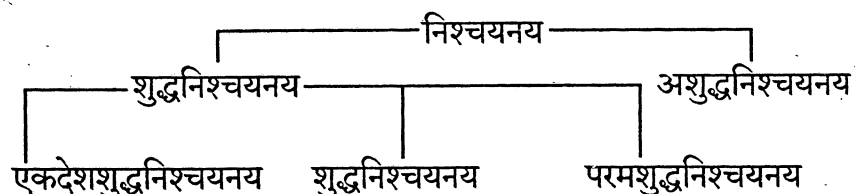
यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि **शुद्धनिश्चयनय**, निश्चयनय के मूल भेद के रूप में भी कहा गया है तथा उसके तीन भेदों में से दूसरे भेद के रूप में अर्थात् द्वितीय प्रभेद के रूप में भी बताया गया है। कहीं-कहीं इस प्रभेद को **साक्षात्शुद्धनिश्चयनय** भी कहा है।

रागादि भाव जीवजनित हैं या कर्मजनित - इस सन्दर्भ में निश्चयनय के विभिन्न प्रयोग, विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग तरह से किये गये हैं। यहाँ परमात्मप्रकाश और वृहद्द्रव्यसंग्रह में उपलब्ध प्रयोगों की मीमांसा की जा रही है -

परमात्मप्रकाश, अध्याय 1, दोहा 64 की टीका में अनाकुलत्व

लक्षण पारमार्थिक वीतरागसुख से प्रतिकूल सांसारिक सुख-दुःखों को अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित तथा शुद्धनिश्चयनय से कर्मजनित कहा है। जबकि वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 48 की टीका में रागादि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार अपेक्षाओं से कथन किया गया है -

1. स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न पुत्र के समान अथवा चूने और हल्दी के मिश्रण से उत्पन्न वर्ण-विशेष के समान, राग-द्वेष आदि जीव और कर्म - इन दोनों के संयोगजनित हैं। (- यह कथन अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से किया गया है।)

2. रागादिभाव, अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित हैं।

3. रागादिभाव, विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से कर्म-जनित हैं।

4. साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से स्त्री और पुरुष के संयोगरहित पुत्र की भाँति तथा चूने और हल्दी के संयोगरहित वर्ण-विशेष की भाँति उनकी उत्पत्ति ही नहीं है।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में रागादि भावों को अशुद्धनिश्चयनय से तो जीव का ही कहा गया है, परन्तु कर्मजनित कहने को परमात्मप्रकाश में शुद्धनिश्चयनय का तथा वृहद्द्रव्यसंग्रह में एकदेशशुद्धनिश्चयनय का कथन बताया गया है।

इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। परमात्मप्रकाश में प्रयुक्त शुद्धनिश्चयनय, निश्चयनय के मूल भेद के अर्थ में किया गया है, जिसमें उसके तीनों प्रभेद गर्भित हैं अर्थात् उन प्रभेदों में से यथायोग्य कोई एक प्रभेद लागू होगा; जबकि वृहद्द्रव्यसंग्रह में **एकदेशशुद्धनिश्चयनय** शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया है कि रागादि को कर्मजन्य कहने में शुद्धनय के किस भेद का प्रयोग किया जा रहा है।

इसीप्रकार **साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से रागादि की उत्पत्ति है ही**

नहीं – इस कथन में **शुद्धनिश्चयनय** शब्द का प्रयोग, शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत क्षायिकभाव आदि पूर्ण शुद्ध भावों की अपेक्षा समझना चाहिए, क्योंकि वहाँ रागादि की उत्पत्ति ही नहीं है, अतः यह प्रश्न ही सम्भवित नहीं है कि उसके रागादि किस नय से हैं? इसीप्रकार इस प्रयोग को **परमशुद्धनिश्चयनय** के अर्थ में भी समझना चाहिए, क्योंकि परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत आत्मा त्रिकाल शुद्ध है, उसमें अर्थात् त्रिकाली ध्रुव स्वभाव में भी रागादि उत्पन्न ही नहीं होते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिनागम में किये गये ऐसे विभिन्न नय-प्रयोगों को समझने के लिए नयों के भेद-प्रभेदों का स्वरूप एवं परिभाषा आदि को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, तभी जिनागम के मर्म का भावभासन गहराई से हो सकेगा।

रागादि को अशुद्धनिश्चयनय से जीवजन्य कहते हुए वृहद्द्रव्यसंग्रह में यह भी स्पष्ट किया गया है कि अशुद्धनिश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है; अतः उसे उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से जीवकृत कहा गया है। न केवल अशुद्धनिश्चयनय, अपितु परमशुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा साक्षात्शुद्धनिश्चयनय और एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही कहे गये हैं।

इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचाध्यायीकार का यह कथन कि **निश्चयनय एक ही है, उसके भेद हो ही नहीं सकते** – इसी परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से किया गया है, अतः निश्चयनय एक ही है तथा उसके चार भेद हैं – इन दोनों विवक्षाओं को अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य समझना चाहिए।

प्रश्न 1 – रागादि को अशुद्धनय से जीव का कहना तो ठीक है, परन्तु शुद्धनय से कर्मजन्य क्यों कहा है? क्या रागादिभाव शुद्धनय के विषय भी बनते हैं?

उत्तर – रागादि को कर्मजन्य कहकर जीव के स्वभाव को रागादि से भिन्न कहा गया है। वस्तुतः यह जीव के स्वरूप का नास्ति से किया गया कथन है। अस्ति से कथन करने पर जीव एक अखण्ड शुद्ध चैतन्य घनपिंड है; उसमें राग है या नहीं है – ये दोनों अस्ति-नास्ति के विकल्प हैं? जीव तो चैतन्यमात्र है।

प्रश्न 2 – यहाँ निश्चयनय के चारों भेदों को आत्मा पर घटित किया गया है। क्या पुद्गलादि अजीवद्रव्य भी नयों के विषय बनते हैं?

उत्तर – प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, अतः वह प्रमाण और नय का विषय बनती है, लेकिन यहाँ अध्यात्म का प्रकरण है, अतः इन्हें मुख्यतया आत्मा पर घटित किया गया है, क्योंकि मोक्षमार्ग में **आत्मज्ञान** ही ज्ञान है। यद्यपि धर्मादि चार अरूपी द्रव्यों में अशुद्ध परिणमन नहीं होता, तथापि उनसे जीव का कोई सीधा प्रयोजन नहीं है अर्थात् वे जीव के सुख-दुःख में निमित्त नहीं बनते; अतः उनमें नय घटित करने का प्रयोग, जिनागम में नहीं किया गया, परन्तु पुद्गलों के साथ सम्बन्ध तो की चर्चा की गई है, जिसका विस्तृत विवेचन 'व्यवहारनय के भेद-प्रभेद' प्रकरण में किया जाएगा।

प्रश्न 3 – केवली भगवान की वाणी को आगम कहा गया है। फिर यहाँ **अध्यात्म का प्रकरण है** – ऐसा क्यों कहा गया? अध्यात्म से आपका क्या आशय है?

उत्तर – जैसे, भारतवर्ष एक राष्ट्र है, फिर भी उसके एक प्रान्त का नाम महाराष्ट्र है; उसीप्रकार सम्पूर्ण जिनागम का सार, अध्यात्म अर्थात् (अधि = जानना, आत्म = स्वयं का) आत्मा को जानना है।

सिद्धचक्र विधान की सातवीं पूजन, छन्द 301 में कहा गया है –

सम्पूरण श्रुतसार निजातम बोध लहानो।

आत्मा को जानने का अर्थ, मात्र शब्दों से जानना नहीं, अपितु

आत्मानुभूतिरूप परिणमने से है। वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 57 की टीका में कहा है कि **मिथ्यात्व, रागादि समस्त विकल्प-जाल के त्याग से स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।**

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों का आधार

निश्चयनय के चारों प्रभेदों की परिभाषा, प्रयोग तथा उपयोगिता पर चर्चा करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि ये चारों भेद किस दृष्टि से या किस आधार पर किये गये हैं?

परमशुद्धनिश्चयनय, रंग-राग और भेद से रहित त्रिकाली-अखण्ड-अभेद-एक-ज्ञायकभाव अर्थात् शुद्धपरिणामिकभावरूप, दृष्टि के विषय को अपना विषय बनाता है।

शेष तीन नय, परद्रव्यों से भिन्न और अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न वस्तु-स्वरूप पर आधारित हैं। प्रत्येक द्रव्य, पर-पदार्थों से भिन्न और अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न होने से अपनी प्रत्येक पर्याय के कर्ता-भोक्ता स्वयं हैं, उसमें परद्रव्य का जरा भी हस्तक्षेप नहीं है। समयसार की तीसरी गाथा की टीका में कहा है कि **प्रत्येक द्रव्य अपने अनन्त गुण-पर्यायों का समूह का चुम्बन करते हैं, किन्तु अन्य द्रव्य का स्पर्श भी नहीं करते।**

पूर्व में निश्चयनय का स्वरूप बताते हुए स्पष्ट किया गया है कि निश्चयनय, (1) एक ही द्रव्य के भाव को उसरूप कहता है, (2) जिस द्रव्य को जो परिणति हो, उसे उसी द्रव्य की कहता है और (3) स्वद्रव्य-परद्रव्य उनके भावों और कारण-कार्य आदि को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी से नहीं मिलाता।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि पर से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्नता के आधार पर, प्रत्येक पर्याय को अपने द्रव्य की कहना तथा द्रव्य को उनका कर्ता-भोक्ता कहना, वस्तु का स्वाश्रित अथवा यथार्थ

निरूपण होने से निश्चयनय है। इस निरूपण में निश्चयनय की **स्वाश्रितो निश्चयः और यथार्थ निरूपण सो निश्चय** – दोनों परिभाषाएँ घटित होती हैं।

जीव की पर्यायें, मुख्यतया तीन प्रकार की हैं – अशुद्ध, आंशिक शुद्ध और पूर्णशुद्ध। पर्याय के इन तीनों भेदों के आधार पर निश्चयनय के तीन भेद कहे गये हैं। परमशुद्धनिश्चयनय, पर्यायों से भिन्न त्रिकाली द्रव्य को विषय बनाता है; अतः उसे हम सबसे अलग कह सकते हैं।

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों की परिभाषा और प्रयोग

निश्चयनय के चार भेद, किस आधार पर किये गये हैं – इसका स्पष्टीकरण करने के पश्चात् अब उनकी परिभाषा तथा जिनागम में समागत कुछ प्रयोगों का उल्लेख किया जा रहा है। अध्यात्म का प्रकरण होने से सर्वप्रथम नयाधिपति परमशुद्धनिश्चय के स्वरूप और प्रयोगों की चर्चा करते हैं –

(अ) परमशुद्धनिश्चयनय एवं उसके प्रयोग

शुद्ध परिणामिक-भावरूप सामान्य अंश की मुख्यता से आत्मा को जाननेवाले ज्ञान को परमशुद्धनिश्चयनय कहते हैं। यही शुद्धात्मा, स्व-सन्मुखज्ञान का ज्ञेय, श्रद्धा का श्रद्धेय तथा ध्यान का ध्येय है।

प्रश्न – क्या सम्यग्दर्शन और परमशुद्धनिश्चयनय का विषय एक ही है?

उत्तर – दोनों का विषय एक ही है, किन्तु श्रद्धा और ज्ञान की प्रकृति में अन्तर है, अतः परमशुद्धनिश्चयनय अन्य धर्मों को गौण करता हुआ अपने विषय को ग्रहण करता है और श्रद्धा, उसमें मुख्य-गौण किये बिना निर्विकल्प प्रतीतिभावरूप से अहंपना स्थापित करती है।

प्रश्न – पक्षातिक्रान्त अनुभूति और श्रद्धा की निर्विकल्पता में क्या अन्तर है?

उत्तर – पक्षातिक्रान्त अनुभूति नयपक्षों के विकल्पों के शमनपूर्वक उदित होती है, अतः वह स्व-सन्मुख भावश्रुतज्ञानरूप अवस्था है, परन्तु वह सम्यग्ज्ञानरूप होने से उसमें अन्य धर्मों का निषेध नहीं वर्तता, अन्यथा नयाभास होता, अनुभूति नहीं। ज्ञान का स्वभाव ही अपने विषय को अन्य विषयों से भिन्नतापूर्वक ग्रहण करना है – इस अपेक्षा निर्विकल्प अनुभूति भी सविकल्प अर्थात् साकाररूप है, निराकार नहीं। श्रद्धा का लक्षण प्रतीति मात्र है, अतः उसमें न तो मुख्य-गौण का विकल्प है और न अन्य विषयों से भिन्न जाननेरूप साकार उपयोगपना है; उसमें अहंपने की प्रतीति मात्र है।

परमशुद्धनिश्चयनय, त्रिकाली शुद्ध परम पारिणामिकभाव को विषय बनाता है। जिनागम में उपलब्ध इस नय के कुछ प्रयोग इसप्रकार हैं –

1. **शुद्धनिश्चयनय से सहज ज्ञानादि परमस्वभावभूत गुणों का आधारभूत होने से कारणशुद्धजीव है।**

– नियमसार, गाथा 9 की टीका

2. **निश्चयनय से जीव सत्ता, चैतन्य व ज्ञानादि शुद्ध प्राणों से जीता है।** – पंचास्तिकाय, गाथा 27 की जयसेनाचार्यकृत टीका

3. ध्याता पुरुष यही भावना करता है कि **मैं तो सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिक, परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य ही हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं।**

– समयसार की जयसेनाचार्यकृत टीका की मोक्षाधिकार की चूलिका

4. **सव्वे शुद्धा हु शुद्धणया** – वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 13

5. **जो एक शुद्ध विकारवर्जित, अचल परम पदार्थ है,**
जो एक ज्ञायकभाव निर्मल, नित्य निज परमार्थ है।
जिसके दरश व जानने का, नाम दर्शन-ज्ञान है,
हो नमन उस परमार्थ को, जिसमें चरण ही ध्यान है।।

– मंगलाचरण, परमभावप्रकाशक नयचक्र

इसप्रकार आध्यात्मिक ग्रन्थों में तथा वर्तमान में रचित आध्यात्मिक साहित्य में परमशुद्धनिश्चयनय को बतानेवाले सैकड़ों प्रयोग उपलब्ध हैं। ध्यान रहे - इन प्रयोगों में परमशुद्धनिश्चयनय को ही कहीं पर शुद्धनिश्चयनय, कहीं पर निश्चयनय, कहीं पर शुद्धनय कहा गया है, परन्तु उन सबको एकार्थवाचक ही समझना चाहिए। जिनागम में इसीप्रकार संक्षिप्त नाम लेने की पद्धति है। डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा रचित प्रसिद्ध गीत **'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ'** में परमशुद्धनिश्चयनय के विषय का ही अस्ति और नास्ति से परिचय कराया गया है।

(ब) शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय एवं उसके प्रयोग

आलापपद्धति में कहा है कि जो निरुपाधिक गुण-गुणी को अभेदरूप से विषय करता है, वह शुद्धनिश्चयनय है। जैसे, जीव को शुद्ध केवलज्ञानादिरूप कहना। यह नय आत्मा को क्षायिकभाव अर्थात् पूर्ण निर्मल पर्यायों से अभेद कहकर उन्हीं का कर्ता-भोक्ता भी कहता है। इस नय के कुछ प्रयोग इसप्रकार हैं -

1. शुद्धनिश्चयनय से निरुपाधि स्फटिक मणि के समान आत्मा, समस्त रागादि-विकल्प की उपाधि से रहित है।

- प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका का परिशिष्ट

इस उदाहरण में भी शुद्धनय का नास्तिपरक कथन किया गया है।

2. शुद्धनिश्चयनय से केवलज्ञानादि शुद्धभाव जीव के स्वभाव कहे जाते हैं। - पंचास्तिकाय, गाथा 61, जयसेनाचार्यकृत टीका

3. शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध अखण्ड, केवलज्ञान और केवलदर्शन - ये दोनों जीव के लक्षण हैं। - वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 6 की टीका

4. अहो निखरा कांचन चैतन्य, खिले सब आठों कमल पुनीत।
अतीन्द्रिय सौख्य चिरन्तन भोग, करो तुम धवल महल के बीच।।

- बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत सिद्ध-पूजन की जयमाला

5. अनुपम सुख तब विलसित होता, केवल-रवि जगमग करता है।
दर्शन-बल पूर्ण प्रगट होता, यह ही अरहन्त अवस्था है।।

– बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन

(स) एकदेशशुद्धनिश्चयनय एवं उसके प्रयोग

आंशिक शुद्धपर्यायरूप परिणमित द्रव्य को पूर्ण शुद्धरूप देखनेवाला नय, एकदेशशुद्धनिश्चयनय है।

वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 56 की टीका में परमध्यान में स्थित जीव को निश्चय मोक्षमार्गस्वरूप, परमात्मस्वरूप, परमजिनस्वरूप आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। यहाँ टीका का वह अंश दिया जा रहा है –

उस परमध्यान में स्थित जीव को जिस वीतराग परमानन्दरूप सुख का प्रतिभास होता है, वही निश्चय मोक्षमार्गस्वरूप है।.....वही शुद्धात्मस्वरूप है, वही परमात्मस्वरूप है, वही एकदेश प्रकटतारूप विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से स्वशुद्धात्म के संवेदन से उत्पन्न सुखामृतरूपी जल के सरोवर में रागादि मलरहित होने के कारण परमहंसस्वरूप है। इस एकदेशव्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को परमात्म ध्यानभावना की नाममाला में जहाँ यह कथन है, वहाँ परमात्म ध्यानभावना से परमब्रह्मस्वरूप, परमविष्णुस्वरूप, परमशिवस्वरूप, परमजिनस्वरूप आदि अनेक नाम गिनाए गए हैं, उन्हें परमात्मतत्त्व के ज्ञानियों द्वारा जानना चाहिए।

आंशिक शुद्धपर्यायरूप परिणमित आत्मा अथवा आंशिक शुद्धपर्याय भी एकदेश शुद्धनय का विषय बनती है। स्वभाव-दृष्टि से अनन्त ज्ञान, सुख आदि शक्तियों का अखण्ड पिण्ड होने पर भी उसे एकदेशशुद्धपर्याय की मुख्यता से ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, साधु आदि भूमिकाओं की

अपेक्षा इन नामों से सम्बोधित किया जाता है। तत्सम्बन्धी कुछ उद्धरण इसप्रकार हैं -

1. **कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।**
   ण करेइ एयमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

   - आचार्य कुन्दकुन्ददेव, समयसार, गाथा 75

2. **क्षणभर निज रस को पी चेतन, मिथ्यामल को धो देता है।**
   काषायिक भाव विनष्ट किये, निज आनन्द अमृत पीता है।।

   - बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन

3. **भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन,**
   केलि करें शिवमारग में, जग माहिं जिनेसुर के लघुनन्दन।
   सत्यस्वरूप सदा जिनके, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकन्दन,
   शान्तदशा तिनकी पहचान, करैं कर-जोरि बनारसी वन्दन।।

   - कविवर बनारसीदासजी, नाटक समयसार

प्रश्न - आंशिक शुद्धपर्याय से तन्मय आत्मा को एकदेशशुद्ध-निश्चयनय का विषय कहना तो ठीक है, परन्तु आंशिक शुद्ध-अवस्था को पूर्ण शुद्ध कहना, सत्य कैसे हो सकता है?

उत्तर - प्रत्येक नय अपनी अपेक्षा से जो भी कथन करता है, सम्पूर्ण द्रव्य के बारे में ही करता है। नयों की परिभाषा के प्रकरण में भी यह स्पष्ट किया गया था कि वस्तु के एकदेश में वस्तु का निश्चय करना ही अभिप्राय (नय) है और ज्ञाता का अभिप्राय ही नय है।

जिसप्रकार परमशुद्धनिश्चयनय, पर्यायगत अशुद्धता को गौण करके द्रव्य की मुख्यता से द्रव्य को शुद्ध कहता है और अशुद्धनिश्चयनय द्रव्यगत शुद्धता को गौण करके पर्याय की मुख्यता से द्रव्य को अशुद्ध कहता है, इसीप्रकार एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी आंशिक शुद्धपर्याय में

विद्यमान अशुद्धता के अंश को गौण करके उसे पूर्ण शुद्ध कहता है।

प्रश्न – पर्यायगत शुद्धता-अशुद्धता को गौण करना अलग बात है और आंशिक शुद्धपर्याय को पूर्ण शुद्ध कहना अलग बात है। क्या लोक में अथवा जिनागम में ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं?

उत्तर – हाँ, (1) शहर के किसी एक मकान में आग लगने पर उस शहर में आग लग गई – ऐसा प्रचलित है ही। इसीप्रकार (2) एल.एल.बी. के प्रथम वर्ष में प्रवेश लेने पर उस विद्यार्थी को लोग वकील साहब कहने लगते हैं। (3) हम नगर के एक छोटे-से हिस्से में रहते हुए भी अपने को उस नगर/प्रान्त/देश में रहनेवाला कहते हैं। न केवल कहते हैं, अपितु वैसा अनुभव भी करते हैं (4) किसी समाज में कुछ व्यक्ति सज्जन, होशियार या विद्वान् हों तो सारी समाज को वैसा कहा जाता है।

ये तो हुए लोक में प्रचलित कुछ प्रयोग। वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 8 की टीका में छद्मस्थ जीव को एकदेशशुद्धनिश्चयनय से भावनारूप से विवक्षित अनन्त ज्ञान-सुख आदि का कर्ता और मुक्त-अवस्था में शुद्धनय (साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से) अनन्त सुख आदि का कर्ता कहा है। टीका का वह अंश इसप्रकार है –

जब जीव, शुभ-अशुभरूप तीन योग के व्यापार से रहित, शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावरूप से परिणमन करता है, तब छद्मस्थ अवस्था में भावनारूप से विवक्षित अनन्त ज्ञान-सुखादि शुद्धभावों का एकदेशशुद्धनिश्चयनय से कर्ता है और मुक्त-अवस्था में अनन्त ज्ञान-सुखादिभावों का शुद्धनय से कर्ता है।

इस सन्दर्भ में यह बात गहराई से विचारणीय है कि ज़ब छद्मस्थ जीव को निर्विकल्प अनुभूति प्रगट होती है, तब वह, उसमें आनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में मग्न रहता है; न कि वह कितना है,

अधूरा है या पूरा है - ऐसे विकल्प करता है। जरा सोचिए! चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानी जीव जब निर्विकल्प स्वानुभूति में मग्न होता है, तब क्या उसे मैं चतुर्थ गुणस्थान में हूँ, अभी यह आनन्द अधूरा है, अभी तो तीन कषाय चौकड़ी का सद्भाव है....इत्यादि विकल्प होते होंगे? नहीं! वे तो पूर्ण-अपूर्ण के विकल्प रहित उस आनन्द के स्वाद में ही मग्न रहते हैं; अतः उन्हें भावना की अपेक्षा एकदेशशुद्धनिश्चयनय से अनन्तज्ञान-सुख आदि का कर्ता-भोक्ता कहने की विवक्षा समझी जाए तो यह कथन अनुचित नहीं लगेगा।

(द) अशुद्धनिश्चयनय एवं उसके प्रयोग

आत्मा की पर्याय में होनेवाले मतिज्ञानादि क्षयोपशमभाव अथवा मिथ्यात्व तथा रागादि विकारीभावों को आत्मा के कहना, आत्मा को इन भावोंरूप परिणमित होता हुआ जानना, अशुद्धनिश्चयनय है। यह नय औदयिक और क्षायोपशमिक भावों को जीव के साथ अभेद बताता है तथा उनके साथ कर्ता-कर्म आदि सम्बन्ध भी बताता है। जिनागम में इस नय के प्रयोग भी सर्वत्र उपलब्ध हैं, जिनमें से कुछ प्रयोग यहाँ दिये जा रहे हैं -

1. सोपाधिक गुण-गुणी मे अभेद दर्शानेवाला अशुद्धनिश्चयनय है। जैसे, मतिज्ञानादि को जीव कहना।

- आचार्य देवसेन, आलापपद्धति

2. अशुद्धनिश्चय का अर्थ कहा जाता है - **कर्मोपाधि से उत्पन्न हुआ होने से अशुद्ध कहलाता है और आत्मा, उस समय तपे हुए लोहखण्ड के गोले के समान तन्मय होने से निश्चय कहलाता है। इसप्रकार अशुद्ध और निश्चय - इन दोनों का मिलाप करके अशुद्धनिश्चयनय कहा जाता है।**

- ब्रह्मदेव सूरि, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 8 की टीका

3. जीव के कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाले जितने भाव हैं, वे जीव के भावप्राण होते हैं – ऐसा अशुद्धनिश्चयनय से जानना चाहिए।

– पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार, गाथा 8 की टीका

4. कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।19।।

– आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 19

5. मैं रागी-द्वेषी हो लेता, जब परिणति होती है जड़ की।

– बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन

इसप्रकार निश्चयनय के चार भेदों का स्वरूप तथा जिनागम में उपलब्ध उनके प्रयोगों की चर्चा की गई। यद्यपि यहाँ अधिकांश प्रयोगों का उल्लेख किया गया है, परन्तु कुछ अलग प्रकार के प्रयोग भी उपलब्ध हो सकते हैं।

प्रवचनसार, गाथा 188-189 में शुद्धनय का प्रयोग अलग ही दृष्टि से किया गया है। वहाँ **आत्मा को निश्चयनय से रागादि के ग्रहण-त्याग का कर्ता कहा गया है।** प्रवचनसार, गाथा 188 की अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका में कहा है कि **आत्मा, अकेला ही बन्ध है – ऐसा देखना चाहिए, क्योंकि निश्चयनय का विषय शुद्धद्रव्य है।** यहाँ बन्धभावरूप परिणमित आत्मा को शुद्धनय का विषय कहा गया है।

आत्मा किसका कर्ता है और उसका कर्म क्या है – इस सन्दर्भ में गाथा 189 की टीका में कहा गया है – **राग-परिणाम ही आत्मा का कर्म है, यही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा राग-परिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला**

है – यह शुद्धद्रव्य का निरूपण स्वरूप निश्चयनय है और जो पुद्गल-परिणाम, आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा पुद्गल-परिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला है और छोड़नेवाला है – ऐसा अशुद्धद्रव्य के निरूपण स्वरूप व्यवहारनय है।

प्रश्न – इससे पहले रागादिरूप परिणमित आत्मा को अशुद्धनय का विषय कहा था, अब इसे शुद्धद्रव्य का निरूपण कहा जा रहा है? जिनागम में यह विरोध कैसे सम्भव है?

उत्तर – अपेक्षा समझने से सब विरोध दूर हो जाता है। यहाँ परद्रव्यों से भिन्नता को ही शुद्धता कहा गया है। आत्मानुभूति के प्रयोजन से रागादिरहित स्वभाव को शुद्धता कहा जाता है; अतः दोनों कथनों की अपेक्षा समझना चाहिए। 189वीं गाथा के फुटनोट में इस प्रकरण का निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया गया है –

निश्चयनय मात्र स्वद्रव्य के परिणाम को बतलाता है, इसलिए उसे शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है और व्यवहारनय परद्रव्य के परिणाम को आत्मपरिणाम बतलाता है, इसलिए उसे अशुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है।

प्रश्न – व्यवहारनय को हेय और निश्चयनय को उपादेय माना गया है तो उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार राग का ग्रहण-त्याग करनेवाला आत्मा उपादेय कैसे हो सकता है?

उत्तर – निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेधक होता है; अतः आत्मा, निश्चय से अपने परिणामों के ग्रहण-त्याग का कर्ता है। इस कथन से यह निश्चय करना चाहिए कि आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कर्ता नहीं है – ऐसा निर्णय होने पर दृष्टि, परद्रव्यों से हटकर

स्वद्रव्य-सामान्य के सन्मुख होने से राग की उत्पत्ति भी नहीं होती। इस सन्दर्भ में प्रवचनसार, गाथा 189 के फुटनोट में प्रश्नोत्तर के रूप में दिया गया निम्नलिखित स्पष्टीकरण गम्भीरता से विचार करने योग्य है –

प्रश्न – द्रव्य-सामान्य का आलम्बन ही उपादेय है, फिर भी यहाँ राग-परिणाम की ग्रहण-त्यागरूप पर्यायों को स्वीकार करनेवाले निश्चयनय को उपादेय क्यों कहा है?

उत्तर – राग-परिणाम का कर्ता भी आत्मा ही है और वीतराग-परिणाम का भी; अज्ञानदशा भी आत्मा स्वतन्त्रतया करता है और ज्ञानदशा भी – ऐसे यथार्थ ज्ञान के भीतर द्रव्य-सामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है। यदि विशेष का भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो तो इन विशेषों को (उत्पन्न) करनेवाले सामान्य का ज्ञान होना ही चाहिए। द्रव्यसामान्य के ज्ञान के बिना पर्यायों का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता; इसलिए उपर्युक्त निश्चयनय में द्रव्य-सामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है। जो जीव, 'बन्धमार्गरूप पर्याय में तथा मोक्षमार्गरूप पर्याय में आत्मा, अकेला ही है', इसप्रकार यथार्थतया (द्रव्य-सामान्य की अपेक्षा सहित) जानता है, वह जीव परद्रव्य से संपृक्त नहीं होता और द्रव्य-सामान्य के भीतर पर्यायों को डुबाकर, एकरूप करके सुविशुद्ध होता है। इसप्रकार आलम्बन का अभिप्राय अपेक्षित होने से उपर्युक्त निश्चयनय को उपादेय कहा है।

इसप्रकार प्रवचनसार में वर्णित शुद्धनय की विवक्षा का वर्णन किया गया।

निश्चयनय के उक्त चार भेदों के बारे में और अधिक विचार-विमर्श करने के लिए यहाँ कुछ प्रश्नोत्तर और दिये जा रहे हैं –

प्रश्न 1 – यदि आंशिक शुद्धपर्यायरूप परिणमित आत्मा को विषय बनानेवाला नय, एकदेशशुद्धनिश्चयनय कहलाता है तो क्या आंशिक अशुद्धरूप परिणमित आत्मा को विषय बनानेवाला एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय भी हो सकता है?

उत्तर – एकदेशअशुद्धनिश्चयनय कहा तो सकता है, परन्तु एकदेशशुद्ध कहने में यह बात गर्भित ही है कि एकदेश-अशुद्धता बाकी है। इसलिए आगम में उसका अलग से उल्लेख नहीं किया गया। इस सन्दर्भ में क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने नयदर्पण, पृष्ठ 624 पर निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया है –

आगम में क्योंकि जीवों को ऊँचे उठाने की भावना प्रमुख है, अतः यहाँ एकदेशशुद्धनिश्चयनय का कथन तो आ जाता है, पर एकदेशअशुद्धनिश्चयनय का कथन नहीं किया जाता। अपनी बुद्धि से हम एकदेशअशुद्धनिश्चयनय को भी स्वीकार कर सकते हैं। जितनी कुछ नय, आगम में लिखी हैं, उतनी ही हों – ऐसा नियम नहीं। वहाँ तो एक सामान्य नियम बता दिया है। उसके आधार पर अन्य नय भी यथायोग्यरूप से स्थापित की जा सकती हैं।

जिसप्रकार साधक के क्षायोपशमिकभाव को एकदेशशुद्ध-निश्चयनय से क्षायिकवत् पूर्ण शुद्ध कहा जाता है; उसीप्रकार उसे एकदेशअशुद्धनिश्चयनय से औदयिकवत् पूर्ण अशुद्ध भी कहा जा सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं।

प्रश्न 2 – निश्चय के उक्त चार भेदों की विषय-वस्तु, पाँच भाव, सात तत्त्व तथा चौदह गुणस्थानों में किस प्रकार घटित होती है?

उत्तर – यहाँ दी जा रही तालिका से निश्चयनय के भेदों की विषय-वस्तु को विभिन्न सन्दर्भों में समझा जा सकता है।

निश्चयनय के भेद	पाँच भाव	सात तत्त्व	चौदह गुणस्थान
1. परमशुद्ध-निश्चयनय	परम पारिणामिक भाव	शुद्ध जीवतत्त्व	गुणस्थानातीत (सभी जीवों में पाया जाता है)
2. साक्षात्शुद्ध-निश्चयनय	क्षायिक भाव	मोक्षतत्त्व	चतुर्थ गुणस्थान से सिद्धदशा पर्यन्त रहने वाला क्षायिकभाव
3. एकदेशशुद्ध-निश्चयनय	क्षायोपशिक भाव और उपशम भाव	संवर-निर्जरा तत्त्व	चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होनेवाली आंशिक शुद्ध पर्याय
4. अशुद्ध-निश्चयनय	औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव	आस्रव-बन्ध तत्त्व	प्रथम गुणस्थान से बारहवें या चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त होनेवाले औदयिकभाव

प्रश्न 3 – क्षायोपशमिक भाव को एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय भी कहा गया है और अशुद्ध निश्चयनय का विषय भी कहा जाता है? – इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति स्पष्ट करें?

उत्तर – क्षयोपशम भाव में शुद्धता और अशुद्धता दोनों का मिश्रण रहता है, अतः उसमें विद्यमान शुद्धता के अंश से आत्मा को अभेद देखना, एकदेशशुद्धनिश्चयनय कहलाता है और उसमें विद्यमान अशुद्धता के अंश के साथ आत्मा को अभिन्न देखना अशुद्धनिश्चयनय कहलाता है।

एकदेशशुद्धनिश्चयनय आंशिक शुद्धपर्यायों को ही आत्मा से अभिन्न देखता है। अपूर्णता की अपेक्षा इसे **एकदेश** और शुद्धता की

अपेक्षा शुद्ध और आत्मा की पर्याय होने से उसे **निश्चय** कहा जाता है। आत्मा को ज्ञानी, धर्मात्मा, श्रावक, मुनि आदि आत्मीक पर्यायों से अभिन्न जानना, पर्यायगत यथार्थ तो है ही, अतः उसमें **यथार्थ निरूपण सो निश्चय** यह परिभाषा भी घटित होती है।

प्रश्न 4 – कर्ता-कर्म व्यवस्था में निश्चयनय के चार भेद किस प्रकार घटित होते हैं?

उत्तर – आत्मा की कर्ता-कर्म व्यवस्था के प्रमुख बिन्दु इसप्रकार हैं –

1. आत्मा, उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से धन्धा-व्यापार, मकान आदि पर-पदार्थों का कर्ता है।

2. आत्मा, अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से पुद्गल की पर्यायरूप द्रव्य-आस्रव-बन्ध-पुण्य-पाप पदार्थों का कर्ता है। आत्मा को द्रव्य-संवर-निर्जरा-मोक्ष का कर्ता भी इसी नय का कथन जानना चाहिए।

3. आत्मा, अशुद्धनिश्चयनय से अपने आस्रव-बन्ध-पुण्य-पाप आदि भावों का कर्ता है।

4. आत्मा, विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से संवर-निर्जरारूप शुद्धभावों का कर्ता है।

5. आत्मा, साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से पूर्ण निर्मल पर्यायों का कर्ता है।

6. आत्मा, परमशुद्धनिश्चयनय से अकर्तृत्वशक्तिस्वरूप निष्क्रिय ध्रुव तत्त्वरूप परमपारिणामिकभावस्वरूप है।

विशेष – आत्मा को रागादि का कर्ता कहने में उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय तथा शुद्धपर्याय का कर्ता कहने में अनुपचरित-

सद्भूतव्यवहारनय भी घटित हो सकता है। इस प्रकरण का स्पष्टीकरण व्यवहारनय के भेद-प्रभेद वाले अध्याय में किया जाएगा।

प्रश्न 5 – एकदेश-शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत शुद्धभाव के नामान्तर भी उपलब्ध होते हैं क्या?

उत्तर – समयसार, गाथा 320 की जयसेनाचार्य कृत टीका में एकदेश-शुद्धनिश्चयनय के विषय को अध्यात्मभाषा में द्रव्यशक्तिरूप शुद्धपारिणामिकभाव की भावना, निर्विकल्प-समाधि, शुद्धोपयोग, शुद्धात्माभिमुख परिणाम आदि अनेक नामों से कहा गया है। इसी परिणाम को आगम भाषा में भव्यत्व नामक पारिणामिकभाव की प्रगटता तथा औपशमिक या क्षायोपशमिक भाव भी कहा जाता है।

प्रश्न 6 – साधकदशा का शुद्धोपयोग, एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय है तो बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धनिश्चयनय कैसे घटित होगा?

उत्तर – साधक का शुद्धोपयोग, क्षयोपशमभावरूप होने से उसमें अशुद्धता का अंश भी है; अतः वह अशुद्धनिश्चयनय का विषय बनेगा। वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 34 की टीका में इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार किया गया है –

शंका – अशुद्धनिश्चयनय में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में (अशुभ, शुभ और शुद्ध) तीन उपयोगों का व्याख्यान किया; वहाँ अशुद्धनिश्चयनय में शुद्धोपयोग किसप्रकार घटित होता है?

समाधान – शुद्धोपयोग में शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभावी निजात्मा ध्येय होता है। इसकारण शुद्ध ध्येयवाला होने से, शुद्ध-अवलम्बनवाला होने से और शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से अशुद्धनिश्चयनय में शुद्धोपयोग घटित होता है।

'संवर' शब्द से वाच्य वह शुद्धोपयोग, संसार के कारणभूत

मिथ्यात्व-रागादि अशुद्धपर्याय की भाँति अशुद्ध नहीं होता, उसीप्रकार उसके फलभूत केवलज्ञानरूप शुद्धपर्याय के समान शुद्ध भी नहीं होता; परन्तु वह शुद्ध और अशुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चय-रत्नत्रयात्मक, मोक्ष का कारणभूत, एकदेश प्रगट, एकदेश निरावरण - ऐसी तृतीय अवस्थारूप कहलाता है।

विशेष - बारहवें गुणस्थान में यद्यपि क्षायिकचारित्र प्रगट हो जाता है, जो कि साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का विषय बनता है, परन्तु वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय का उदय होने से केवलज्ञानरूप शुद्धपर्याय न होने से एकदेशशुद्धनिश्चयनय घटित किया गया है।

प्रश्न 7 - निश्चयनय को एक सामान्यग्राही होने से अभेद तथा एक ही प्रकार का बताया था, फिर उसके चार भेद करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर - परद्रव्यों तथा अपनी शुद्धाशुद्धपर्यायों से भी भिन्न निज शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान कराना ही इन चार भेदों का प्रयोजन है। यहाँ यह स्पष्ट किया जा रहा है कि इस प्रयोजन की सिद्धि में कौन-सा भेद किसप्रकार सहायक होता है।

1. अशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन - प्रत्येक द्रव्य, अपना कार्य करने में पूर्ण स्वतन्त्र है और प्रत्येक जीव भी अपना भला-बुरा करने में पूर्ण समर्थ है और स्वतन्त्र है, इसके लिए उसे परद्रव्य के सहयोग की आवश्यकता बिलकुल नहीं है - यह सिद्ध करना ही अशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन है; क्योंकि वह राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि अप्रिय अवस्थाओं को भी अपनी स्वीकार करता है, उनके कर्तृत्व और भोक्तृत्व को भी स्वीकार करता है। जीव, स्वयं अपनी भूल से दुःखी है, उसमें किसी

कर्म या नोकर्म का दोष नहीं है – इस सत्य की सिद्धि, अशुद्धनिश्चयनय से होती है।

2. एकदेशशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन – यद्यपि जीव, स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर रागादि भाव करता है, परन्तु वे दुःखरूप हैं, अशुचि हैं तथा जीव के स्वभाव से विपरीत हैं, इसलिए जीव से भिन्न हैं; अतः इन भावोंरूप परिणमित आत्मा के लक्ष्य से दुःखों से मुक्ति नहीं हो सकती। अपने स्वरूप को इनका कर्ता-भोक्ता मानना अज्ञान है। जो राग की रचना करे, वह आत्मा का वीर्य नहीं हो सकता, आत्मा तो ज्ञानानन्द स्वभावी है; अतः अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द ही उसका कार्य है। इसप्रकार राग से दृष्टि हटाकर, मोक्षमार्ग प्रगट करना, एकदेशशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन है; क्योंकि वह रागादि विकारी भावों का निषेध करके, आत्मा को सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का कर्ता कहकर, उन्हें प्रगट करने की प्रेरणा देता है। इसप्रकार एकदेशशुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय का निषेध करके, उसे व्यवहार की कोटि में डाल देता है।

3. साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन – आंशिक शुद्धपर्यायें भी पूर्ण होने से आत्मा के पूर्ण स्वभाव का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं तथा उन पर दृष्टि करने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, इसलिए वे भी हेय हैं। ये पर्यायें सादि-सान्त हैं, जबकि आत्मा, अनादि-अनन्त है। एकदेशशुद्धता साधन है, साध्य नहीं; जबकि मोक्ष, पूर्ण शुद्धपर्याय है, वही साध्य है और आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव का प्रतिनिधित्व भी करता है, इसलिए मोक्ष, पूर्ण उपादेय है।

इसप्रकार साक्षात्शुद्धनिश्चयनय, अपूर्ण शुद्धपर्यायों से दृष्टि हटाकर, साधक को साधन में न अटकाकर, साध्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता

हुआ, एकदेशशुद्धनिश्चयनय का निषेध करता हुआ, उसे व्यवहार की कोटि में डाल देता है।

4. परमशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन – यद्यपि क्षायिक भाव, पूर्ण शुद्धपर्याय है, सादि-अनन्त है, साध्य है; तथापि वह भी क्षणवर्ती पर्याय होने से आलम्बन योग्य नहीं है, दृष्टि का विषय नहीं है। मैं तो अनादि-अनन्त शाश्वत त्रिकाली ध्रुव तत्त्व हूँ, **मात्र पिण्ड हूँ, वृत्ति नहीं।** इसप्रकार परमभावग्राही परमशुद्धनिश्चयनय उदित होकर साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का भी निषेध करता हुआ, उसे व्यवहार की कोटि में डाल देता है।

परमशुद्धनिश्चयनय, स्वयं अपने से सम्बन्धित विकल्पों का निषेध करता हुआ उदित होता है, परन्तु उसका विषय ही श्रद्धेय-ज्ञेय और ध्येय होने से उसका निषेध करनेवाला कोई नय नहीं है। उसका निषेध करने की आवश्यकता भी नहीं है। उसका निषेध तो हमारी मिथ्या मान्यता में अनादि से हो ही रहा है, अतः उसका निषेध क्यों किया जाए? उसमें सर्वस्व समर्पण करना है, उसका निषेध नहीं।

इसप्रकार निश्चयनय के चार भेद, दृष्टि को क्रमशः परपदार्थों, विकारी भावों, आंशिक और पूर्ण शुद्धपर्यायों से भिन्न अनादि-अनन्त कारण परमात्मा पर दृष्टि स्थापित कराते हैं और यही प्रत्येक आत्मार्थी का मूल प्रयोजन है।

प्रश्न 8 – निश्चयननय के इन चार भेदों को स्वीकार न किया जाए तो क्या हानि है?

उत्तर – प्रारम्भ के तीन भेदों का कथंचित् निषेध करके ही परमशुद्धनिश्चयनय तक पहुँचा जा सकेगा, परन्तु यदि इनका सर्वथा निषेध किया जाए अर्थात् इनकी विषय वस्तु को स्वीकार ही न किया

जाए तो प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकेगा और मोक्षमार्ग की प्रक्रिया ही नष्ट हो जाएगी। यहाँ इसी बात का स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

1. **अशुद्धनिश्चयनय** एवं उसके विषय का सर्वथा निषेध करने पर **अपने को आप भूलकर हैरान हो गया** – यह रहस्य समझ में नहीं आएगा और हम परपदार्थों को ही अपना भला-बुरा करनेवाला मानते रहेंगे। पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध आदि संसारतत्त्व का निषेध हो जाएगा और संसार का अभाव मानने पर मोक्षमार्ग और मोक्ष की सिद्धि भी न हो सकेगी। **जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःखतैं भयवन्त** – इस तथ्य का लोप होने से तत्त्वाभ्यास, तत्त्वनिर्णय तथा आत्मानुभूतिरूप धर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी; अतः आत्मा, स्वयं अपनी भूल से दुःखी है – ऐसा स्वीकार करके दुःख-दूर करने का सच्चा उपाय करना चाहिए।

2. **एकदेशशुद्धनिश्चयनय** एवं उसके विषय का सर्वथा निषेध करने पर आत्मानुभूति, रत्नत्रय अर्थात् संवर-निर्जरातत्त्व का लोप हो जाएगा, जिससे रत्नत्रय के लिए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देनेवाली जिनवाणी तथा उसके प्रवक्ता आप्त अर्थात् तीर्थंकर परमात्मा के भी अभाव का प्रसंग आएगा; अतः इसके विषय को स्वीकार करके रत्नत्रय प्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहिए।

3. **साक्षात्शुद्धनिश्चयनय** एवं उसके विषय का निषेध करने पर क्षायिकभाव अर्थात् मोक्षतत्त्व का निषेध हो जाएगा, जिससे अर्हन्त और सिद्धदशा के निषेध का प्रसंग भी आएगा; अतः साक्षात्शुद्ध-निश्चयनय के विषय को स्वीकार करके पूर्णता के लक्ष्य से सच्ची शुरुआत करना चाहिए।

उक्त तीन नय आत्मा की अशुद्ध एवं शुद्धपर्यायों को अपना विषय

बनाते हैं, अतः इनका सर्वथा निषेध करने पर -

(अ) पर्याय का ही सर्वथा निषेध हो जाएगा, तब छह द्रव्यों को जाननेवाले का ही निषेध होने से विश्व के निषेध का प्रसंग आएगा।

(ब) उक्त तीनों नयों का निषेध करने पर एक परमशुद्धनिश्चयनय ही बचेगा, जिसके विषय में बन्ध और मोक्षपर्यायें हैं ही नहीं; अतः आत्मा को सर्वथा नित्य मानने का प्रसंग आएगा।

(स) परमशुद्धनिश्चयनय का विषय भी एकदेशशुद्धनिश्चयनय और साक्षात्शुद्धनिश्चयनय के द्वारा अनुभव में आता है, अतः इन दोनों का निषेध करने से परमशुद्धनिश्चयनय और उसके विषय का भी लोप हो जाएगा।

अतः सर्वनाश की इस आपत्ति से बचने के लिए उक्त तीन भेदों को यथायोग्य स्वीकार करना चाहिए।

परमशुद्धनिश्चयनय के निषेध करने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उसके अवलम्बन से ही अशुद्धता का नाश होकर शुद्धता की उत्पत्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है।

प्रश्न 9 – यदि उक्त तीन भेदों का निषेध करने से सर्वनाश का प्रसंग आता है तो इनके कथंचित् निषेध करने की भी क्या आवश्यकता है?

उत्तर – कथंचित् निषेध करने से आशय, उनके विषय की सत्ता का निषेध करने से नहीं, अपितु अपने स्वभाव को उनसे भिन्न जानकर, उनसे दृष्टि हटाने से है। यदि उस नय के विषय का कथंचित् निषेध भी न होगा तो उसी पर दृष्टि (अपनापन) रहेगी, जिससे परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत आत्मा, ज्ञेय-श्रद्धेय-ध्येय न हो पाएगा अर्थात् नयों को जानने का प्रयोजन ही सिद्ध न हो पाएगा, क्योंकि

आत्मानुभूति होने की प्रक्रिया उत्तरोत्तर निषेध की प्रक्रिया है। प्रत्येक नय, अपने विषय का ज्ञान कराने के लिए अनिषेध्य (स्वीकार्य) है, परन्तु वहाँ से दृष्टि हटाकर त्रिकाली ज्ञायक तक ले जाने के लिए निषेध्य है, क्योंकि अपने विषय का ज्ञान कराने के बाद उस नय की उपयोगिता समाप्त हो जाती है; अतः उसका निषेध न करें तो वहीं खड़े रह जाएँगे और उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाएगी।

अतः निश्चयनय के भेद-प्रभेद कथंचित् निषेध्य हैं और कथंचित् स्वीकार्य हैं - यह स्याद्वाद ही शरणभूत है। यदि इनका कथंचित् निषेध भी न किया जाए तो वे ही आपत्तियाँ खड़ी हो जाएँगी, जो सर्वथा निषेध करने से होती हैं। कथंचित् निषेध भी न किया जाए तो पर और पर्यायों से दृष्टि हटाकर स्वभाव-सन्मुख होने का अवकाश न रहेगा, परन्तु सर्वथा निषेध करने से भी शुद्धाशुद्धपर्यायों तथा उनसे तन्मय द्रव्य का निषेध होने की आपत्ति आती है, जिससे अनादिकालीन मिथ्यात्व जीवन्त रहेगा तथा सात तत्त्वों की सिद्धि भी न हो सकेगी।

प्रश्न 10 - निश्चयनय के भेदों का सर्वथा निषेध करने से सात तत्त्वों की सिद्धि नहीं होगी - इस तथ्य को जरा विस्तार से समझाएँ?

उत्तर - समयसार, गाथा 3 की टीका में स्पष्ट किया गया है कि एक द्रव्य, दूसरे का स्पर्श भी नहीं करता और कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता; इसलिए प्रत्येक द्रव्य, परद्रव्यों तथा उनके गुण-पर्यायों से अत्यन्त भिन्न तथा अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न है। यही वस्तु का पारमार्थिक स्वरूप है, यही भूतार्थ है। परद्रव्यों के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध कहना व्यवहार है, जो कि अभूतार्थ है।

आगमकथित उक्त महासत्य की नींव पर परमागम अर्थात् अध्यात्म का महल खड़ा होता है और उसमें निश्चयनय के विषयभूत अभेद द्रव्य की सीमा से पर्यायों और गुणभेदों को बाहर करके, अभेद, अखण्ड,

त्रिकाली, ध्रुव, भगवान-आत्मा को प्रतिष्ठित करता है।

इसप्रकार **परमशुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवतत्त्व** की सिद्धि होती है।

अशुद्धनिश्चयनय रागादि विकारी पर्यायों को आत्मा के स्वीकार करता है, परन्तु एकदेशशुद्धनिश्चयनय, उन्हें जीव का स्वीकार न करके, कर्मोदय के निमित्त की अपेक्षा, पुद्गल का कह देता है; अतः रागादि भाव शुद्धजीवतत्त्व में तो हैं ही नहीं, परन्तु वे पुद्गलद्रव्य में भी उत्पन्न नहीं होते, अतः उन्हें जीव और अजीव, दोनों तत्त्वों से पृथक् पुण्य-पाप एवं आस्रव-बन्धतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।

इसप्रकार **अशुद्धनिश्चयनय से आस्रव-बन्ध तथा पुण्य-पापतत्त्व** की सिद्धि होती है, जिन्हें अशुद्धनिश्चयनय से जीव का और एकदेशशुद्धनिश्चयनय से पुद्गल का कहा जाता है।

अपूर्ण और पूर्ण शुद्धपर्यायें भी शुद्धजीवतत्त्व में शामिल नहीं हैं; अतः इन्हें संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।

द्रव्यासव-बन्ध-पुण्य-पाप-संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व, यद्यपि पुद्गल की पर्यायें हैं; उनमें भावास्रव-बन्ध-पुण्य-पाप-संवर-निर्जरा-मोक्षरूप जीव की अशुद्ध-शुद्धपर्यायें निमित्त हैं। इसीप्रकार भावास्रव-बन्ध-पुण्य-पाप-संवर-निर्जरातत्त्व जीव की पर्यायें हैं, उनमें द्रव्यास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षरूप पुद्गल की पर्यायें निमित्त हैं; इसलिए जीव की भावास्रव-संवरादि पर्यायों तथा पुद्गलकर्म की द्रव्यास्रव-संवरादि पर्यायों का एक समूह बनाकर, पर्यायरूप आस्रवादि व संवरादि तत्त्वों को जीव-अजीवतत्त्व से भिन्न कहा गया है।

इसप्रकार नौ तत्त्वों का स्वरूप समझने पर, नौ तत्त्वों में छिपी हुई, परन्तु नौ तत्त्वों से भिन्न आत्म-ज्योति के अनुभवरूप मोक्षमार्ग की

सिद्धि के लिए अध्यात्मरूप परमागम में भी निश्चयनय के भेद-प्रभेद किये गये हैं। आगम में छह द्रव्यों की मुख्यता तथा अध्यात्मरूप परमागम में सात-तत्त्वों की मुख्यता से कथन किया गया है। प्रवचनसार, गाथा 232 की टीका में आचार्य जयसेन लिखते हैं - **समस्त आगम के सारभूत चिदानन्द एक परमात्मतत्त्व के प्रकाशक 'अध्यात्म' नामक परमागम से भी पदार्थों का ज्ञान होता है।**

प्रश्न 11 - जिसप्रकार भावास्रव आदि को निमित्त की अपेक्षा पुद्गल कहा है, उसीप्रकार क्या द्रव्यास्रव आदि को जीव भी कहा है?

उत्तर - यद्यपि ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि कर्मोदय; रागादि एवं कर्मबन्ध में - इन तीनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो कहा ही है, परन्तु आगम में कहीं भी द्रव्यास्रवादि को सीधे तौर पर जीव कहने का उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन जीव को कर्मों का कर्ता-भोक्ता आदि, अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से कहा ही है, अतः पुद्गलकर्म, व्यवहारनय से जीव के कर्म होने से उन्हें परोक्षतया जीव के ही कहा है - यह सिद्ध हो जाता है।

वस्तुतः आत्महित के लिए रागादिभावों से कथंचित् भिन्न आत्मा को जानना प्रयोजनभूत है, न कि आत्मा से भिन्न द्रव्यकर्मों को। इसलिए कर्मों की चर्चा मात्र जीवभावों का ज्ञान कराने के प्रयोजन से ही की गई है। आगम का एक भेद, जैसे, अधि + आत्म = अध्यात्म कहा गया है, वैसे अधि-पुद्गल नाम का कोई भेद नहीं कहा गया।

प्रश्न 12 - जब कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले रागादि भावों को पौद्गलिक कहा है तो कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय के निमित्त से होनेवाले सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान आदि को भी पौद्गलिक क्यों नहीं कहा है?

उत्तर - 1. रागादिभाव, चेतनारहित हैं और पुद्गल के लक्ष्य से

होते हैं; अतः उन्हें पौद्‌गलिक कहकर उनसे भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वभाव का अवलम्बन कराने का प्रयोजन है; जबकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, रागादि की भाँति अचेतन नहीं हैं, वे आत्मा के अवलम्बनरूप अवस्थाएँ हैं, अतः उनमें आत्मा ही उछलता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इन्हें **आत्मरूपं तत्** अर्थात् आत्मा का स्वरूप कहा है। अतः **'दृष्टि-प्रधान ज्ञान'** की कथन शैली में रागादि को आत्मा की सीमा से बाहर रखा है और निर्मल पर्याय को आत्मा का ही परिणाम कहा है।

2. यद्यपि वर्तमान में केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्धपर्यायें प्रगट नहीं हैं, तथापि जब तक इनकी महिमा भासित होगी, तब तक दृष्टि अपने अनादि-अनन्त शाश्वत ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन नहीं कर सकेगी; अतः निर्मल पर्यायें प्रगट करने के लिए उनसे भी दृष्टि हटाकर, **परिणाम परिणम गया और मैं यूँ का यूँ रह गया** - इसप्रकार अपरिणामी ज्ञायकस्वभाव को मुख्य करके, आत्मा को औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव से भिन्न एक पारिणामिकभाव स्वरूप कहा गया है। नियमसार की 50वीं गाथा में इन चार भावों को परद्रव्य और परस्वभाव कहकर हेय कहा गया है। इसप्रकार इन्हें सीधे पुद्‌गल न कहते हुए भी परद्रव्य कहकर आत्मा को इनसे भिन्न कहा गया है। यह अध्यात्म की पराकाष्ठा को प्राप्त वचन है।

3. परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परमपारिणामिकभाव का विशेष स्पष्टीकरण, श्रीमद् जयसेनाचार्यदेव ने समयसार की मोक्ष अधिकार की चूलिका में (गाथा 320 की टीका के पश्चात्) किया है। पूज्य गुरुदेवश्री को यह टीका अत्यन्त प्रिय रही, जिस पर उन्होंने स्वतन्त्र प्रवचन भी किये हैं। इस टीका में समागत निम्नलिखित बिन्दु विशेष ध्यान देने योग्य हैं -

(अ) शुद्धपारिणामिकभाव, बन्ध के कारणभूत रागादि क्रिया से

तथा मोक्ष के कारणभूत शुद्धभावना-परिणतिरूप क्रिया से तन्मय नहीं होता, अतः वह निष्क्रिय है। कहा भी है - **निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः।**

(ब) सहज शुद्धपारिणामिकभाव स्वरूप निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान व आचरण को आगम भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव तथा अध्यात्म भाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि कहा जाता है।

(स) उक्त शुद्धोपयोगरूप पर्याय भावनारूप है और मोक्ष अवस्था में उसका विनाश हो जाता है; अतः वह शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है।

(द) शुद्धपारिणामिक भाव, शक्तिरूप मोक्ष है, यह व्यक्त पर्यायरूप मोक्ष का कारण नहीं है, शुद्धपारिणामिकभाव विषयक भावना (शुद्धोपयोग) रागादिरहित शुद्ध उपादानरूप होने से मोक्ष का कारण है।

(इ) उक्त भावना, एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय है तथा क्षायोपशमिकज्ञानरूप है, तथापि ध्यातापुरुष अर्थात् उस भावनारूप परिणमित आत्मा, स्वयं को **मैं सकल निरावरण प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिक-परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य ही हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं** - ऐसा अनुभव करता है अर्थात् क्षायोपशमिकभावरूप खण्डज्ञानरूप पर्याय, अन्तर्मुख होकर अपने को द्रव्यरूप अनुभव करती है।

प्रश्न 13 - पर्याय स्वयं क्षणिक है, खण्डज्ञानरूप है, एकदेशशुद्ध है और वह स्वयं को त्रिकाली अखण्ड परिपूर्ण शुद्धद्रव्यरूप अनुभव करे - यह तो असत्य होने से मिथ्यात्व हुआ, इसे सम्यग्दर्शन कैसे कह सकते हैं? अपूर्ण पर्याय में अपने को पूर्ण शुद्ध मानना क्या निश्चयाभास नहीं है?

उत्तर - जिसमें अहंपना होता है, स्वयं को वैसा ही अनुभव

किया जाता है। अहंपना और लीनता (श्रद्धा और चारित्र) का यही स्वरूप है। श्रद्धा की पर्याय द्वारा स्वयं को अखण्ड द्रव्यरूप अनुभव करने पर भी निश्चयाभास नहीं होता, क्योंकि अनुभूति के काल में भी ज्ञान, द्रव्य और पर्याय दोनों को यथार्थ जानता है।

किसी दरिद्र व्यक्ति की सुन्दर कन्या पर एक सम्राट् मोहित हो गया और सम्राट् पर भरोसा करके उस कन्या ने सम्राट् का वरण कर लिया। अब वह कन्या यदि स्वयं को दरिद्र और उसकी दासी माने तो वरण कहाँ हुआ, उसमें सर्वस्व समर्पण कहाँ हुआ? समर्पण तो तब कहा जाएगा, जब वह स्वयं को उसमें एकाकाररूप अनुभव करे, स्वयं को सम्राज्ञी अनुभव करे – ऐसा कहना भी अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का कथन है, क्योंकि इस कथन में भी ध्यान-ध्येय का भेद पड़ रहा है। वस्तुतः अपने में और द्रव्य में भेद न देखना, द्रव्य में अहं करते हुए अपने को द्रव्यरूप ही देखना, अनुभव करना – यही श्रद्धा या अनुभूति का स्वरूप है।

पर्याय, पर्याय का लक्ष्य करती हुई, अपने को ध्रुव या पूर्ण माने तो निश्चयाभास होगा, परन्तु ज्ञान-पर्याय को पर्याय का यथार्थज्ञान होने पर भी श्रद्धा ने अपना अहं, द्रव्य में विसर्जित किया है, समर्पित किया है। अब द्रव्य ही उसका स्व है, उसकी अनुभूति में द्रव्य ही बसता है, वह स्वयं नहीं। यही द्रव्यदृष्टि है, स्वभाव-दृष्टि है, भूतार्थ का आश्रय है।

वस्तु, द्रव्य-पर्यायात्मक है। द्रव्य, पर में कुछ कर सकता नहीं और उसमें कुछ करने की गुंजाइश नहीं, वह तो स्वयं परिपूर्ण निष्क्रिय ध्रुव तत्त्व है; अतः करने का काम पर्याय का पर्याय में ही रहा। पर्याय भी पर में कुछ कर सकती नहीं और वह द्रव्य का ही अंश होने से द्रव्य ही उसका पारमार्थिक स्वरूप है, अतः जैसा उसका वास्तविक स्वरूप है, उसे जानकर वैसी प्रतीति करना और उसमें एकाग्र होना, यही

उसका कर्म है, यही उसका धर्म है, इसी में सच्चा सुख है।

पर्याय, द्रव्य से सर्वथा भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। द्रव्य का ही अंश है, अंग है। परिणमन करना भी द्रव्य का ही स्वभाव है; अतः श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के द्वारा यह जीव, पर या स्व का अवलम्बन करता हुआ दुःखी या सुखी होता है। पर्याय, द्रव्य का अवलम्बन करती है - यह भेद का कथन है; अभेद विवक्षा में तो आत्मा ही ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय अथवा ध्यान-ध्याता-ध्येय वह स्वयं ही है।

हम यह भी कह सकते हैं कि आँखें देखती हैं और यह भी कह सकते हैं कि व्यक्ति आँखों से देखता है; अतः द्रव्य पर्याय के भेद-अभेद की यथार्थ विवक्षा समझकर, पर से लक्ष्य हटाकर, निजपरमात्मद्रव्य का अवलम्बन करना ही सुखी होने का उपाय है।

प्रश्न 14 - सारा काम पर्याय को ही करना है, पर्याय में पर्याय से पर्याय के लिए ही करना है। अपने में ही द्रव्य को ही देखना है तो फिर परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत त्रिकाली द्रव्य का मोक्षमार्ग या मोक्ष में क्या योगदान है?

उत्तर - अरे भाई! सारा काम पर्याय में होना है, परन्तु होगा कैसे? द्रव्य के सन्मुख होकर उसमें अहंपना करने से न! पर्याय, द्रव्य का लक्ष्य किये बिना अपने में द्रव्य को कैसे देखेगी? अतः निष्क्रिय द्रव्य का त्रिकाल विद्यमान रहना - यही उसका योगदान है। महान् लोगों की उपस्थिति मात्र से सब काम हो जाते हैं। यदि द्रव्य की सत्ता ही न हो तो पर्याय अपना अहं किसमें करेगी? अपने को द्रव्यरूप कैसे देखेगी? अतः मोक्षमार्ग में द्रव्य और पर्याय, दोनों का अपने-अपने स्वभाव के अनुसार योगदान है।

प्रश्न 15 - आपने कहा कि आत्मा स्वयं ध्यान है, स्वयं ध्येय है तो क्या मोक्ष हमारा ध्येय नहीं है?

उत्तर – त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली एकदेश निर्मलपर्याय अर्थात् मोक्षमार्ग पर्याय साधन है तथा साधन का फल अर्थात् मोक्षपर्याय साध्य है, जबकि त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ध्येय है।

इसप्रकार निश्चयनय के भेद-प्रभेदों को समझकर परमशुद्धनिश्चयनय के विषय का अवलम्बन लेकर साक्षात्शुद्धनय की विषयभूत मोक्षदशा का पुरुषार्थ प्रकट करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. निश्चयनय के भेद नहीं हो सकते – इस मान्यता की समीक्षा कीजिए।
2. निश्चयनय के भेदों की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए चारों भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. यदि निश्चयनय के भेद न किये जाएँ तो क्या हानि है? सतर्क विवेचन करें।
4. निश्चयनय के भेदों को पाँच भाव, चौदह गुणस्थान और सात तत्त्व में घटित करते हुए सिद्ध कीजिए कि निश्चयनय के भेदों का सर्वथा निषेध करने से सात तत्त्वों की सिद्धि नहीं हो सकती।
5. रागादि भावों को पौद्गलिक एवं जीवकृत कहने की अपेक्षाएँ और प्रयोजन स्पष्ट कीजिए।
6. पर्याय, स्वयं क्षणिक होने पर भी अपने को शाश्वत अनुभव करते हुए भी उसे मिथ्यात्व क्यों नहीं होता और सम्यक्त्व कैसे होता है? स्पष्ट कीजिए।

9

व्यवहारनय के भेद-प्रभेद

निश्चयनय के समान व्यवहारनय के भी मुख्यतः दो भेद कहे गए हैं। हमें अपने लौकिक जीवन में भी अपने से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करना ही पड़ता है तथा अभेद वस्तु में भी भेद करके ही उसे समझना-समझाना पड़ता है। इसी आधार पर जिनागम में व्यवहारनय के मुख्य दो भेद कहे गए हैं - असद्भूतव्यवहारनय और सद्भूतव्यवहारनय।

समयसार, गाथा 27 में जीव और देह दोनों को एक कहना व्यवहार कहा गया है तथा गाथा 7 में आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं - ऐसा कहना व्यवहार कहा गया है। इसी आधार पर व्यवहारनय के उक्त दो भेद कहे गए हैं।

आलापपद्धति में भिन्न-भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करने को असद्भूतव्यवहारनय तथा एक ही वस्तु में भेद करने को सद्भूतव्यवहारनय कहा गया है।

उक्त दोनों नाम उचित और सार्थक हैं, क्योंकि दो वस्तुओं में वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी प्रयोजनवश उनमें सम्बन्ध स्थापित करना, असद्भूत अर्थात् अविद्यमान ही तो हुआ।

भिन्न वस्तु में सम्बन्ध स्थापित करना, व्यवहार है और संयोग का ज्ञान करानेवाले सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश होने से उसे नय कहा है।

इसप्रकार इस नय को **असद्भूतव्यवहारनय** कहना उचित है। इसीप्रकार एक अखण्ड वस्तु में उसके गुण-पर्याय, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा धर्मों आदि के भेद करके उसे समझाया जाता है। ये धर्म, वस्तु में विद्यमान हैं अर्थात् सद्भूत हैं और अभेद में भेद उत्पन्न करना व्यवहार है तथा भेदरूप अंश को श्रुतज्ञान के अंश नय द्वारा जाना गया है, अतः उसका **सद्भूतव्यवहारनय** नाम उचित है।

आलापपद्धति, पृष्ठ 227 पर सद्भूत और असद्भूत व्यवहारनय की विषय-वस्तु इसप्रकार स्पष्ट की गई है -

गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभाववान् में और कारक-कारकवान् में भेद करना अर्थात् वस्तुतः जो अभिन्न हैं, उनमें भेद-व्यवहार करना, सद्भूतव्यवहारनय का अर्थ (विषय) है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का उपचार, एक पर्याय में दूसरी पर्याय का उपचार, एक गुण में दूसरे गुण का उपचार, द्रव्य में गुण का उपचार, द्रव्य में पर्याय का उपचार; गुण में द्रव्य का उपचार, गुण में पर्याय का उपचार, पर्याय में द्रव्य का उपचार और पर्याय में गुण का उपचार - इसप्रकार नौ प्रकार का असद्भूतव्यवहारनय का अर्थ जानना चाहिए।

असद्भूत और सद्भूत दोनों ही व्यवहार के उपचरित और अनुपचरित दो-दो भेद कहे गए हैं। इसप्रकार व्यवहारनय के चार भेद माने जाते हैं।

स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर - इस नियम को ध्यान में रखकर इन भेदों को निम्नलिखित क्रमानुसार समझना चाहिए -

1. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय
2. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

3. उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय

4. अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय

इन भेदों को इस तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है -
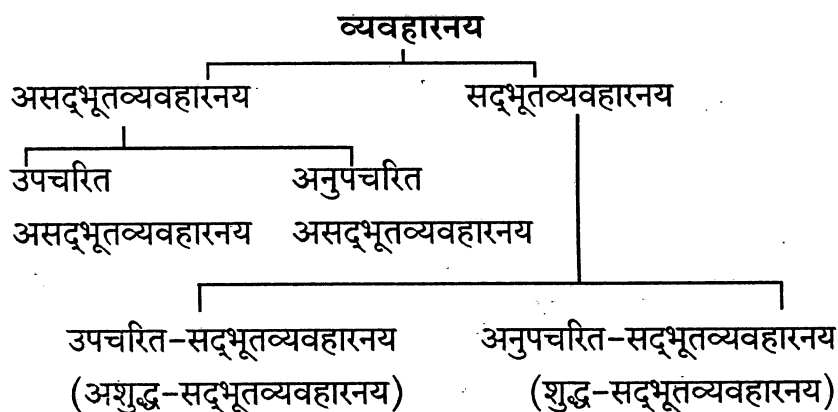
व्यवहारनय के चारों भेदों का स्वरूप और उनके विभिन्न प्रयोग

1. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

जिनका आत्मा से एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध भी नहीं है - ऐसे संश्लेषरहित स्त्री-पुत्र-धन-सम्पत्ति आदि पदार्थों से आत्मा का स्व-स्वामी कर्ता-भोक्ता आदि सम्बन्ध जानना/कहना उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय है। यहाँ इसके कुछ शास्त्रीय उद्धरण दिये जा रहे हैं -

(1) असद्भूतव्यवहार ही उपचार है और उपचार में भी जो उपचार करता है, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

- आलापपद्धति, पृष्ठ 224

(2) उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा घट-पट-रथ आदि का कर्ता है। - नियमसार, गाथा 18 की टीका

(3) उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से यह आत्मा काष्ठासन

पर बैठे हुए देवदत्त की भाँति अथवा समवसरण में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ की भाँति विवक्षित किसी एक ग्राम या घर में स्थित है।

– प्रवचनसार, जयसेनाचार्यकृत टीका का परिशिष्ट

(4) उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से यह आत्मा, पंचेन्द्रियों के इष्टानिष्ट विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख को भोगता है।

– वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 9 की संस्कृत व्याख्या

(5) बाह्य विषयों में पंचेन्द्रिय के विषयों का परित्याग भी उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से है।

– वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 45 की संस्कृत व्याख्या

2. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

जिनका आत्मा से एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध है – ऐसे संश्लेषसहित पदार्थों अर्थात् द्रव्यकर्मों तथा शरीर से आत्मा का सम्बन्ध जाननेवाला/कहनेवाला नय, अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है। आत्मा को मनुष्य, देव तथा स्त्री-पुरुष आदिरूप तथा कर्मों का कर्ता-भोक्ता आदि इसी नय से कहा जाता है। इस नय के कुछ शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं –

(1) आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्य कर्मों का कर्ता और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता है। अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से नोकर्म अर्थात् शरीर का भी कर्ता है। – नियमसार, गाथा 18 की तात्पर्यवृत्ति

(2) अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से यह जीव मूर्त है।

– वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 7 की संस्कृत व्याख्या

(3) अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से जीव यथासम्भव द्रव्यप्राणों द्वारा जीता है, जीवेगा और पहले जीता था।

– पंचास्तिकाय, गाथा 27 की तात्पर्यवृत्ति

(4) जीव के औदयिक आदि चार भाव अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों द्वारा किये गये हैं।

– पंचास्तिकाय, गाथा 58 की तात्पर्यवृत्ति

यहाँ असद्भूतव्यवहारनय के कुछ परिभाषात्मक उद्धरण मात्र दिये गए हैं। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग एवं करणानुयोग के लगभग सभी कथन, इसी नय के आधार से किये गये हैं। हमारे लौकिक जीवन में भी अधिकांशरूप से इसी नय का प्रयोग होता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण आगे यथास्थान किया जाएगा।

अब यहाँ सद्भूतव्यवहारनय से सम्बन्धित दोनों नयों की चर्चा क्रमशः करते हैं –

3. उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारभावों तथा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिकभावों को जीव का कहना, उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का प्रयोग है। इस नय को अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय भी कहा जाता है। जिनागम में उपलब्ध इस नय सम्बन्धी कुछ उद्धरण इसप्रकार हैं –

(1) अशुद्धगुण व अशुद्धगुणी में तथा अशुद्धपर्याय व अशुद्ध-पर्यायी में भेद का कथन करना, अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय है।

– आलापपद्धति, पृष्ठ 217

(2) अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय से मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधार होने के कारण अशुद्धजीव है।

– नियमसार, गाथा 9 की तात्पर्यवृत्ति

(3) अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय से अशुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णों के आधारभूत द्वि-अणुकादि स्कन्ध के समान मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधारभूत आत्मा है।

– प्रवचनसार, जयसेनाचार्यकृत टीका का परिशिष्ट

4. अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय

अखण्ड अभेद वस्तु में उसके गुणों तथा पूर्ण शुद्धपर्यायों का भेद करके जानना/कहना, अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का कथन है। इसे शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय भी कहते हैं। इस नय से सम्बन्धित कुछ आगम वाक्य इसप्रकार हैं -

(1) शुद्धगुण व शुद्धगुणी में अथवा शुद्धपर्याय व शुद्धपर्यायी में भेद का कथन करना, शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय है।

- आलापपद्धति, पृष्ठ 217

(2) शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने के कारण कार्यशुद्धजीव है। - नियमसार टीका, गाथा 9

(3) शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय से शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णों के आधारभूत पुद्गल-परमाणु के समान केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधारभूत आत्मा है।

- प्रवचनसार, जयसेनाचार्यकृत टीका का परिशिष्ट

प्रश्न - मतिज्ञान तथा केवलज्ञान तो पर्याय हैं, फिर उन्हें क्रमशः **विभावगुण** तथा **शुद्धगुण** क्यों कहा गया है?

उत्तर - दोषों का अभाव होने से मतिज्ञान/केवलज्ञान को गुण भी कहा जाता है।

प्रश्न - 'निश्चयनय के भेद-प्रभेद' प्रकरण में रागादिभावों को अशुद्धनिश्चयनय का और केवलज्ञान को साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का विषय कहा है, परन्तु यहाँ उन्हें अशुद्ध/उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय तथा शुद्ध/अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा जा रहा है। क्या एक ही वस्तु या भाव अनेक नयों का विषय हो सकता है?

उत्तर - वास्तव में वक्ता/ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं, मात्र वाणी को नहीं। **रागादिभाव, जीव के हैं या जीव, रागादि का कर्ता है - ऐसा कहकर, जीव के शरीरादि नहीं हैं या जीव, शरीरादि**

की क्रिया का कर्ता नहीं है – इसप्रकार शरीरादि के कर्तृत्व का निषेध करने का अभिप्राय हो, तब **'न तथा'** लक्षण निश्चयनय (अशुद्ध) का प्रयोग होता है। इसीप्रकार आत्मा को केवलज्ञानादिरूप कहकर या केवलज्ञानादि का कर्ता कहकर रागादि के कर्तापने का निषेध करने का अभिप्राय हो तो यह साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का प्रयोग होगा। उत्तरवर्ती नय, पूर्ववर्ती नय का निषेधक होने से निषेधक लक्षण निश्चयनय लागू हो जाता है।

इसीप्रकार अभेद आत्मा में रागादि या केवलज्ञानादि का भेद उत्पन्न करके (पर्यायार्थिकनय से) आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करने का अभिप्राय हो तो व्यवहारनय का प्रयोग होगा। अभेद वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए ही उसमें भेद किये जाते हैं, अतः **प्रतिपादक लक्षण व्यवहारनय** लागू होता है।

प्रश्न – अपूर्ण शुद्धपर्यायें अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अवस्था तो निश्चय से मोक्षमार्ग कही गई हैं, फिर उन्हें उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का विषय क्यों कहा जा रहा है?

उत्तर – जैसा कि पिछले प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि वक्ता या ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतरागभावरूप होने से वास्तविक मोक्षमार्ग हैं, अतः उन्हें मोक्षमार्ग कहना, निश्चयनय का कथन है। वीतरागभाव को निश्चय मोक्षमार्ग कहकर, शुभराग और बाह्य क्रिया को मोक्षमार्ग कहने का निषेध किया जाता है।

यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण नहीं है, अपितु आत्मा के स्वरूप का प्रकरण है। अभेद आत्मा में पर्यायों का भेद करना सद्भूतव्यवहार है और अपूर्णता होने से उन्हें आत्मा का स्वरूप कहना, उपचार; अतः यहाँ संवर-निर्जरारूप अपूर्ण शुद्धपर्यायों को आत्मा कहना, उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

प्रश्न – आत्मा को शुभराग का कर्ता कहना, उपचरित-

सद्भूतव्यवहारनय का कथन है, परन्तु शुभराग को मोक्षमार्ग कहना, व्यवहारनय के किस भेद में जाता है?

उत्तर – मोक्षमार्ग और शुभराग दोनों जीव की पर्यायें हैं, अतः शुभराग पर मोक्षमार्ग का आरोप करना, उपचरितव्यवहार है तथा शुभराग मोक्षमार्ग का निमित्त है, अतः उसे उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय कहना अधिक उचित है, क्योंकि साधकदशा में वह परिणाम उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता।

निश्चय-व्यवहार के प्रयोगों में यही बात ध्यान देने योग्य है कि वह कथन, प्रतिपादन कर रहा है या निषेध कर रहा है। यह जानना भी आवश्यक है कि किसका प्रतिपादन किया जा रहा है या किसका निषेध किया जा रहा है और क्यों? अर्थात् किस प्रयोजन से किया जा रहा है। इसी आधार पर यह निश्चित किया होता है कि यह कथन निश्चयनय अथवा व्यवहारनय के किस भेद-प्रभेद के अन्तर्गत आता है।

व्यवहारनय के चार भेदों की प्रतिपादन शैली

परमभावप्रकाशक नयचक्र में एक स्वतन्त्र सम्प्रभुता-सम्पन्न राष्ट्र का अन्य देशों के साथ व्यावहारिक सम्बन्ध के आधार पर असद्भूतव्यवहारनय की और उसकी आन्तरिक व्यवस्था के आधार पर सद्भूतव्यवहारनय की प्रतिपादन शैली को विश्व-व्यवस्था पर घटित किया गया है।[1]

यहाँ इस विवेचन को अनेक बिन्दुओं के आधार पर तुलनात्मक शैली में प्रस्तुत किया जा रहा है –

लौकिक विश्व-व्यवस्था	अलौकिक विश्व-व्यवस्था
1. लौकिक विश्व, सम्प्रभुता सम्पन्न अनेक देशों का समुदाय	1. अलौकिक विश्व, जीवादि छह प्रकार के अनन्तानन्त द्रव्यों का

1. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 118 से 121

है। सभी देश इसकी इकाइयाँ हैं, जो अपने में पूर्ण स्वतन्त्र अखण्ड और परिपूर्ण हैं।

2. एक देश में अनेक प्रदेश (प्रान्त) होने पर भी वह खण्डित नहीं होता।
3. प्रत्येक देश की अपनी-अपनी अनेक शक्तियाँ तथा संचालन व्यवस्थाएँ होने पर भी देश अखण्डित रहता है।
4. यदि कोई देश किसी अन्य देश की सीमाओं का उल्लंघन करे या उसकी व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप करे, तब उस देश की प्रभु-सम्पन्नता प्रभावित होने लगती है।
5. देश की अखण्डता और एकता कायम रखते हुए भी प्रशासन और व्यवस्था की दृष्टि से उसे प्रान्त, जिलों, नगरों, ग्रामों आदि में बाँटा जाता है।

समूह है। प्रत्येक द्रव्य इसकी पूर्ण स्वतन्त्र, अखण्ड और परिपूर्ण इकाई है।

2. बहुप्रदेशी द्रव्यों के अनेक प्रदेश होने पर भी वे खण्डित नहीं होते।
3. प्रत्येक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ और अनन्त अवस्थाएँ होने पर भी उसकी अखण्डता खण्डित नहीं होती, उसकी प्रभु-सम्पन्नता प्रभावित नहीं होती।
4. यदि कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य की सीमा में प्रवेश करे या उसकी व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप करे तो उस द्रव्य की प्रभु-सम्पन्नता प्रभावित होगी, परन्तु अलौकिक विश्व-व्यवस्था में ऐसा सम्भव नहीं है।
5. प्रत्येक द्रव्य की अखण्डता कायम रखते हुए भी समझाने के प्रयोजन से उसके गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायवान्, प्रदेश-प्रदेशवान् तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि के भेद किये जाते हैं।

6. उक्त भेद, दो देशों में विद्यमान अत्यन्त भिन्नता जैसे न होने पर भी सर्वथा काल्पनिक नहीं होते।

7. दो देशों की विभाजन रेखा, उनमें परस्पर अत्यन्त अभावरूप है। प्रत्येक के सुख-दुःख, लाभ-हानि, समृद्धि, सुरक्षा, हित-अहित, समस्याएँ आदि सभी अलग-अलग हैं, परन्तु एक देश के विभिन्न प्रान्तों, जिलों आदि के लाभ-हानि सम्मिलित होते हैं; इसलिए ये भेद, वास्तविक नहीं हैं, काल्पनिक हैं; परन्तु हैं अवश्य, इनका सर्वथा निषेध करना भी यथार्थ नहीं है।

8. यद्यपि प्रत्येक देश स्वतन्त्र और निरपेक्ष है, उसे किसी अन्य देश का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं है, तथापि उसके अन्य राष्ट्रों से कोई सम्बन्ध न हों - ऐसा भी नहीं है। परस्पर-सहयोग, सन्धि, व्यापार, आवागमन आदि के बिना कोई राष्ट्र नहीं रह सकता।

6. एक द्रव्य के अन्तर्गत किये गये अनेकप्रकार के भेद दो द्रव्यों की अत्यन्त भिन्नता जैसे न होने पर भी सर्वथा काल्पनिक नहीं होते।

7. दो द्रव्यों में अत्यन्त अभाव होता है। प्रत्येक के गुण-धर्म-पर्याय आदि परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र होते हैं (भले ही समान-जातीय अनन्त द्रव्यों के गुण-धर्म समान हैं।) किन्तु एक द्रव्य में किये गये भेद, सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होते; अतः वे वास्तविक नहीं हैं; परन्तु हैं अवश्य, उनके परस्पर अभाव को अतद्भाव कहते हैं।

8. कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करता, परन्तु उसका भिन्न द्रव्यों के साथ सम्बन्धों का सर्वथा अभाव भी नहीं है; उनमें व्यवहारनय से परस्पर निमित्त-नैमित्तिक आदि अनेक सम्बन्ध जिनागम तथा लोक में भी स्वीकार किये गये हैं।

9. देश की एकता और अखण्डता की दृष्टि से राष्ट्रीयता पर अधिक बल दिया जाता है और प्रान्त, भाषा आदि के भेद को हेय-दृष्टि से देखा जाता है।

9. आत्मानुभूति की दृष्टि से द्रव्य के अभेदस्वभाव को भूतार्थ कह कर उसका अवलम्बन कराया जाता है तथा भेद को गौण करके असत्यार्थ अभूतार्थ हेय कहा जाता है।

10. अन्य देशों में सम्बन्ध रखते हुए भी अपनी प्रभुसत्ता और अखण्डता कायम रखना - यही देश की सुरक्षा है, सम्प्रभुता है; जो राष्ट्र के शासकों की पहली जिम्मेदारी है।

10. अन्य द्रव्यों से व्यावहारिक सम्बन्ध होने पर भी अपनी निरपेक्षता एवं अखंडता कायम रखना - यही द्रव्य की शुद्धता है, जो उसका शाश्वत स्वरूप/त्रिकाली स्वभाव है, उसे जाननेवाला परमशुद्ध-निश्चयनय ही नयाधिराज है।

11. देश की अखण्डता सुरक्षित रखकर भी प्रशासन की दृष्टि से उसमें गृह, सुरक्षा, विदेश, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि अनेक विभाग होते हैं, जिनके संचालन हेतु सर्वोच्च प्रशासक द्वारा अनेक मन्त्री नियुक्त किये जाते हैं।

11. द्रव्य की अखण्डता और प्रभुसत्ता सुरक्षित होने पर भी विश्व-व्यवस्था समझने-समझाने की दृष्टि से उसमें गुण-पर्यायों के भेद किये जाते हैं तथा अन्य द्रव्यों के साथ सम्बन्ध भी बताया जाता है। इन सम्बन्धों का ज्ञान कराने वाले अनेक नय होते हैं।

12. गृहमन्त्री आदि आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी विभागों

12. सद्भूतव्यवहारनय, द्रव्य की आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी

की तथा विदेशमन्त्री, रक्षामन्त्री आदि अन्य देशों के साथ सम्बन्धों की निगरानी करते हैं।

13. उन विभागों की निगरानी रखनेवाले मन्त्रियों के सहयोग के लिए उपमन्त्री, राज्य-मन्त्री आदि नियुक्त होते हैं।

14. प्रशासनिक दृष्टि से देश को अनेक प्रान्तों में तथा कार्य-संचालन की दृष्टि से अनेक विभागों में बाँटने पर भी देश अखण्डित रहता है। यह विभाजन देश की एकता के विरुद्ध नहीं है।

15. देश के विभिन्न विभाग और प्रान्त, अपना-अपना कार्य करने पर भी एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं है।

16. यदि कोई प्रान्त सर्वथा पृथक् होने कीं बात करे या कोई विभाग दूसरे विभाग से सहयोग न करे तो केन्द्रीय शासन हस्तक्षेप करके उस अलगाववाद का निर्दयता से निषेध कर देता है।

तथा असद्भूतव्यवहारनय अन्य द्रव्यों के साथ सम्बन्धों की निगरानी करते हैं।

13. सद्भूत तथा असद्भूत-व्यवहारनय के भी उपचरित और अनुपचरित भेद होते हैं।

14. सर्वप्रभुता-सम्पन्न आत्मा असंख्य प्रदेशी तथा अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी अखण्डित रहता है। असंख्य प्रदेश और अनन्त शक्तियाँ आत्मा की अखण्डता के विरुद्ध नहीं हैं।

15. आत्मा के अनन्त गुण अपना-अपना कार्य करने पर भी एक गुण का रूप दूसरे गुण में पाया जाता है।

16. अज्ञानी जीव अभेदस्वभाव को भूलकर, स्वयं को भेदरूप ही अनुभव करता है, अतः परमशुद्धनिश्चयनय द्वारा गुण-पर्यायों के भेद का निर्दयता से निषेध करके अभेदानुभूति प्रगट करने पर बल दिया जाता है।

इसप्रकार लौकिक विश्व और अलौकिक विश्व की व्यवस्था के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये षट् द्रव्यात्मक विश्व की व्यवस्था को समझने में व्यवहारनय के इन भेद-प्रभेदों की कितनी उपयोगिता है।

व्यवहारनय के चार भेदों का उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व

व्यवहारनय का स्वरूप स्पष्ट करते समय उसे अभूतार्थ/अविद्यमान कहा गया है, अतः उसके चार भेद भी निश्चयनय की अपेक्षा अभूतार्थ हैं। फिर भी प्रत्येक भेद, अपने विषय की अपेक्षा कथंचित् सत्यार्थ भी है, परन्तु सभी भेदों की सत्यार्थता एक जैसी नहीं होती।

यहाँ स्थूलता से सूक्ष्मता के आधार पर जिस क्रम से उसके भेदों का वर्णन किया गया है, उसी क्रम से उनकी सत्यार्थता भी वस्तुस्वरूप के उत्तरोत्तर अधिक निकट होती है। यहाँ किसी संस्थान के कार्यालय में कार्यरत कर्मचारियों को दिए गए अधिकारों के माध्यम से यह बात स्पष्ट की जा रही है।[1]

किसी संस्थान के कार्यरत सभी कर्मचारियों को मुख्यतया चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है - उच्च अधिकारी, सामान्य अधिकारी, लिपिक और भृत्य (चपरासी)। ये सभी कर्मचारी अपनी-अपनी अधिकार सीमा में काम करते हैं, परन्तु सभी की बातों में एक-सा वजन नहीं होता। प्रत्येक की बात का वजन, उसके अधिकारों के अनुपात में होता है तथा उससे उच्च अधिकारी के सामने वह निरस्त हो जाता है।

कार्यालय के चपरासी से पूछे बिना भीतर नहीं जा सकते, अधिकारी से नहीं मिल सकते; अतः उसका भी अपना वजन है, परन्तु उसे क्लर्क की बात मानना पड़ती है। क्लर्क उसे आदेश दे सकता है, परन्तु वह क्लर्क को आदेश नहीं दे सकता। इसीप्रकार क्लर्क को

1. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 123

विभागीय अधिकारी का तथा विभागीय अधिकारी को सर्वोच्च अधिकारी के आदेश मानना होता है, वे अपने उच्चाधिकारी को आदेश नहीं दे सकते। सर्वोच्च अधिकारी की बात को कोई टाल नहीं सकता, परन्तु वह स्वयं अपने निर्णयों को बदल सकता है। **यही स्थिति व्यवहारनय के चार भेदों की है।**

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय यद्यपि सबसे स्थूल व्यवहार है, तथापि लौकिक व्यवस्था में वही बलवान है। उसका उल्लंघन लौकिक दृष्टि से भी अपराध माना जाता है। यह मकान मेरा है, स्त्री-पुत्रादि मेरे हैं - ऐसा कहनेवाले उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के आधार से ही प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सम्पत्ति, रिश्ते-नाते, कर्तव्य और अधिकार आदि सुनिश्चित होते हैं। यदि इसका वजन स्वीकार न किया जाए तो सारी लौकिक व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाएगी। न केवल लौकिक व्यवस्था, अपितु पंचेन्द्रिय विषयों के ग्रहण-त्याग का कथन करनेवाला चरणानुयोग और 63 शलाका पुरुषों के अनेक भवों का वर्णन करनेवाले प्रथमानुयोग का आधार भी समाप्त हो जाएगा।

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के कथनों में लौकिक, नैतिक, धार्मिक और पौराणिक यथार्थता होने पर भी अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के कथनों का वजन अधिक होने से उसके सामने वह फीका हो जाता है। हम देह के साथ जैसा अपनापन अनुभव करते हैं, वैसा मकान आदि में नहीं। मकान में आग लगने पर यदि सुरक्षित बाहर निकल आएँ तो अपने को बहुत भाग्यशाली समझते हैं। इसीप्रकार द्रव्य-कर्मों के साथ जैसा पक्का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, वैसा स्त्री-पुत्रादि के साथ नहीं। साता वेदनीय का उदय होने पर सभी अनुकूल नोकर्म अच्छे लगते हैं तथा असाता वेदनीय का उदय होने पर वे ही प्रतिकूल नोकर्म बुरे लगने लगते हैं।

कहा भी है -

जल से गले, रवि से जलता, कमल जगह छूट जाने से।
मित्र अरि हो जायें जगत् में, अशुभकर्म के आने से।।

इसप्रकार अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के कथन, उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के कथनों से अधिक वजनदार होते हैं।

देह और कर्मों के साथ आत्मा का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने पर भी वे आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायों से अत्यन्त भिन्न ही हैं; इसलिए वास्तव में आत्मा, उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है, परन्तु रागादि विकारी भाव तो आत्मा की पर्याय में ही होते हैं, अतः यह जीव रागादि भावों से ही दुःखी होता है। धनादि के प्रति तीव्र राग से पीड़ित होने पर यह जीव, शारीरिक कष्टों को सहकर भी धनप्राप्ति होने पर, आनन्दित होता है और देह के प्रति राग नष्ट हो गया होने से, देह अग्नि में जलती होने पर भी मुनिराज अतीन्द्रिय आनन्द भोगते हुए अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। अतः देह की अपेक्षा राग, आत्मा के अत्यन्त निकट है। निकट क्या? आत्मा के ही प्रदेशों और पर्यायों में है, इसीलिए तो रागी, दुःखी और वीतरागी, सुखी होते हैं।

इसीप्रकार पदार्थों का ज्ञान, इन्द्रियों से नहीं, मतिज्ञानादि से होता है। आत्मा, मतिज्ञानादिरूप परिणमित होता है। उन मतिज्ञानादिक में चेतना अर्थात् जीव ही परिणमता है; अतः रागादि और मतिज्ञानादि क्षयोपशमज्ञान को आत्मा का कहनेवाला उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय, अपने पूर्ववर्ती अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा अधिक वजनदार है।

रागादि विकार तथा क्षयोपशमज्ञान, आत्मा की अवस्थाएँ होने पर भी आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, अपितु स्वभाव से विरुद्ध हैं, दुःखरूप हैं और विनाशीक हैं; अतः आत्मा के पूर्ण स्वभाव की द्योतक पूर्ण शुद्धपर्यायों को बतानेवाला तथा गुण-भेद से आत्मा तक पहुँचानेवाला

अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय, अपने पूर्ववर्ती उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से अधिक वजनदार है। औदयिक और क्षायोपशमिकभाव, सादि-सान्त हैं और क्षायिकभाव, सादि-अनन्त हैं तथा गुणभेद तो आत्मा के अनन्त धर्म में से एक धर्म अर्थात् आत्मा के स्वभाव ही हैं, इसलिए अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय हमारे लक्ष्यबिन्दु भगवान आत्मा के अधिक निकट है।

इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय के चार भेद उत्तरोत्तर अधिक वजनदार हैं।

प्रश्न – व्यवहारनय के चार भेदों में परमशुद्धनिश्चयनय के प्रतिपादक व्यवहारनय का कथन क्यों नहीं किया गया है?

उत्तर – गुणभेद का ग्रहण करनेवाला अनुपचरितसद्भूत-व्यवहारनय ही उसका प्रतिपादक है, इससे आगे का परमशुद्धनिश्चयनय ही उसका निषेधक है, परन्तु वह कभी व्यवहारनय नहीं बनता, बाकी के निश्चयनय तो व्यवहारनय भी बन जाते हैं।

यहाँ व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों का प्रकरण है, इसलिए अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के निषेधक परमशुद्धनिश्चयनय की चर्चा नहीं की जा रही है। निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के प्रकरण में उसका कथन किया जा चुका है।

व्यवहारनय के ये चारों भेद आत्मा के संयोगों, संयोगीभावों तथा गुण-पर्याय के भेदों के माध्यम से आत्मा को समझाने के प्रयोजन से किये गये हैं; अतः उनका वजन भी अपने-अपने प्रयोजन की मर्यादा में समझना चाहिए। यदि उन पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया तो उन्हीं को परमार्थ मानने का प्रसंग आने से वे नयाभास हो जाएँगे। ऐसी स्थिति न आए, इसीलिए निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का निषेध करना आवश्यक है।

यहाँ चारों भेदों के वजन अर्थात् वस्तु-स्वरूप से उनकी निकटता की तुलनात्मक समीक्षा की गई है। **किसी भी भेद को अपने पूर्ववर्ती भेद का निषेधक नहीं कहा गया है, क्योंकि निषेधक लक्षण निश्चयनय का है।** इसीप्रकार प्रत्येक भेद अपने उत्तरवर्ती निश्चय का प्रतिपादक तो कहा जाएगा, परन्तु अपने उत्तरवर्ती व्यवहार का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यवहार-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध नहीं है, बल्कि निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है। यदि व्यवहार को ही उसके पूर्ववर्ती भेद का निषेधक कहें तो वह व्यवहारनय का भेद न रहकर निश्चयनयत्व को प्राप्त हो जाएगा।

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और निषेध्य-निषेधक की चर्चा पहले की जा चुकी है, फिर भी निश्चयनय का कौन-सा भेद, व्यवहारनय के किस भेद का निषेध करता है - यह बात निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है -

निषेधक	निषेध्य
अशुद्धनिश्चयनय	उपचरित और अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय
एकदेशशुद्धनिश्चयनय	उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय
परमशुद्धनिश्चयनय	अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि समयसार, कलश 168 में परद्रव्य, आत्मा को सुखी-दुःखी करते हैं - इसका निषेध करने के लिए आत्मा के सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि निश्चय से अपने कर्मोदय के अनुसार होते हैं - ऐसा कहा है, परन्तु निश्चयनय के भेदों में ऐसा कोई भेद नहीं, जो आत्मा को कर्मोदय से सुखी-दुःखी कहे। इसीप्रकार आत्मा में रागादि हैं - ऐसा उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से कहा गया है और आत्मा, सम्यग्दर्शनादि एकदेश निर्मल पर्यायों का कर्ता है - यह कथन एकदेशशुद्धनिश्चयनय का माना गया है, फिर भी

इन निर्मल पर्यायों से कर्ता-कर्म का भेद बतानेवाला व्यवहारनय का कोई पृथक् भेद नहीं कहा गया है। उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से मतिज्ञानादि को जीव का कहा गया है, परन्तु वहाँ क्षायोपशमिक मतिज्ञान की बात है, मात्र सम्यग्ज्ञान की नहीं।

इस तथ्य से यह समझना चाहिए कि अनेक प्रसंगों में मात्र निषेधक होने से निश्चयनय तथा अभेद में भेद करने से व्यवहारनय घटित किये गए हैं। प्रत्येक कथन किसी न किसी भेद-प्रभेद में घटित किया ही जाए - ऐसा आवश्यक नहीं है।

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के महत्त्व की तुलनात्मक समीक्षा

प्रश्न - जिसप्रकार यहाँ व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों में महत्त्व की तुलना की गई है, उसीप्रकार निश्चयनय के चार भेदों में महत्त्व की तुलना भी हो सकती है क्या?

उत्तर - *निश्चयनय को तो भूतार्थ या सत्यार्थ ही कहा है, इसे यदि हम परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा देखें तो उसकी बात में कम या अधिक महत्त्व का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, परन्तु उसे सर्वथा असत्यार्थ मानकर निश्चयाभास न हो जाए, इसलिए उसके भेद-प्रभेदों का महत्त्व अर्थात् कथंचित् सत्यार्थपना भी बताया गया है।*

इसी प्रकार यदि निश्चयनय के भेद-प्रभेदों की तुलना की जाएगी तो जिसका महत्त्व कम होगा, वह व्यवहारनय की कोटि में चला जाएगा। अशुद्धनिश्चयनय के विषय को भेद की अपेक्षा उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय कहा है। सर्वाधिक वजन तो नयाधिपति, नयाधिराज परमशुद्धनिश्चयनय का है, जिसके सामने निश्चयनय के शेष तीनों भेद निषिद्ध होकर व्यवहारनयपने को प्राप्त हो जाते हैं, असत्यार्थ या अभूतार्थ हो जाते हैं।

व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों की उपयोगिता

व्यवहारनय के चारों भेदों की विषय-वस्तु तथा उनकी कथंचित् सत्यार्थता (वजन) पर विचार करने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब निश्चय की दृष्टि से सभी व्यवहार अभूतार्थ हैं, आत्मानुभूति में बाधक हैं तो उसके ये भेद-प्रभेद करने की क्या आवश्यकता है? यद्यपि इनकी विषय-वस्तु का विवेचन करते समय, इनकी उपयोगिता का संकेत भी किया जा चुका है, तथापि प्रत्येक भेद की उपयोगिता पर थोड़ा विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक है।

प्रत्येक व्यवहार, परमार्थ का प्रतिपादक तो होता ही है; अतः परमार्थ का ज्ञान कराना, यही उसकी उपयोगिता है, फिर भी यहाँ प्रत्येक भेद की अलग-अलग उपयोगिता समझते हैं –

1. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की उपयोगिता

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय आत्मा के प्रदेशों से भिन्न स्त्री-पुत्र, मकान आदि को आत्मा का कहता है। अनादि से अज्ञानी जीव तो बाह्य संयोगों को अपना तथा अपने को उनका कर्ता-भोक्ता मानते ही हैं, परन्तु अपने को उनसे भिन्न जाननेवाले ज्ञानी भी ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को ही नय कहा है, अतः वे उन्हें अपना कहकर उनके प्रति अपने राग का ज्ञान कराते हैं। राग, स्वयं को तो अनुभव में आता है, परन्तु दूसरों को तो स्त्री-पुत्रादि के प्रति हमारी रागात्मक चेष्टा अर्थात् वाणी तथा शरीरादि की क्रिया दिखाई देती है और उनसे ही उन्हें उन पदार्थों से हमारे रागात्मक सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से हमारा शरीरादि पर-पदार्थों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, तथापि व्यावहारिक जगत् तो सम्बन्धों की आधार-शिला पर ही खड़ा है। स्त्री-पुत्रादि चेतन, मकान आदि

अचेतन तथा नगर-ग्राम आदि मिश्र पदार्थों के साथ हमारे सम्बन्धों के आधार पर ही परिवार, कुल, गोत्र, जाति, रिश्ते-नातों आदि का व्यवहार चलता है। अपने ग्राम, नगर, प्रान्त, देश आदि के आधार पर परस्पर परिचय किया जाता है। इसी परिचय के निमित्त से एकत्वबुद्धि उत्पन्न होने से राग-द्वेष की सन्तति और संसार बढ़ता है। दो जातियों, कबीलों, राज्यों अथवा देशों में मैत्री या युद्ध का आधार भी यही व्यावहारिक सम्बन्ध बनता है।

यदि इस व्यवहार को यथार्थरूप में स्वीकार न किया जाए तो हमारी संस्कृति और सभ्यता ही नष्ट हो जाएगी। स्व-स्त्री तथा पर-स्त्री का व्यवहार भी लुप्त हो जाने से सदाचार और व्यभिचार का भेद ही नहीं रहेगा, जिससे मनुष्यों का जीवन भी पशुओं जैसा हो जाएगा। इसीप्रकार चोरी, परिग्रह आदि पापों का तथा इनके त्यागरूप अणुव्रत-महाव्रत आदि का विधान भी लुप्त हो जाएगा।

इसप्रकार उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय, न केवल व्यवस्थित लोक-व्यवहार का नियामक है, अपितु प्रथमानुयोग और चरणानुयोग की व्याख्यान पद्धति का आधार भी है। पारमार्थिक वस्तु-स्वरूप न होने से यद्यपि इसे **असद्भूत** कहा गया है, तथापि यह सर्वथा असत्य नहीं है। इसके अनुसार वचन और क्रिया का व्यवहार करने से असत्य नाम का पाप नहीं लगता, अपितु इसकी मर्यादाओं का उल्लंघन, पापों का जनक है। हाँ! यदि मोक्षमार्ग में इसे परमार्थ मानकर अपने स्वरूप का पर के साथ सम्बन्धरूप अनुभव किया जाए तो मिथ्यात्व होता है; इस सम्बन्ध का लक्ष्य किया जाए तो राग-द्वेष होते हैं, परन्तु इसे यथार्थ जानना, सम्यक्-श्रुतज्ञान का अंश होने से यह मोक्षमार्ग में जाना हुआ प्रयोजनवान है।

शुभराग में मोक्षमार्ग का सर्वथा अभाव है, क्योंकि वह परमार्थ से

बन्ध का ही कारण है; अतः इस अपेक्षा उसे मोक्षमार्ग कहना उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का कथन भी कहा जा सकता है।

2. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की उपयोगिता

शरीर तथा द्रव्यकर्मों से आत्मा का सम्बन्ध बताना, अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोजन है। इनके साथ आत्मा का वास्तविक सम्बन्ध न होने पर भी इनमें तथा जीव की अवस्थाओं में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का तथा शरीर के प्रति जीव के राग का प्रतिपादन करना ही इस नय की उपयोगिता है।

यद्यपि द्रव्यकर्मों के प्रति राग-द्वेष करने का साक्षात् व्यवहार, हमारे जीवन में नहीं देखा जाता, परन्तु उन कर्मों के साथ अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से जीव के कर्ता-कर्म सम्बन्ध के आधार पर ही जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त का महल खड़ा किया गया है। **समयसार, गाथा 6 की आत्मख्याति टीका में एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा का पालन करते हुए द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों से भिन्न ज्ञायकभाव को संसार अवस्था में कर्म-पुद्गलों से नीर-क्षीर की भाँति मिला हुआ दिखाया है।** - यह इसी व्यवहारनय का कथन है, लेकिन यदि इस नय का सर्वथा निषेध किया जाए तो जीव के राग-द्वेष, संसार-भ्रमण, कर्म-बन्ध तथा मोक्षमार्ग और मोक्ष के भी लोप होने का प्रसंग आएगा।

जीव और शरीर भी दूध और पानी के समान मिले हुए कहे गए हैं। समयसार, गाथा 27 में व्यवहारनय से जीव और देह को एक कहा गया है। हमारा सम्पूर्ण लौकिक जीवन, देह और आत्मा के सम्बन्ध के आधार पर ही संचालित होता है। शारीरिक सुख-दुःख ही हमारे जीवन-व्यवहार के मुख्य केन्द्र-बिन्दु हैं; अतः अनुपचरित-

असद्भूतव्यवहारनय, आत्मा की वर्तमान संयोगी अवस्था का ज्ञान करने हेतु अत्यन्त उपकारी है।

विश्व के प्रायः सभी धर्म, जीव-दया को सबसे बड़ा धर्म तथा जीव-हिंसा को महापाप कहते हैं। जैनाचार-पद्धति का मूलाधार भी अहिंसा है। उसके व्यावहारिक स्वरूप - अभक्ष्य का त्याग, अष्ट मूलगुण-पालन, अहिंसाणुव्रत तथा अहिंसा महाव्रत आदि हमारे चरणानुयोग में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि जीव और शरीर के एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का सर्वथा निषेध किया जाए तो जैसे, भस्म को मसलने से जीव-हिंसा नहीं होती, वैसे जीवों को मसलने से भी हिंसा के अभाव का प्रसंग आता है।

इसप्रकार अहिंसात्मक आचार का पालन, अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय को स्वीकार करने से ही सम्भव है।

आत्मा की खोज करने का महान् कार्य भी अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय को जानने-मानने से सरल हो जाता है। वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 10 में आत्मा को व्यवहारनय से देहप्रमाण कहा गया है। योगसार आदि ग्रन्थों में तन-मन्दिर में विराजमान चेतन-देव के दर्शन की प्रेरणा दी गई है। इसी आधार पर भक्ति की निम्न पंक्तियाँ गाई जाती हैं -

जिन-मन्दिर में श्री जिनराज, तन-मन्दिर में चेतनराज।
तन-चेतन को भिन्न पिछान, जीवन सफल हुआ है आज।।

अन्य दर्शनों में आत्मा का अस्तित्व, सर्व लोक-व्यापी, वट के बीज प्रमाण तथा अंगुष्ठ प्रमाण आदि अनेकरूप माना गया है। जबकि जैनदर्शन का यह नय आत्मा को संसार-अवस्था में देह-प्रमाण कहकर, हमारी दृष्टि को बाहर से हटाकर, देह तक ले आता है।

3. उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय की उपयोगिता

उपचरित/अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय, अपूर्ण तथा विकारी पर्यायों

की मुख्यता से आत्मा का परिचय देता है। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःखी है और सुख चाहता है - यह तथ्य ही जैनधर्म का प्रमुख आधार है। आत्मा की रागादि विकारी पर्यायें, स्वयं दुःखरूप हैं तथा दुःख की कारण हैं, उन्हें जाने बिना उनका अभाव करना सम्भव नहीं है।

जिसप्रकार शरीर में होनेवाले रोग का स्वरूप और कारण जानकर ही उसे दूर किया जा सकता है, उसीप्रकार आत्मा की अवस्था में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूपी रोग जाने बिना, उनका अभाव नहीं किया जा सकता। इसप्रकार **आस्रव-बन्धतत्त्व की श्रद्धा,** उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय को स्वीकार करने पर ही सम्भव है। यदि वर्तमान पर्याय में विद्यमान रागादि को स्वीकार न किया जाए तो धर्म करने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश ही व्यर्थ हो जाएगा।

4. अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय की उपयोगिता

उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि भावों का ज्ञान करने का प्रयोजन, उनका अभाव करके मुक्ति प्राप्त करना है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए आत्मा का अवलम्बन अर्थात् आत्मा की श्रद्धा; उसका ज्ञान और उसी का आचरण करना अनिवार्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मुक्ति का मार्ग है। इसप्रकार हमें मोक्षमार्ग क्यों प्रगट करना चाहिए? - इस प्रश्न का उत्तर तो उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से प्राप्त हो जाता है, परन्तु यह कार्य कैसे किया जाए - इसका उत्तर पाने के लिए अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से आत्मा का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यह नय आत्मा के निजवैभव का ज्ञान कराता है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का केन्द्र बिन्दु **भगवान आत्मा** है। उनके शब्दों में कहा जाए तो **भगवान आत्मा....अनन्त...अनन्त**

शक्तियों का संग्रहालय, अनन्त गुणों का गोदाम, चैतन्य के नूर का पूर....परमात्मा है.....। - ऐसे वाक्य ही उनके प्रवचनों के प्रमुख आकर्षक बिन्दु हैं।

एक आत्मा...आत्मा कहने मात्र से उसका स्वरूप समझ में नहीं आता; अतः अभेद आत्मा का स्वरूप समझने के लिए आत्मा के गुणों, शक्तियों, स्वभावों का भेद किया जाता है, क्योंकि स्वरूप का अवलम्बन करने के लिए आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सुख, वीर्य आदि शक्तियों, गुणों तथा उनके कार्यों को जानना आवश्यक है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, इसका भरोसा कैसे आए? जब तक अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि पूर्ण पर्यायरूप परिणमित आत्मा का भरोसा न हो, तब तक उसकी शक्तियों का भरोसा नहीं आ सकता; अतः अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय, आत्मा की शक्तियों के साथ-साथ अरहन्तों और सिद्धों में प्रगट पूर्ण शुद्धपर्यायों का ज्ञान भी कराता है - पूर्ण शुद्धपर्याय में प्रगट होनेवाले आत्मवैभव का चित्रण आदरणीय युगलजी ने सिद्ध-पूजन की निम्न पंक्तियों में बहुत सुन्दर ढंग से किया है -

अहो! निखरा कांचन चैतन्य, खिले सब आठों कमल पुनीत।
अतीन्द्रिय सौख्य चिरन्तन भोग, करो तुम धवल महल के बीच।।

इसप्रकार अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार आत्मा की पूर्ण शुद्ध पर्यायों का ज्ञान कराके **मोक्षतत्त्व की श्रद्धा** करने में निमित्त बनता है तथा आत्मा में विद्यमान गुणों/शक्तियों का ज्ञान कराके **अभेद आत्मा की महिमा** उत्पन्न करके आत्मानुभूति में निमित्त बनता है - यही उसकी उपयोगिता है।

प्रश्न - एक वस्तु में गुण-पर्याय आदि का भेद करना,

सद्भूतव्यवहारनय का कथन कहा गया है। क्या इस नय के प्रयोगों में विभिन्नता भी होती है?

उत्तर – गुण-गुणी अथवा पर्याय-पर्यायी के भेद के आधार से सद्भूतव्यवहारनय के भी बहुत से प्रयोग, आगम में उपलब्ध होते हैं। पर्यायों का जितने प्रकार से वर्गीकरण किया जाएगा, उतने ही प्रयोग सद्भूतव्यवहारनय के हो जाएँगे।

नय-दर्पण, पृष्ठ 668-669 पर क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी ने सामान्य द्रव्य और विशेष द्रव्यों में गुण-पर्यायों का भेद करते हुए शुद्ध सद्भूत-व्यवहारनय के विभिन्न प्रयोगों का वर्णन किया है, जो इसप्रकार है –

1. शुद्ध-(अनुपचरित)-सद्भूतव्यवहारनय के विभिन्न प्रयोग

1. सामान्य द्रव्य (जीवमात्र में) या शुद्ध द्रव्य (सिद्ध भगवान) में गुण-गुणी का भेद करके जीव को ज्ञानगुण वाला कहना। गुण, त्रिकाली सामान्य भावरूप होता है, अतः वह शुद्ध-अशुद्धपर्यायों से निरपेक्ष होता है।

2. शुद्धपर्यायें दो प्रकार की हैं – सामान्य और विशेष। प्रतिक्षणवर्ती षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप सूक्ष्म अर्थपर्याय सामान्य शुद्धपर्याय है और केवलज्ञानादि क्षायिकभाव विशेष शुद्धपर्यायें हैं; अतः जीव षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वाभाविक सामान्य पर्यायवाला है – ऐसा कहना, द्रव्य सामान्य में पर्याय-पर्यायी का भेद कथनरूप शुद्ध-(अनुपचरित)-सद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

3. जीव, केवलज्ञान-दर्शनवान् या वीतरागतावान् है – ऐसा कहना, द्रव्य सामान्य में शुद्ध गुण-गुणी और शुद्ध पर्याय-पर्यायी का भेद-कथन करनेवाला शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय है।

4. सिद्ध भगवान, केवलज्ञान-दर्शन वाले या वीतरागता वाले हैं

– ऐसा कहना शुद्ध द्रव्य या शुद्ध पर्यायों में शुद्धगुण-गुणी या शुद्ध पर्याय-पर्यायी का भेद करनेवाला, शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

गुण सामान्य तो पर-संयोग से रहित हैं ही, क्षायिकभाव भी संयोग या विकार के अभावस्वरूप है तथा स्वभाव के अनुरूप पर्याय के भेद कथन को भी अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार कहना, उपयुक्त है।

उपर्युक्त प्रयोग हमारे व्यावहारिक जीवन में बहुत कम होते हैं, अतः हमें कठिन मालूम पड़ते हैं, परन्तु आत्मा का स्वरूप समझकर, उसकी महिमा प्रगट करने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं; अतः इन्हें सावधानी से समझना आवश्यक है।

2. अशुद्ध-(उपचरित)-सद्भूतव्यवहारनय के विभिन्न प्रयोग

नय-दर्पण, 672-673 पर अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय के सम्बन्ध में निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया गया है –

1. द्रव्य सामान्य अथवा अशुद्ध द्रव्य-पर्यायरूप अशुद्ध द्रव्य में अशुद्ध गुणों व अशुद्ध पर्यायों के आधार पर भेदोपचार द्वारा गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी, लक्षण-लक्ष्य आदिरूप द्वैत उत्पन्न करना, अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय है।

2. अशुद्ध गुण व पर्यायें औदयिक (व क्षायोपशमिक) भावरूप होते हैं। जैसे, ज्ञान गुण की मतिज्ञानादि पर्यायें, चारित्रगुण की राग-द्वेषादि पर्यायें तथा वेदन गुण की विषयजन्य सुख-दुःखादि पर्यायें।

3. जीव सामान्य, मतिज्ञान या राग-द्वेषवाला है – ऐसा कहना, द्रव्य सामान्य की अपेक्षा अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय का प्रयोग है।

4. संसारी जीव, मतिज्ञान या राग-द्वेषवाला है – यह द्रव्यपर्याय की अपेक्षा अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय का प्रयोग है। (यहाँ संसार अवस्था को द्रव्यपर्याय कहा गया है।)

5. पर-संयोगी अशुद्ध भावों का जीव के साथ स्थायी सम्बन्ध नहीं है तथा ये स्वभाव से विरुद्ध भाव हैं, अतः उन्हें उपचरितभाव कहना उचित है।

असद्भूतव्यवहारनय के विभिन्न प्रयोग

यहाँ विशेष ज्ञातव्य है कि पंचाध्यायीकार ने असद्भूतव्यवहारनय की विषय-वस्तु के अन्तर्गत अलग प्रयोग किये हैं, जिनकी विस्तृत मीमांसा, आगामी अध्याय में की जाएगी।

प्रश्न – क्या असद्भूतव्यवहारनय के प्रयोगों में भी भिन्नता पाई जाती है?

उत्तर – असद्भूतव्यवहारनय, विभिन्न द्रव्यों के साथ विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता है, इसलिए उसका क्षेत्र बहुत बड़ा है। द्रव्य अनन्तानन्त हैं और उनमें सम्बन्ध भी अनेक प्रकार के हैं, अतः इस नय का विषय असीमित है।

जब दो या दो से अधिक द्रव्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की बात आती है, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि द्रव्य सजातीय हैं या विजातीय, निकटवर्ती हैं या दूरवर्ती? तथा उनमें स्व-स्वामी, कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य, ज्ञाता-ज्ञेय आदि सम्बन्धों में से कौन-सा सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा है।

अनन्तान्त द्रव्यों के सजातीय, विजातीय और उभय द्रव्यों के रूप में तीन भेद किये जाते हैं तथा इनमें विभिन्न सम्बन्धों के आधार पर नौ प्रकार का उपचार करना, असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

प्रश्न – एक ही वस्तु में गुण-पर्याय का भेद करना, वास्तविक है या उपचरित है?

उत्तर – आत्मा के अनन्त धर्मों में अभेद और भेद नामक धर्म-

युगल भी हैं; एक द्रव्य में अनन्त गुण तभी हो सकते हैं, जब वे परस्पर भिन्न हों; द्रव्य-गुण-पर्याय का लक्षण भी परस्पर भिन्न-भिन्न है; अतः एक वस्तु के भेद भी वास्तविक हैं, जिसे प्रवचनसार, गाथा 106 में अतद्भावस्वरूप कहा गया है। फिर भी रागी जीवों को भेद के लक्ष्य से राग उत्पन्न होता है, अतः अभेद वस्तु की अपेक्षा भेद को उपचरित भी कहा जाता है। रागादि अशुद्धपर्यायों के भेद से आत्मा को देखना, उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है और ज्ञान-दर्शनादि गुणभेद से आत्मा को देखना, अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार रागादिकृत भेद तथा गुणभेद में अन्तर बताना चाहते हैं।

वास्तव में उपचार तो असद्भूतव्यवहार में ही सम्भव है, क्योंकि दो द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध वास्तविक नहीं, कथन मात्र है।

प्रश्न – यदि असद्भूतव्यवहारनय उपचरित है तो उसका एक भेद अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कैसे कहा गया है?

उत्तर – इसका स्पष्टीकरण करते हुए आलापपद्धति, पृष्ठ 227 पर कहा है – असद्भूतव्यवहार ही उपचार है और जो उपचार का भी उपचार करता है, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय भी वास्तव में उपचरित ही है। जिसमें मात्र उपचार हो, वह अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है और जिसमें उपचार में भी उपचार हो, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

लोक में भी ऐसे प्रयोग किये जाते हैं। कुछ लोगों से हमारा सीधा रिश्ता होता है तथा उनके रिश्तेदारों से भी हमारा रिश्ता कहे जाने पर वैसा रिश्ता नहीं निभाया जाता, जैसा सीधे रिश्तेदारों से निभाया जाता है। साले, बहनोई, मामा आदि से हमारी सीधी रिश्तेदारी है तथा मामा

के साले, साले के साले या बहनोई के बहनोई आदि रिश्तेदारों के रिश्तेदार हैं।

इसीप्रकार आठ कर्म और शरीर से हमारा सीधा सम्बन्ध होने से आत्मा और इनके संयोग को जाननेवाला ज्ञान, अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है तथा माता-पिता, भाई-बहन, धन-सम्पत्ति आदि से हमारा सम्बन्ध देह तथा कर्मों के माध्यम से है; अतः उनसे हमारा सम्बन्ध, उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

इसप्रकार जब मात्र उपचरित कथन हो तो **अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** और जब उपचार में भी उपचार किया जाए तो **उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** का प्रयोग समझना चाहिए। उपचार में भी उपचार से भिन्नता बताने के लिए अर्थात् अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध बताने के लिए अनुपचरित शब्द का प्रयोग किया जाता है।

नय और उपनय – श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 20 पर व्यवहार का जनक, उपनय को बताते हुए कहा है –

"**व्यवहारनय, उपनय से उपजनित होता है। प्रमाण-नय-निक्षेपात्मक, भेद और उपचार के द्वारा जो वस्तु का प्रतिपादन करता है, वह व्यवहारनय है।**

प्रश्न – व्यवहार का जनक उपनय कैसे है?

उत्तर – सद्भूतव्यवहारनय, भेद का उत्पादक होने से, असद्भूत-व्यवहारनय, उपचार का उत्पादक होने से और उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय, उपचार में भी उपचार का उत्पादक होने से उपनयजनित हैं।"

प्रश्न – उपनय किसे कहते है?

उत्तर – श्रुतभवनदीपक नयचक्र में उपनय की परिभाषा पृष्ठ 59 पर इसप्रकार बताई गई है –

जो आत्मा अथवा प्रमाणादि के अत्यन्त निकट पहुँचता है, वह

उपनय है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय ही उपनय है, क्योंकि व्यवहारनय के भेद-प्रभेद और उपनय के भेद-प्रभेद एक ही प्रकार के हैं।

आचार्य देवसेन एवं माइल्ल धवल कृत दोनों नयचक्रों में नयों के दो भेद किये हैं - नय और उपनय। इनके भेद-प्रभेद, निम्न तालिका द्वारा अच्छी तरह समझे जा सकते हैं -
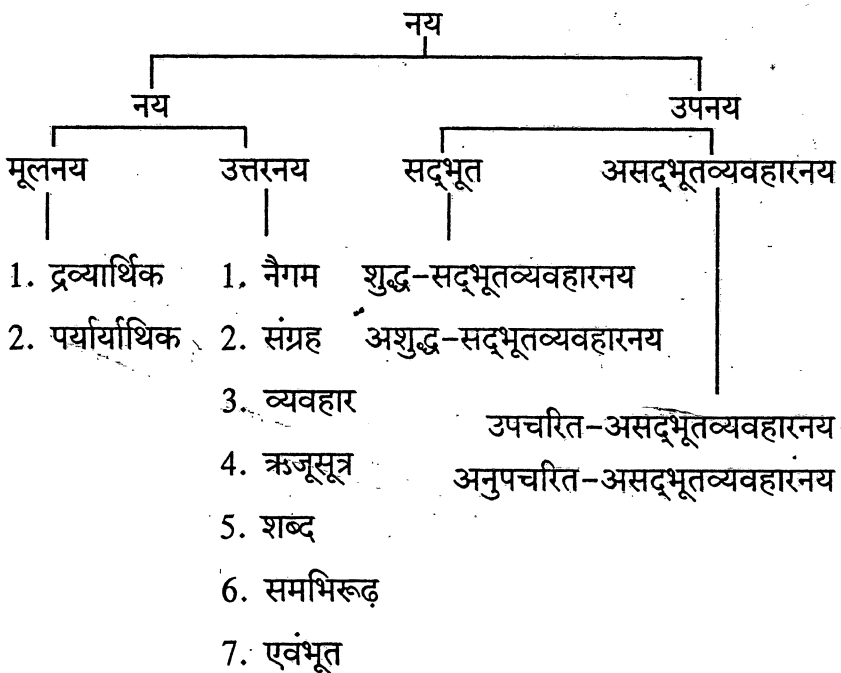
उक्त तालिका में दर्शाये गये उपनय के भेदों को ही व्यवहारनय के चार भेदों के रूप में बताया जाता है।

असद्भूतव्यवहारनय के विषयभूत अनेक प्रकार के सम्बन्ध

आलापपद्धति, पृष्ठ 227 पर असद्भूतव्यवहारनय के विषयभूत सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है -

यही असद्भूतव्यवहारनय भिन्न द्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों

के बीच पाये जानेवाले अविनाभाव सम्बन्ध, संश्लेष सम्बन्ध, परिणाम-परिणामी सम्बन्ध, श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बन्ध, ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध, चारित्र-चर्या सम्बन्ध आदि को अपना विषय बनाता है।

यहाँ यह तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के विषयभूत श्रद्धेय, ज्ञेय और चर्या (चारित्र का विषय) से सम्बन्ध को भी असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा गया है। समयसार, गाथा 356 से 365 की टीका में सेटिका (कलई) के उदाहरण से ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा और त्याग का उनके बाह्य विषयों से स्व-स्वामी सम्बन्ध का निषेध किया गया है।

प्रश्न – परस्पर भिन्न द्रव्यों में संश्लेष सम्बन्ध आदि को असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहना तो उचित लगता है, परन्तु श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तो आत्मा का स्वभाव है; अतः श्रद्धा-श्रद्धेय, ज्ञाता-ज्ञेय आदि सम्बन्ध को असद्भूतव्यवहारनय के विषय में शामिल क्यों किया जाता है?

उत्तर – परस्पर भिन्न द्रव्यों में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध देखना असद्भूत ही है, क्योंकि वास्तव में दो द्रव्यों में कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यद्यपि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तो अपने विषय से भी निरपेक्ष रहकर अपनी योग्यता से अपने स्वभावानुसार परिणमते हैं; अतः प्रतीति, जानना और रमणतारूप परिणमन तो निश्चय से आत्मा का परिणाम है, तथापि नवतत्त्व की श्रद्धा, ज्ञेयों का ज्ञान तथा पर में रमणता या पर का त्याग – ऐसा कहना असद्भूतव्यवहारनय का ही कथन है, क्योंकि इनमें पर-विषयों के साथ आत्मा के श्रद्धा आदि गुणों का सम्बन्ध बताया जा रहा है।

प्रश्न – *यदि ऐसा है तो ज्ञान के द्वारा ज्ञेयों को जानना असद्भूत*

होने से ज्ञान के ज्ञेयों को जानने के अथवा स्व-परप्रकाशक स्वभाव का ही निषेध हो जाएगा?

उत्तर *- यहाँ जानने को असद्भूत नहीं कहा गया, अपितु ज्ञान-ज्ञेय के सम्बन्ध को असद्भूत कहा गया है। ज्ञान में ज्ञान की योग्यतानुसार ज्ञेय का जैसा आकार बनता है अर्थात् जैसा ज्ञेय का स्वरूप जाना जाता है - यही ज्ञेयों का जानना है, जिसमें ज्ञान और ज्ञेय स्वतन्त्र और निरपेक्ष होने से जानना परमार्थ ही है, परन्तु उस जानन-क्रिया को ज्ञेयों का जानना, ज्ञेयाकार ज्ञान आदि कहना असद्भूतव्यवहारनय है, परमार्थ नहीं।*

प्रवचनसार, गाथा 23 की टीका में ज्ञान को उपचार से सर्वगत कहा है। इस सम्बन्ध में प्रवचन-सुधा, भाग 2, पृष्ठ 56 पर पूज्य गुरुदेवश्री के निम्न उद्गार ध्यान देने योग्य हैं -

यह आत्मा पर को जानता है तो ज्ञान की पर्याय ज्ञेय-प्रमाण हो गई है। जितना ज्ञेय है, उस प्रमाण में ज्ञान हुआ। उस ज्ञेय-प्रमाण ज्ञान हुआ तो ज्ञान ज्ञेयाकार हो गया। वह (जो) ज्ञेयाकार हुआ, वह है तो ज्ञानाकार, परन्तु ज्ञेय को जानने से ज्ञेयाकार कहने में आता है।

*अतः ज्ञान-ज्ञेय **सम्बन्ध** को असद्भूत समझना चाहिए, ज्ञान के जाननस्वभाव तथा जाननेरूप परिणमन को नहीं, वह तो वास्तविक है।*

प्रश्न - ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध को अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा गया है, जबकि ज्ञेय तो ज्ञान से अत्यधिक दूर भी होते हैं तो दूरवर्ती या भिन्न क्षेत्रवर्ती पदार्थों से ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध को उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय क्यों न माना जाए?

उत्तर - जब दो द्रव्यों में सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जाए, तब अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय घटित होता है। ज्ञान और ज्ञेय के बीच

आत्मा का सीधा सम्बन्ध है, इसलिए उसे अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का विषय कहना उचित ही है। जबकि स्त्री-पुत्रादि से आत्मा का सीधा सम्बन्ध नहीं है, वे शरीर से सम्बन्धित हैं, अतः इनसे आत्मा का सम्बन्ध बताना, उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

यहाँ यह विचार किया जा सकता है कि मति-श्रुतज्ञान, अपने विषय को इन्द्रिय और मन के निमित्त से जानते हैं, अतः उनका ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा जा सकता है तथा अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, इन्द्रिय, प्रकाश आदि की सहायता बिना पदार्थों को सीधे जानते हैं, अतः उनका ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा जा सकता है।

ज्ञेयाकार ज्ञान भी अपने ज्ञानस्वभाव को प्रकाशित करता है - इसप्रकार एक ही आत्मा में ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय का भेद, अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

प्रश्न – व्यवहारनय के इतने भेद-प्रभेदों को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर – जिनागम में आत्मा का स्वरूप समझाने के लिए व्यवहारनय के उक्त भेद-प्रभेदों का कथन किया गया है। इनका यथार्थ ज्ञान किये बिना इनका मर्म जानना, सम्भव नहीं है। आत्मा की वर्तमान अवस्था में किन-किन पदार्थों से किस-किस प्रकार का सम्बन्ध है - यह ज्ञान करने के लिए इन भेद-प्रभेदों को जानना आवश्यक है तथा ये सम्बन्ध आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप नहीं हैं, अतः इनसे दृष्टि हटाकर, पर से विभक्त और निज से एकत्वस्वरूप आत्मा में अहंपना स्थापित करने के लिए भी इन नयों का सच्चा स्वरूप जानना आवश्यक है।

समयसारादि ग्रन्थराजों में भी सर्वत्र इन कथनों की वास्तविक

स्थिति का ज्ञान कराकर, एकत्व-विभक्त आत्मा में जमने-रमने की प्रेरणा दी गई है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के कलश 242 में तो यहाँ तक कहा गया है कि -

व्यवहारविमूढदृष्टयः, परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः, कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्।।

जिसप्रकार जगत् में जिनकी बुद्धि तुषज्ञान में ही मोहित हैं, वे तुष को ही जानते हैं, तन्दुल को नहीं; उसीप्रकार जिनकी दृष्टि व्यवहार में ही मोहित है, वे जीव परमार्थ को नहीं जानते हैं।

उक्त कथन में व्यवहार में मोहित होने का निषेध किया गया है, जानने का नहीं। व्यवहार को जानना तो है, पर उसमें मोहित नहीं होना है। मोहित होने के लायक, अहं स्थापित करने लायक तो एक परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य ही है।

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के नौ भेद

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 222-224 एवं श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 61 में असद्भूतव्यवहारनय के भेदों का कथन इसप्रकार किया गया है -

जो अन्य के गुणों को अन्य का कहता है, वह असद्भूत-व्यवहारनय है। उसके तीन भेद हैं -

सजाति, विजाति और मिश्र तथा उनमें भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं।

द्रव्य में द्रव्य का, गुण में गुण का, पर्याय में पर्याय का, द्रव्य में गुण और पर्याय का, गुण में द्रव्य और पर्याय का और पर्याय में द्रव्य और गुण का उपचार करना चाहिए। यह उपचार बन्ध से संयुक्त

अवस्था में तथा ज्ञानी के ज्ञेय आदि के साथ संश्लेष सम्बन्ध होने पर किया जाता है।

यहाँ द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 225-233 एवं श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 68-70 के आधार से असद्भूतव्यवहारनय के भेदों के नाम और प्रयोग, तालिका के माध्यम से स्पष्ट किये जा रहे हैं -

नय का नाम	प्रयोग
1. विजातीय द्रव्य में विजातीय द्रव्य का आरोप करनेवाला नय	1. जैसे, एकेन्द्रिय आदि के शरीर को जीव कहना।
2. विजातीय गुण में विजातीय गुण का आरोप करनेवाला नय	2. जैसे, मतिज्ञान मूर्तिक है, क्योंकि वह मूर्तिक द्रव्य (कर्म/इन्द्रिय) से उत्पन्न होता है तथा वह मूर्त के द्वारा स्खलित होता भी है।
3. स्वजाति पर्याय में स्वजाति पर्याय का उपचार करनेवाला नय	3. जैसे, प्रतिबिम्ब को देखकर, यह वही है - ऐसा कहना।
4. स्वजाति-विजाति द्रव्य में स्वजाति-विजाति गुण का उपचार करनेवाला नय	4. जैसे, ज्ञान के विषय होने से ज्ञेयों का ज्ञान (जीव/अजीव का ज्ञान) या ज्ञान के ज्ञेय कहना।
5. स्वजाति द्रव्य में स्वजाति विभाव पर्याय का उपचार करनेवाला नय	5. जैसे, एकप्रदेशी परमाणु को बहुप्रदेशी कहना।
6. स्वजाति गुण में स्वजाति द्रव्य का उपचार करनेवाला नय	6. जैसे, रूप को भी द्रव्य कहना; जैसे, सफेद पत्थर।

नय का नाम	प्रयोग
7. स्वजाति गुण से स्वजाति पर्याय का आरोप करनेवाला नय	7. जैसे, परिणमनशीलता देखकर ज्ञानगुण को पर्याय कहना।
8. स्वजाति विभाव पर्याय में द्रव्य का उपचार करनेवाला नय	8. जैसे, स्थूल स्कन्ध को पुद्गल-द्रव्य कहना।
9. स्वजाति पर्याय में स्वजाति गुण का आरोप करनेवाला नय	9. जैसे, शरीर के आकार को देखकर कहना - कैसा उत्तम रूप है?

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के छह भेद

उपचरित-असद्भूत-व्यवहार के भेदों का स्पष्टीकरण द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 242 से 246 एवं श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 68-70 में इस प्रकार किया गया है -

नय का नाम	प्रयोग
1. सत्य-उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय	1. जैसे, देश का स्वामी (राजा) कहता है कि यह देश मेरा है।
2. असत्य-उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय	2. जैसे, देश का नागरिक कहता है कि यह देश मेरा है।
3. सत्यासत्य-उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय	3. जैसे, व्यापार करते हुए व्यापारी कहता है कि यह धन मेरा है।
4. स्वजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय	4. जैसे, मैं पुत्रादि-बन्धु-वर्गरूप हूँ या यह मेरी सम्पत्ति है - ऐसा कहना।
5. विजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय	5. जैसे, आभरण, स्वर्ण, रत्न, वस्त्रादि मेरे हैं - ऐसा कहना।
6. स्वजाति-विजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय	6. जैसे, राज्य, महल आदि अन्य द्रव्यों को अपना कहना

इसप्रकार व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों को जानना भी वस्तुस्वरूप का निर्णय करने में अत्यन्त उपयोगी है, अतः इनका स्वरूप जानकर परमार्थ-दृष्टि प्रगट करने का उपाय करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. लौकिक विश्व-व्यवस्था का उदाहरण देते हुए अलौकिक विश्व-व्यवस्था का स्वरूप और उसमें व्यवहारनय के भेदों के प्रयोग स्पष्ट कीजिए।
2. कार्यालय की व्यवस्था का उदाहरण देते हुए व्यवहारनय के चार भेदों की कथंचित् सत्यार्थता प्रतिपादित कीजिए।
3. यदि व्यवहारनय के भेद न किये जाएँ तो क्या हानि है? स्पष्ट कीजिए।
4. ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध को असद्भूत कहने का आशय स्पष्ट करते हुए ज्ञान-ज्ञेय के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
5. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के नौ भेद और उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के छह भेदों के नाम और प्रयोग लिखिए।

वे सिद्ध प्रभु व्यवहारनय से, ज्ञान के घनपुंज हैं।
त्रिभुवन शिखर की शिखा के, चूड़ामणि घनरूप हैं।।
वे देव निश्चय से सहज, चैतन्य चिन्तामणि परम।
निज नित्य स्वरूप में ही, वास करते हैं स्वयं।।

– नियमसार कलश, 101

10

पंचाध्यायी में समागत
व्यवहारनय के भेद-प्रभेद एवं नयाभास

व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों की विषय-वस्तु तथा उनके विभिन्न प्रयोगों पर विचार करने के पश्चात् पंचाध्यायी ग्रन्थ में समागत व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों पर चर्चा करना भी आवश्यक है, क्योंकि इसमें वर्णित विषय-वस्तु में कुछ भिन्नता पाई जाती है, जिस पर गम्भीर चिन्तन करने से नय-प्रयोगों के विशेष रहस्य खुलने का अवसर है।

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित समयसार से लेकर पण्डितप्रवर दौलतरामजी कृत छहढाला तक सम्पूर्ण शासन-परम्परा में व्यवहारनय के चार भेदों की विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं है, मात्र पाण्डे राजमलजी कृत पंचाध्यायी में असद्भूतव्यवहारनय की विषय-वस्तु में भिन्न शैली अपनाई गई है। इन दोनों शैलियों में अन्तर और उसके प्रयोजन पर विचार करने से नयों का रहस्य भलीभाँति जाना जा सकेगा। इन दोनों शैलियों का बार-बार उल्लेख करने में सरलता रहे, अतः प्रचलित परम्परागत शैली को प्रथम शैली तथा पंचाध्यायी में प्रयुक्त शैली को द्वितीय शैली कहकर सम्बोधित करना ठीक रहेगा।

ध्यान रहे कि निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के प्रकरण में भी द्वितीय शैली का दृष्टिकोण अलग ही है। पंचाध्यायी में विषय-वस्तु तथा निषेधक लक्षण के आधार पर निश्चयनय को अभेद्य अखण्ड तथा एक मानते हुए उसके भेद करने का कठोरता से निषेध किया गया है। इस

सम्पूर्ण प्रकरण पर अध्याय 8 में विस्तृत विचार किया जा चुका है। यही स्थिति असद्भूतव्यवहारनय के भेद-प्रभेदों की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में है, जिसका विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

नयों के मूल भेदों की चर्चा पंचाध्यायी में भी प्रथम शैली के अनुसार ही है। उन्होंने भी सद्भूत और असद्भूत के रूप में व्यवहारनय के दो भेद किये हैं, उसके लक्षण आदि की मीमांसा निम्नप्रकार है -

1. सद्भूतव्यवहारनय - पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक 525-527 में कहा है कि **जिस वस्तु का जो गुण है, उसकी सद्भूत संज्ञा है और उन गुणों की प्रवृत्ति का नाम व्यवहार है।** गुणों की प्रवृत्ति से आशय गुणभेद करके वस्तु को जानने या कहने से है।

वस्तु को उसके असाधारण गुण (विशेष गुण) के आधार पर अन्य वस्तुओं से भिन्न बताना, सद्भूतव्यवहारनय का प्रयोजन है। यह नय अखण्ड वस्तु में भेद करके वस्तु-स्वरूप को बताता है, अतः यह भेद का अभिव्यंजक (व्यक्त करनेवाला या प्रकाशक) नहीं है, अपितु पर से भिन्नता स्थापित करनेवाला है।

2. असद्भूतव्यवहारनय - इस सम्बन्ध में वहीं श्लोक 529-533 में कहा है कि **अन्य द्रव्य के गुणों की अन्य द्रव्य में बलपूर्वक संयोजना करना असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे - मूर्तिक कर्मों के संयोग से होनेवाले क्रोधादि मूर्त हैं, फिर भी उन्हें जीव में हुए कहना - असद्भूतव्यवहार नय का प्रयोग है।**

आगन्तुक (विकारी) भावों का त्याग करने पर जो शेष बचता है, वही उस वस्तु का शुद्ध गुण है और ऐसा माननेवाला पुरुष ही सम्यग्दृष्टि है। जैसे, चाँदी मिला हुआ सोना सफेद-सा लगता है, परन्तु जब उसमें से चाँदी का सम्बन्ध छूट जाए, तब वही सोना शुद्धरूप से अनुभव में आता है।

उक्त कथन का आशय यह है कि क्रोधादि को जीव में देखना

असद्भूतव्यवहारनय है अर्थात् वे जीव में हैं नहीं - ऐसा जानने पर क्रोधादि विकारी भावों से भिन्न शुद्धस्वभाव की प्रतीति होने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसप्रकार यहाँ असद्भूतव्यवहारनय का फल भेद-विज्ञान और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति बताया गया है।

यहाँ असद्भूतव्यवहारनय की परिभाषा तो अन्य ग्रन्थों के अनुसार ही है, परन्तु प्रयोग अलग प्रकार का है। प्रथम शैली में शरीरादि भिन्न पदार्थों से सम्बन्ध बताना, असद्भूतव्यवहारनय कहा गया है, किन्तु यहाँ क्रोधादि भावों को जीव का कहना, असद्भूतव्यवहारनय कहा जा रहा है। उन्हें असद्भूतव्यवहार कहने के लिए पंचाध्यायीकार पहले तो उन्हें द्रव्यकर्मों से उत्पन्न होने से मूर्तिक कह रहे हैं, फिर उन्हें जीव में हुए कहना, असद्भूतव्यवहारनय कह रहे हैं; जबकि अन्य ग्रन्थों में क्रोधादि को कर्मजन्य कहना, अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहा गया है। क्रोधादि को मूर्तिक मानकर, उन्हें जीव का कहने में पंचाध्यायीकार को असद्भूतव्यवहारनय की यह परिभाषा **अन्यद्रव्यस्य गुणाः संयोज्यन्ते बलादन्यत्र** लागू करने का अवसर मिल गया।

द्वितीय शैली के अनुसार व्यवहारनय के चारों भेदों का स्वरूप इसप्रकार है -

1. अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय - पंचाध्यायी, अध्याय प्रथम, श्लोक 535-537 में ग्रन्थकार कहते हैं कि **पदार्थ की आत्मभूत शक्ति को भेद किये बिना सामान्यरूप से उसी पदार्थ की कहना अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है।**

जिसप्रकार घट के सद्भाव में जीव का ज्ञानगुण घट से निरपेक्ष चैतन्यस्वरूप रहता है, उसीप्रकार घट के अभाव में भी जीव का ज्ञानगुण घट की अपेक्षा बिना चैतन्यरूप ही है अर्थात् ज्ञान, सदा जीवोपजीवी है, ज्ञेय को जानते समय भी वह ज्ञेयोपजीवी नहीं होता।

यहाँ ज्ञान में ज्ञेयाकारों के भेद किये बिना उसे मात्र ज्ञानसामान्य के रूप में देखा जा रहा है। ज्ञानसामान्य चैतन्यरूप ही है, ज्ञेय को जानते समय भी वह ज्ञेयरूप नहीं होता, चैतन्यरूप ही रहता है इस सामान्यज्ञान को जीव का स्वरूप कहना, अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार नय है। यहाँ अभेद आत्मा में ज्ञान और आत्मा में भेद करना/जानना, सद्भूतव्यवहारनय कहा गया है।

2. उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय – इस सन्दर्भ में वहीं श्लोक 540-543 में कहा गया है कि **हेतुवश स्वगुण का पररूप से अविरोधपूर्वक उपचार करना, उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। जैसे- अर्थ-विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है। यहाँ जगत् के स्व-पर समस्त पदार्थों को अर्थ कहा गया है और ज्ञान का उसरूप होना, विकल्प कहा गया है।**

यद्यपि ज्ञान तो निर्विकल्प ज्ञानमात्र है, फिर भी उसे अर्थ-विकल्पात्मक अर्थात् ज्ञेयाकाररूप कहना उपचार है, तथापि ज्ञेयों की अपेक्षा बिना निरालम्बी (सामान्य) ज्ञान का कथन करना सम्भव नहीं है; इसलिए यह उपचार किया जाता है अर्थात् ज्ञान को ज्ञेयाकार (अर्थ-विकल्पात्मक) कहा जाता है।

ज्ञानसामान्य, ज्ञेयों से निरपेक्ष तथा स्वरूप सिद्ध होने से सत्रूप है। उसका ज्ञेयाकार परिणमन भी सत् है अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयाकार परिणमन होता ही नहीं - ऐसा नहीं है; तथापि वह ज्ञान, ज्ञानरूप है, उसे ज्ञेयाकार कहना, उपचरित ही है। इसप्रकार ज्ञान में ज्ञेयकृत उपचार होने से ज्ञान को अर्थ-विकल्पात्मक कहना, उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय है।

3. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय – इस सम्बन्ध में वहीं श्लोक 546-48 में कहा है कि **अबुद्धिपूर्वक अर्थात् बुद्धि में न**

आनेवाले क्रोधादिभाव जीव के कहे जाते हैं, तब अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय प्रवृत्त होता है। पदार्थ की विभावरूप शक्ति, जब उपयोगदशा से युक्त होती है, तब भी वह उससे अभिन्न होती है अर्थात् यह नय, आत्मा के विभावरूप परिणामों को आत्मा से अभिन्न बताता है, परन्तु यहाँ विभाव परिणामों को असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा का कहा है, इसका आशय यही है कि वे वास्तव में आत्मा के नहीं हैं। इसप्रकार यह नय, स्व और पर के निमित्त से (उपादान की योग्यता और कर्मोदय के निमित्त से) होनेवाले क्षणिक विकारों को आत्मा से भिन्न और हेय बताता है।

4. **उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** - इस सम्बन्ध में वहीं श्लोक 549-551 में कहा गया है कि **जब जीव के क्रोधादिक औदयिकभाव बुद्धिपूर्वक विवक्षित होते हैं, तब उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय प्रवृत्त होता है अर्थात् यह नय, बुद्धिपूर्वक क्रोधादि को जीव का कहता है।**

आत्मा में विभावरूप परिणमन होने की योग्यता होने पर भी पर-निमित्त के बिना क्रोधादिभाव नहीं होते, अतः उन्हें स्व और पर, दोनों के निमित्त (कारण) से हुआ कहा जाता है और तब उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय प्रवृत्त होता है।

यदि बुद्धिपूर्वक अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होनेवाले रागादि हैं तो अबुद्धिपूर्वक अर्थात् ज्ञान के विषय नहीं बननेवाले रागादि तो अवश्य होते ही हैं। अबुद्धिपूर्वक रागादि के बिना मात्र बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं होते, इसलिए अनुमान की दृष्टि से बुद्धिपूर्वक राग को साधन और अबुद्धिपूर्वक को साध्य कहा जाता है अर्थात् बुद्धिपूर्वक राग, अबुद्धिपूर्वक राग का ज्ञान (अनुमान) कराता है।

इसप्रकार उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय, अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का साधन है।

उक्त विवेचन के अनुसार व्यवहारनय के चार भेदों के प्रयोगों की अपेक्षा प्रथम शैली और द्वितीय शैली के अन्तर को जानने के लिए उनका तुलनात्मक अध्ययन निम्न तालिका के माध्यम से किया जा सकता है -

नय	प्रथम शैली का प्रयोग	द्वितीय शैली का प्रयोग
1. उपचरित असद्भूत व्यवहारनय	आत्मा स्त्री, पुत्र, मकान आदि का स्वामी/कर्ता है।	बुद्धिपूर्वक रागादि आत्मा के हैं।
2. अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय	आत्मा आठ कर्मों का कर्ता/भोक्ता है अथवा शरीर का अधिष्ठाता है।	अबुद्धि-पूर्वक रागादि आत्मा के हैं।
3. उपचरित सद्भूत व्यवहारनय	आत्मा क्रोधादि विकारी भावों का कर्ता/भोक्ता है।	ज्ञान अर्थ विकल्पात्मक अर्थात् ज्ञेयाकाररूप है।
4. अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय	आत्मा केवलज्ञानादि शुद्ध पर्यायों का कर्ता है अथवा ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला है।	आत्मा में ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ हैं।

नयचक्र, आलापपद्धति और अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों के आधार पर निरूपित व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों और पंचाध्यायी में निरूपित व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों पर जब हम तुलनात्मक दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचाध्यायीकार ने अन्यत्र निरूपित शुद्ध-सद्भूत, अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय के विषयों को शुद्ध-

सद्भूत, अशुद्ध-सद्भूत, अनुपचरित-असद्भूत और उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के इन चार प्रकारों में फैला दिया है।

जिन रागादिक भावों को अन्यत्र अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय के विषय के रूप में बताया गया है, उन्हें पंचाध्यायीकार असद्भूतव्यवहारनय के विषय में ले लेते हैं तथा असद्भूतव्यवहारनय को दो भेदों में विभाजित करने के लिए वे रागादि विकारीभावों को बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक - इन दो भेदों में विभाजित कर देते हैं। इसप्रकार उनके अनुसार बुद्धिपूर्वक राग, उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का तथा अबुद्धिपूर्वक राग, अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

शुद्धता और अशुद्धता को आधार बनाकर सद्भूतव्यवहारनय के जो दो भेद, प्रथम शैली में किए गए हैं, उनमें अशुद्धता के आधार पर रागादि विकार, अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के विषय बनते हैं, किन्तु जब पंचाध्यायीकार रागादि को असद्भूतव्यवहारनय के भेदों में ले लेते हैं तो अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के विषय की समस्या उपस्थित हो जाती है। उसका समाधान वे इसप्रकार करते हैं कि अर्थ-विकल्पात्मक ज्ञान अर्थात् **जो रागादि को जाने, वह ज्ञान** - यह तो अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है और सामान्य ज्ञान अर्थात् **ज्ञान, वह आत्मा** - ऐसा भेद शुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

प्रश्न - प्रथम शैली में शरीरादि पर वस्तुओं से आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करना, असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा है, जबकि द्वितीय शैली में क्रोधादि भावों को जीव का कहना, असद्भूत-व्यवहारनय माना गया है; अतः द्वितीय शैली के अनुसार शरीरादि भिन्न वस्तुओं से आत्मा का सम्बन्ध किस नय का विषय माना गया है?

उत्तर - प्रथम अध्याय, श्लोक 552 से 557 में पंचाध्यायीकार पर

वस्तुओं से आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करने को नय मानने से इनकार करते हुए उसे **नयाभास** निरूपित करते हैं।

इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु में आरोपित करते हैं, वे नय नहीं; किन्तु नयाभास हैं, क्योंकि वे सब मिथ्यावाद होने से खण्डित हो जाते हैं; उन्हें नय कहनेवाले भी मिथ्यादृष्टि ठहरते हैं, क्योंकि जीव को वर्णादिवाला कहने से कोई लाभ तो है नहीं, उल्टा दोष ही है; क्योंकि इससे जीव और वर्णादि में एकत्वबुद्धि होने लगती है।

यह पूछे जाने पर कि वस्तु का विचार करने पर गुण हो या दोष, किन्तु उक्त नय-प्रवाह, न्याय-बल से प्राप्त है तो ग्रन्थकार तर्क देते हैं कि कौन-सा नय सम्यक् है और कौन-सा नय मिथ्या - इसका विचार करना भी अनिवार्य है।

यद्यपि ग्रन्थकार स्वयं, अन्य द्रव्य के गुणों की बलपूर्वक अन्य द्रव्य में संयोजना करना, असद्भूतव्यवहारनय बताते हैं, तथापि यहाँ वे स्वयं इस बात का निषेध करते हुए दिख रहे हैं। इस विरोधाभास का समाधान करते हुए वे स्वयं कहते हैं कि जैसे, ये क्रोधादिभाव जीव में उत्पन्न होते हैं, वैसे वर्णादि जीव में उत्पन्न नहीं होते; अतः असद्भूत-व्यवहारनय के विषयरूप क्रोधादि को जीव का कहना अनुचित नहीं है।

प्रथम शैली में प्ररूपित अनुपचरित और उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के सभी कथनों को द्वितीय शैली में नयाभास कहा गया है। पंचाध्यायीकार ने श्लोक 564-586 तक चार प्रकार के नयाभासों का वर्णन किया है, जिनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

प्रथम नयाभास - मनुष्यादि का शरीर जीव है, क्योंकि वह जीव से अभिन्न है - ऐसा व्यवहार करना, प्रथम **नयाभास** है, क्योंकि यह व्यवहार, सिद्धान्त-विरुद्ध होने से अव्यवहार ही है, जीव और शरीर भिन्न-भिन्न धर्मी हैं।

शरीर और जीव **एकक्षेत्रावगाही** हैं, इसलिए उनमें एकत्व का व्यवहार हो जाएगा - ऐसी आशंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि एकक्षेत्रावगाहीपना सभी द्रव्यों में है, परन्तु वे अभिन्न नहीं हैं; अतः एकक्षेत्रावगाहीपना हेतु से जीव और शरीर को अभिन्न मानने में अतिव्याप्ति दोष आएगा।

जीव और शरीर नियम से भिन्न-भिन्न ही हैं, अतः उनमें **बन्ध्य-बन्धक भाव** मानना स्वतः असिद्ध है। जीव और शरीर में **निमित्त-नैमित्तिक भाव** होने से उन्हें एक मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो स्वयं परिणमनशील है, उसे निमित्तपने से क्या लाभ है?

इसप्रकार एकक्षेत्रावगाहीपना, बन्ध्य-बन्धकभाव तथा निमित्त-नैमित्तिकभाव - इन तीनों हेतुओं से जीव और शरीर में एकत्व का व्यवहार, मिथ्या होने से नयाभास है।

द्वितीय नयाभास - पुद्‍गल के कर्म-नोकर्मरूप कार्यों का कर्ता-भोक्ता जीव है - ऐंसा माननेरूप व्यवहार, द्वितीय नयाभास है; क्योंकि कर्म-नोकर्म जीव से भिन्न हैं तो उनमें गुण-संक्रम कैसे हो सकता है; अतः जीव को इनका कर्ता-भोक्ता मानना, सिद्धान्त-विरुद्ध होने से इसे नयाभास मानना, असिद्ध नहीं है। यदि गुण-संक्रम के बिना ही जीव को कर्मों का कर्ता-भोक्ता माना जाए तो सर्व पदार्थों में सर्व संकरदोष और सर्व शून्यदोष प्राप्त होता है।

जीव की अशुद्धपरिणति के निमित्त से पुद्‍गल स्वयं ही कर्मरूप से परिणमित होता है, इसलिए यह भ्रम हो जाता है कि जीव, कर्मों का कर्ता-भोक्ता है, परन्तु प्रत्येक द्रव्य, अपने स्वभाव का ही कर्ता-भोक्ता है, परभाव उसमें निमित्त मात्र हैं, परन्तु जीव उनका अथवा कर्म, जीव के कर्ता-भोक्ता नहीं हैं।

यदि यह कहा जाए कि कुम्हार घट का कर्ता है - इस लोक-

व्यवहार को कैसे रोका जा सकता है? तो हमारा कहना है कि ऐसा व्यवहार होता है तो होने दो, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि यह लोक-व्यवहार नयाभास है।

तृतीय नयाभास – जो जीव के साथ बँधे नहीं हैं – ऐसे परपदार्थों का भी कर्ता-भोक्ता जीव है – ऐसा मानना, तृतीय नयाभास है। जैसे, सातावेदनीय के उदय के निमित्त से होनेवाले घर, धन-धान्य, स्त्री-पुत्रादि भावों का कर्ता-भोक्ता यह जीव स्वयं है।

शंका – घर, स्त्री आदि के होने पर जीव सुखी होता है और उनके अभाव में जीव दुःखी होता है – यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, अतः जीव को उनका कर्ता-भोक्ता मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान – यह कहना ठीक है, परन्तु यह वैषयिक सुख पर (आत्मा से भिन्न) होने पर भी पर-पदार्थ की अपेक्षा से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि धन-स्त्री आदि पर-पदार्थ किन्हीं जीवों के लिए दुःख के कारण भी देखे जाते हैं, अतः इनका कर्ता-भोक्ता जीव को मानना उचित नहीं है।

चतुर्थ नयाभास – ज्ञान और ज्ञेय में परस्पर बोध्य-बोधक सम्बन्ध होने के कारण ज्ञान को ज्ञेयगत और ज्ञेय को ज्ञानगत मानना, चतुर्थ नयाभास है; क्योंकि जिसप्रकार चक्षु, रूप को देखती है, तथापि वह रूप में नहीं चली जाती, किन्तु वह चक्षु ही रहती है, उसीप्रकार ज्ञान, ज्ञेय को जानता है, तथापि वह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान ही रहता है।

उक्त चार नयाभासों के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रथम शैली में प्ररूपित उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को यहाँ तृतीय नयाभास में तथा अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को यहाँ प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ नयाभास कहा गया है।

प्रथम नयाभास में संश्लेषसहित पदार्थों के एकत्व को तथा **द्वितीय नयाभास** में उन्हीं के कर्ता-कर्म सम्बन्ध को ग्रहण किया गया है। **तृतीय नयाभास** में संश्लेषरहित पदार्थों के कर्तृत्व को ग्रहण किया गया है तथा **चतुर्थ नयाभास** बोध्य-बोधक सम्बन्ध को विषय बनाया गया है। बोध्य-बोधक अर्थात् ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध को अन्यत्र (आलाप-पद्धति, पृष्ठ 227 में) असद्भूतव्यवहारनय अथवा अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के अन्तर्गत लिया है।

प्रथम और द्वितीय शैली में समन्वय –

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पंचाध्यायीकार, अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए अपने से भिन्न विचारकों के लिए दुर्मति मिथ्यादृष्टि जैसे शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। जहाँ एक ओर वे निश्चयनय के भेद माननेवालों को मिथ्यादृष्टि कहते हैं, वहीं दूसरी ओर आत्मा से संश्लेष सम्बन्धवाले अथवा अत्यन्त भिन्न क्षेत्रवर्ती पदार्थों का सम्बन्ध बतानेवाले अनुपचरित और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय माननेवालों को भी मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उन्हें प्रथम शैली में निरूपित विवक्षाओं का भी ख्याल है, अतः उन विवक्षाओं में प्रस्तुत तर्कों को शंका के रूप प्रस्तुत करके उनका समाधान करते हुए अपने विचारों की पुष्टि करते हैं।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा मालूम पड़ता है कि दोनों शैलियों में तीव्र विरोध है तथा पंचाध्यायीकार अत्यन्त कठोर भाषा का प्रयोग करते हुए प्रचलित और परम्परागत शैली के विरोध में दिखते हैं, लेकिन वास्तव में दोनों शैलियों की अपनी-अपनी अपेक्षाएँ और अपने-अपने तर्क हैं। उन पर विचार किया जाए तो उनमें विरोध दिखने के स्थान पर उनका मर्म और प्रयोजन ख्याल में आ जाएगा, जिससे कोई विरोध भासित नहीं होगा।

प्रथम शैली के पक्ष में तर्क – देह और आत्मा का संयोग सर्वथा काल्पनिक या असत् नहीं है। इन्हें सर्वथा असत् मानने पर नर-नारकादि पर्यायरूप चार गतियाँ अर्थात् संसार ही सिद्ध न होगा और संसार के सिद्ध न होने पर मोक्ष और मोक्षमार्ग भी सिद्ध न होगा। देह और आत्मा के संयोगरूप त्रस-स्थावर जीवों को किसी भी अपेक्षा जीव न मानने पर जीव-हिंसा का निषेध किस नय से होगा?

इसीप्रकार मकानादि के स्वामित्व का व्यवहार, सम्यग्ज्ञानियों में भी होता है। जो घड़ा बनाए, वह कुम्हार तथा जो स्वर्ण के गहने बनाए, वह सुनार – ऐसा व्यवहार करते हुए ज्ञानी भी देखे जाते हैं।

इसप्रकार आत्मा और पर-पदार्थों का वर्तमान पर्यायगत संयोग सम्बन्ध तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सर्वथा असत् न होने से कथंचित् सत् हैं, अतः वे किसी न किसी नय का विषय अवश्य बनेंगे और वह नय भी सम्यग्ज्ञान का अंश होगा; अन्यथा प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग के सभी कथन मिथ्या सिद्ध होंगे।

द्वितीय शैली के पक्ष में तर्क – देह और आत्मा के संयोग के आधार से उन्हें एक मानने से देह में एकत्व-बुद्धिरूप मिथ्यात्व ही पुष्ट होता है। अनादिकाल से यह जीव, देह को ही तो आत्मा मान रहा है और यदि जिनागम के असद्भूतव्यवहारनय से भी यही मान्यता पुष्ट हुई तो इन नयों का प्रयोग भी मिथ्या होगा, क्योंकि अज्ञानी को नय नहीं, नयाभास होता है।

मकानादि के स्वामित्व सम्बन्धी या कुम्हार-सुनार सम्बन्धी बातें लोक व्यवहार की बातें हैं। यह व्यवहार, नयाभासों से ही चल जाएगा। लोक व्यवहार में तो लौकिक प्रयोजन की मुख्यता होती है। वहाँ नय और नयाभास की कोई भूमिका नहीं होती।

यहाँ पंचाध्यायीकार को प्रथम शैली का विरोधी समझने की अपेक्षा, हमें उन परिस्थितियों और विवक्षाओं का विचार करना आवश्यक है, जिनके कारण उन्हें यह रुख अपनाना पड़ा।

प्रत्येक वक्ता/लेखक तत्कालीन समय में प्रचलित मान्यताओं और परम्पराओं से मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रभावित हुए बिना नहीं रहता; अतः उसकी रचनाओं में भी उनका समर्थन/विरोध झलकता है। लौकिक क्षेत्र में हुए साहित्यकारों की रचनाओं में प्रायः यह प्रवृत्ति सहज देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ, उन्नीसवीं शताब्दी में हुए प्रसिद्ध हिन्दी लेखक मुंशी प्रेमचन्द की कहानियों एवं उपन्यासों में तत्कालीन समाज की राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का भरपूर चित्रण किया गया है।

यही स्थिति जैन साहित्यकारों की भी है। यद्यपि जैन सिद्धान्त, शाश्वत सत्य के प्रतिपादक होते हैं, इसलिए वे तत्कालीन समाज की मान्यताओं से प्रभावित नहीं होते; तथापि वक्ता किस सिद्धान्त को अधिक महत्त्व दे और किस सिद्धान्त का उल्लेख मात्र करके रह जाए - यह तत्कालीन समाज में प्रचलित मान्यताओं पर निर्भर रहता है। नयों का सामान्य स्वरूप स्पष्ट करते समय अध्याय दो में विवक्षित और अविवक्षित धर्म के प्रकरण में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है।

तत्कालीन मान्यताओं का वक्ताओं पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव हर युग में देखा जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना हो चुकी थी। षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय से जीव के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया जा चुका था, परन्तु शुद्धनय या निश्चयनय के विषयभूत एक अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकभाव के निरूपण से तत्कालीन साहित्य अछूता था; अतः आचार्यदेव ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप

दिखाने के लिए ग्रन्थाधिराज समयसार परमागम की रचना की।

इसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ही निर्ग्रन्थ मार्ग में अनेक विकृतियाँ आने लगी थीं। यहाँ तक कि सवस्त्र मुनिदशा की मान्यताएँ भी जोर पकड़ने लगी थीं; अतः अष्टपाहुड़ ग्रन्थ, इन विकृतियों के कठोर प्रतिकार का ही परिणाम है।

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी विरचित मोक्षमार्ग प्रकाशक तो तत्कालीन मान्यताओं और परम्पराओं पर कठोर प्रहार करने का जीवन्त प्रमाण है।

वर्तमान युग में पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की दृष्टि-प्रधान प्रवचन शैली भी तत्कालीन समाज की अध्यात्म-शून्य तथा क्रियाकाण्ड में मुग्ध दृष्टि के विरुद्ध क्रान्ति से निर्मित हुई है। उन्हें जब समयसार ग्रन्थ के समागम से यथार्थ दृष्टि प्राप्त हुई, उस समय जैन समाज के सभी वर्गों में - द्रव्यकर्म से विकार होता है, पुण्य से धर्म होता है - आदि अनेक मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित थीं, जिनका खण्डन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ने कण-कण की स्वतन्त्रता तथा अकर्ता ज्ञायकस्वभाव का जयघोष किया।

शुद्धनय-प्रधान शैली होने पर भी उनके प्रवचन में प्रमाण की मर्यादा का कहीं भी उल्लंघन नहीं हुआ है। यदि उन्हें श्रोताओं के व्यावहारिक जीवन में कोई शिथिलाचार नजर आता है तो वे उस पर भी जमकर प्रहार करते हैं।

इसप्रकार परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी एवं पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में यदि पंचाध्यायीकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो उनके द्वारा प्ररूपित बातों का औचित्य समझा जा सकता है।

उनके समय निश्चित ही ऐसे लोगों का बाहुल्य होगा, जो प्रथम

शैली में प्रयुक्त असद्भूतव्यवहारनय पर आवश्यकता से अधिक वजन देकर परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिप्राय पुष्ट करते होंगे। उनके समय ही क्यों? ऐसे लोग तो हर समय रहते हैं, आज भी हैं, उस समय यह प्रवृत्ति जरा ज्यादा दिखती होगी। हो सकता है - अनेक वक्तागण भी ऐसी प्ररूपणा करते हों, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उन्हें इतनी कठोर भाषा का प्रयोग करना पड़ा। न केवल असद्भूतव्यवहारनय, अपितु किसी भी नय को सही न समझ कर, उसकी आड़ में मिथ्यात्व का पोषण करना नयाभास ही होता है। पण्डित टोडरमलजी ने तो निश्चयाभास, व्यवहाराभास तथा उभयाभास का वर्णन कर, इसी तथ्य का रहस्योद्घाटन किया है।

दोनों शैलियों के अभिप्राय में वीतरागता - सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो दोनों शैलियाँ अनादिकालीन मिथ्यात्व पर प्रहार करती हैं। दोनों शैलियों में देह, मकान आदि को अपना मानने का निषेध किया गया है। अन्तर मात्र इतना है कि प्रथम शैली में पर-पदार्थों से जीव के सम्बन्ध को असद्भूतव्यवहारनय कहा गया है और दूसरी शैली में उसे नयाभास कहा गया है। **प्रथम शैली भी इसे असद्भूतव्यवहार कहकर, उसका निषेध करके परमार्थ का अनुभव करने की बात कहती है।**

वास्तव में देखा जाए तो पर-वस्तुओं से आत्मा का सम्बन्ध बतानेवाले कथन, पारमार्थिक सत्य न होने से निषेध्य ही हैं। चाहे उन्हें असद्भूतव्यवहार कहकर उनका निषेध किया जाए या नयाभास कहकर, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस सम्बन्ध को असद्भूत कहने का अर्थ ही यह है कि इसे वास्तविक न माना जाए।

देहादि पर-पदार्थों से आत्मा के संयोग या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का सर्वथा निषेध किसी भी शैली में नहीं किया गया; मात्र

उन्हें असद्भूतव्यवहारनय और नयाभास कहकर स्वीकार किया है और अन्ततः निश्चयनय, इन दोनों का निषेध कर ही देता है।

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि दोनों शैलियों को आत्मा और देहादि का सम्बन्ध इष्ट नहीं है और उनकी संयोगरूप अवस्था से इनकार भी नहीं है; इसलिए दोनों शैलियों में विरोध नहीं है।

वस्तु-स्थिति यह है कि प्रथम शैली में प्ररूपित असद्भूतव्यवहार के कथनों को द्वितीय शैली में अध्यात्म के जोर में अर्थात् भेद-विज्ञान और वीतरागदशा प्रगट करने की मुख्यता से नयाभास कहा गया है, क्योंकि उन्हें नय न मानने पर जो व्यवहारापत्ति खड़ी होती है, उसके निराकरण के लिए उन्हें उपेक्षा बुद्धि से ही सही नयाभासों को अपनाना पड़ा।

प्रश्न – क्या अध्यात्म के जोर में प्रचलित पद्धति से विरुद्ध कथन किया जाना उचित है? क्या जिनागम में इसप्रकार के और भी कथन उपलब्ध होते हैं?

उत्तर – आत्मानुभूति के प्रयोजन की मुख्यता से अध्यात्म ग्रन्थों में ऐसे अनेक कथन पाये जाते हैं, जो प्रचलित पद्धति से विरुद्ध प्रतीत होते हैं, परन्तु उनकी अपेक्षा समझ ली जाए तो विरोध मिट जाता है। ऐसे कुछ कथन इसप्रकार हैं –

1. समयसार में अनेक स्थलों पर मोह-राग-द्वेष तथा सुख-दुःखादि जीव के परिणामों का कर्ता पुद्गल को कहकर, **रागादि को ही पुद्गल** कहा है – ऐसे कथन, शुद्धनिश्चयनय से जीव के चैतन्य-स्वभाव को रागादि से भिन्न बताने के प्रयोजन से किये गये हैं।

2. समयसार में पुण्य-पाप को एक बताते हुए पुण्य-पाप अधिकार लिखा गया है तथा योगसार, गाथा 71 में **पुण्य को भी पाप** कहा गया है। निश्चय से पुण्य भी बन्ध का कारण है – ऐसा समझकर उसे हेय जानकर वीतरागभाव को ही सच्चा मोक्षमार्ग बताने के प्रयोजन से यह कथन किया गया है।

3. क्षुल्लक धर्मदासजी कृत स्वात्मानुभव मनन में आत्मा को **सातवाँ द्रव्य या दसवाँ पदार्थ** कहकर, समस्त परद्रव्यों और परभावों से भिन्न बताया गया है।

4. नियमसार, गाथा 50 में **क्षायिक आदि भावों को भी परद्रव्य कहकर,** हेय बताते हुए उनसे दृष्टि हटाकर, अनादि-निधन शुद्ध पारिणामिकभाव का अवलम्बन करने की प्रेरणा दी गई है।

इसप्रकार ऐसे अनेक कथन अध्यात्म ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिन पर गहन विचार करके, उनका मर्म समझना चाहिए। मात्र सैद्धान्तिक ऊहापोह से इनका मर्म नहीं समझा जा सकता। जब हमें स्वयं स्वभाव की महिमा उछलेगी, आत्मानुभूति की लगन लगेगी, तभी हमें ऐसे कथनों का मर्म यथार्थ भासित होगा।

उपर्युक्त दोनों शैलियों के माध्यम से आत्मा का स्वरूप समझकर, समस्त परद्रव्यों और परभावों से भिन्न शुद्ध चैतन्यतत्त्व की अनुभूति का पावन पुरुषार्थ प्रगट करना ही हम सबके लिए श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. प्रथम और द्वितीय शैली में प्रयुक्त व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
2. पंचाध्यायीकार द्वारा कहे गए चार नयाभासों का स्वरूप बताते हुए सिद्ध कीजिए कि इन्हें नयाभास क्यों कहा गया है?
3. प्रथम शैली में प्रयुक्त असद्भूतव्यवहारनय को द्वितीय शैली में नयाभास क्यों कहा गया है? पंचाध्यायीकार के पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत कीजिए?

11

नयों के सन्दर्भ में : आगम और अध्यात्म

षट्खण्डागम, गोम्मटसारादि ग्रन्थों को 'आगम ग्रन्थ' तथा समयसारादि परमागम ग्रन्थों को 'अध्यात्म ग्रन्थ' कहा जाता है। आगम ग्रन्थों में अशुद्धनिश्चयनय अथवा व्यवहारनय की मुख्यता से अथवा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से जीव की संसार अवस्था अथवा वस्तुस्वरूप प्रतिपादक त्रिलोकादि का वर्णन किया जाता है। चरणानुयोग के ग्रन्थों को भी आगम ग्रन्थों में सम्मिलित किया जाता है। जबकि अध्यात्म ग्रन्थों में शुद्धनिश्चयनय से आत्मा का स्वरूप बताकर, आत्मानुभूति की प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए उसकी प्रेरणा दी जाती है, क्योंकि कहा है – **अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष–स्वरूप।**

जिनागम की उक्त दोनों धाराओं की विषय–वस्तु और शैली में भिन्नता होने से दुर्भाग्यवश इन दोनों को परस्पर विरोधी समझकर किसी एक शैली का ऐकान्तिक आग्रह हो जाता है। अध्यात्म–रसिक लोगों को दूसरा पक्ष एकान्त निश्चयवाले कहता है तो आगमाभ्यासी लोगों को अपरपक्ष द्वारा व्यवहार पक्षवाला कहा जाता है; अतः आगम और अध्यात्म के स्वरूप को गहराई से समझना अत्यन्त आवश्यक है।

वस्तु–स्थिति यह है कि आगम की ठोस नींव पर ही अध्यात्म का भव्य महल बनता है। आगम के विशाल वृक्ष में ही अध्यात्म के फल लगते हैं। 'आगम' यदि 'दूध' है तो 'अध्यात्म' उससे प्राप्त

होनेवाला 'घी' है। आगम यदि एक विशाल राष्ट्र है तो अध्यात्म उसमें स्थित हमारा स्वयं का आवास-स्थल है। आगम और अध्यात्म परस्पर विरोधी नहीं, अपितु एक-दूसरे के पूरक हैं।

यहाँ कुछ प्रश्नोत्तरों के माध्यम से आगम और अध्यात्म सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण किया जा रहा है -

प्रश्न 1 - आगम और अध्यात्म दोनों आत्महित में उपयोगी हैं तो दोनों की प्रतिपादन शैली परस्पर विरुद्ध क्यों है?

उत्तर - भाई! दोनों की अपेक्षा और प्रयोजन न समझने से ही हमें उनमें विरोध दिखाई देता है। यदि उसकी अपेक्षा समझ ली जाए तो उनमें विरोध नहीं, परस्पर पूरकता दिखने लगेगी।

जब किसी विद्यालय के छात्रों को नक्शे के माध्यम से भारत की सड़कों और रेलमार्ग का ज्ञान कराना हो तो विस्तार से समझाना पड़ता है। वहाँ किस रास्ते से जाना और किस रास्ते से नहीं जाना अर्थात् वहाँ हेय-उपादेय का प्रयोजन नहीं है, मात्र जानने का प्रयोजन है, लेकिन जब किसी राहगीर को रास्ता बताना हो तो उसके अभीष्ट रास्ते का विस्तृत ज्ञान कराया जाता है, उस समय अन्य रास्तों की बात करने का प्रयोजन नहीं होता।

इसीप्रकार आगम महासागर है, अतः उसमें विश्व के समस्त पदार्थों का स्वरूप, परस्पर-सम्बन्ध, परिणमन-व्यवस्था तीन लोक आदि सभी बातों का वर्णन होता है और अध्यात्म वह गागर है, जिसमें उस महासागर का शुद्धात्मरूपी जल भरा है, जो हमारी चिर-पिपासा को शान्त करेगा। यद्यपि अध्यात्म, आगम का ही अंश है; तथापि यदि भारत जैसे विशाल राष्ट्र के एक प्रान्त को महाराष्ट्र कहा जा सकता है तो द्वादशांगरूपी आगम के प्रयोजनभूत प्रकरण को अध्यात्म या परमागम क्यों नहीं कहा जा सकता?

प्रश्न 2 – यदि आगम के प्रयोजनभूत प्रकरण को अध्यात्म कहते हैं तो अध्यात्म के अतिरिक्त शेष आगम को अप्रयोजनभूत मानना पड़ेगा?

उत्तर – जानने के लिए तो अनन्त ज्ञेय हैं, परन्तु उनमें मोक्षमार्ग के लिए जीवादि सात तत्त्व ही प्रयोजनभूत हैं। यद्यपि जीव-अजीव में तो समस्त लोकालोक समा जाता है, तथापि उन्हें भी इसप्रकार जानना प्रयोजनभूत है, जिससे भेदज्ञान और वीतरागता का पोषण हो।

यदि सम्पूर्ण जिनागम का ज्ञान प्रयोजनभूत माना जाए तो सम्यग्दर्शन के पूर्व द्वादशांग का पाठी होना अनिवार्य माना जाएगा। पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक के अध्याय 8 में लिखते हैं – **मोक्षमार्ग का मूल उपदेश अध्यात्म ग्रन्थों में है, अतः अध्यात्म शास्त्रों का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।**

प्रश्न 3 – तो क्या आगम ग्रन्थों का अभ्यास करना व्यर्थ है?

उत्तर – अध्यात्म भी आगम का ही अंश है और आगम भी अध्यात्म का पोषक है; अतः अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास भी आगमाभ्यास ही कहा जाएगा। यदि बुद्धि और समय की प्रचुरता है तो करणानुयोग आदि का अभ्यास भी अवश्य करें, परन्तु अध्यात्म-पोषक दृष्टि से करना ही श्रेयस्कर होगा। यदि समय और बुद्धि कम है तो अध्यात्म को ही प्राथमिकता देना आवश्यक है।

वस्तुतः आगम और अध्यात्म का मर्म ज्ञानी ही जानते हैं। इस सन्दर्भ में परमार्थ वचनिका में पण्डित बनारसीदासजी के ये विचार ज्ञातव्य हैं – **वस्तु का जो स्वभाव है, उसे आगम कहते हैं। आत्मा का जो अधिकार है, उसे अध्यात्म कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव न आगमी, न अध्यात्मी। क्यों? इसलिए कि कथनमात्र तो ग्रन्थ-पाठ के बल से आगम-अध्यात्म का स्वरूप उपदेशमात्र कहता है,**

आगम-अध्यात्म का स्वरूप सम्यक् प्रकार से नहीं जानता; इसलिए मूढ़ जीव न आगमी, न अध्यात्मी, निर्वेदकत्वात्।

चार अनुयोगों के अभ्यास की उपयोगिता के सन्दर्भ में मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अध्याय का गहन अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न 4 – आगम और अध्यात्म दोनों शैलियों में पाये जानेवाले नय-प्रयोग समान हैं या उनमें अन्तर है?

उत्तर – अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः – नय की यह सामान्य परिभाषा, आगम-अध्यात्म सर्वत्र लागू होती है, परन्तु दोनों शैलियों में नयों के अलग-अलग भेद-प्रभेदों का प्रयोग होता है।

आगम शैली में मुख्यरूप से मूलनय द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय तथा उनके ही अन्तर्गत नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ़-एवंभूत – इन सात नयों का प्रयोग होता है। इन नयों की विस्तृत चर्चा आगामी अध्यायों में की जाएगी। उपनय अर्थात् सद्भूत, असद्भूत और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोग भी आगम शैली में पाया जाता है।

यद्यपि आगम के नयों में भी आत्मा की चर्चा होती है, तथापि उसमें वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन की मुख्यता रहती है, जो आत्म-हित में भी सहायक होती है तथा जीव के गुणस्थान-मार्गणास्थान-जीवसमास आदि का विस्तृत वर्णन होता है। जबकि अध्यात्म शैली में परम उपादेयभूत शुद्धात्म तत्त्व की मुख्यता से कथन होता है।

यद्यपि निश्चय-व्यवहार, मुख्यरूप से अध्यात्म के नय हैं, तथापि जब इनका प्रयोग, आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों के सन्दर्भ में होता है, तब आगम शैली की मुख्यता हो जाती है।

अध्यात्म शैली में मुख्यतया निश्चय-व्यवहारनयों का वर्णन होता है। नयचक्र[1] आलापपद्धति[2] और वृहद्द्रव्यसंग्रह[3] की टीका में अध्यात्म नयों का वर्णन करते हुए दो प्रकार के निश्चयनय तथा चार प्रकार के व्यवहारनय बताए गए हैं, जो इसप्रकार हैं -
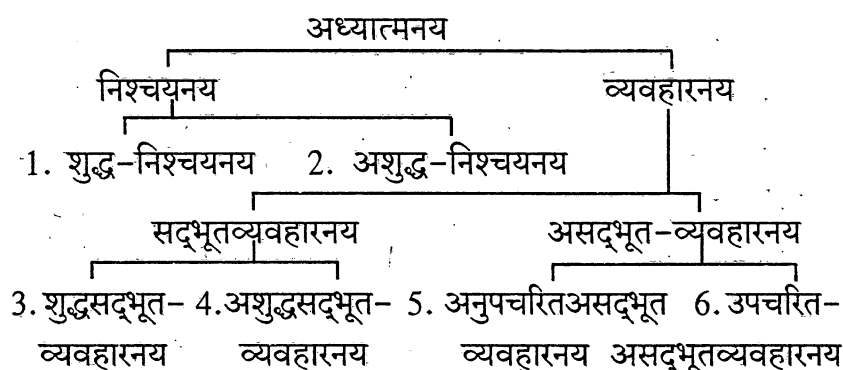
अब अध्यात्मभाषा से नयों के लक्षण कहते हैं -

सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध-एक स्वभाववाले हैं - यह शुद्धनिश्चयनय का लक्षण है। **रागादि ही जीव है** - यह अशुद्धनिश्चयनय का लक्षण है। **गुण और गुणी में अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना** - यह सद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है। **जीव के केवलज्ञानादि गुण है** - यह अनुपचरित-शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है। **जीव के मतिज्ञानादि विभावगुण हैं** - यह उपचरित-अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है। संश्लेष सम्बन्ध वाले पदार्थों में **शरीरादि मेरे हैं** - यह अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है तथा जहाँ संश्लेष सम्बन्ध नहीं है, **वहाँ पुत्रादि मेरे हैं** - यह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है। **इसप्रकार नयचक्र के मूलभूत छह नय संक्षेप में जानने चाहिए।**

उक्त सम्पूर्ण नयों की विषय-वस्तु बताते समय आत्मा को सामने

1. देवसेनाचार्यकृत श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ 25-26
2. आलापपद्धति, पृष्ठ 228 3. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 3

रखा गया है तथा प्रत्येक नय का वजन (महिमा) आत्म-हित की मुख्यता से निश्चित किया गया है। उनकी भूतार्थता और अभूतार्थता का आधार भी आत्म-हित की दृष्टि को बनाया गया है।

पंचाध्यायी में व्यवहारनय के तो चार भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु उनकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में भिन्न अभिप्राय व्यक्त किया गया है तथा निश्चयनय के भेद स्वीकार नहीं किये गये हैं। इन सबकी चर्चा विस्तार से की जा चुकी है।

प्रश्न 5 – सद्भूत, असद्भूत तथा उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को आगम-अध्यात्म दोनों शैलियों में लिया गया है तो इनमें क्या अन्तर है?

उत्तर – आगम शैली में इन्हें उपनय के भेदों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है तथा इनके स्वजातीय-विजातीय आदि भेद किये गये हैं। अध्यात्म शैली में ऐसे भेद न करके सद्भूत-असद्भूत, उपचरित-अनुपचरित आदि चार भेद करके आत्मा के सन्दर्भ में इनका प्रयोग किया गया है। द्रव्य में द्रव्य का उपचार आदि नौ भेद भी आगम शैली में हैं, अध्यात्म शैली में नहीं।

आगम का क्षेत्र विस्तृत है, अतः उसकी प्रकृति, विस्तार में जाने की है, इसलिए नयों के जैसे भेद-प्रभेद आगम शैली में हैं, वैसे अध्यात्म शैली में नहीं, क्योंकि वह मात्र आत्मा तक सीमित है।

आगम फैलने की और अध्यात्म अपने में ही सिमटने की प्रक्रिया का नाम है।

प्रश्न 6 – क्या अध्यात्म ग्रन्थों में आगम के नयों का प्रयोग होता है?

उत्तर – ग्रन्थों में आगम या अध्यात्म शैली की मुख्यता या

गौणता होती है, अतः उन्हें आगम या अध्यात्म ग्रन्थ कहकर सम्बोधित किया जाता है, परन्तु न तो कोई ग्रन्थ शत-प्रतिशत आगम का होता है और न अध्यात्म का।

ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार आदि की टीकाओं और भावार्थ में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों के माध्यम से भी आत्मा का वर्णन किया गया है। सकल कर्मफल के संन्यास की भावना नचाते हुए कर्मों की 148 प्रकृतियों का वर्णन भी किया गया है। इसीप्रकार धवलादि टीकाओं में मिथ्यादृष्टि जीव को भी मंगल कहकर विकार और स्वभाव में भिन्नता का उल्लेख किया गया है।

आगम का प्रतिपाद्य सन्मात्र वस्तु है तो अध्याम का प्रतिपाद्य चिन्मात्र वस्तु है। अध्यात्म शैली चिन्मात्र वस्तु के परपदार्थों से सम्बन्ध को अभूतार्थ कहकर, उसके अन्तरंग वैभव का ज्ञान कराती हुई, अभेद अखण्ड निर्विकल्प स्वभाव तक ले जाती है; अतः उसमें प्रयुक्त नय आत्मा तक सीमित रहते हैं, जबकि आगम का विषय असीमित होने से उसमें अनेक प्रकार के नय-भेदों का प्रयोग किया जाता है।

वस्तुतः किसी भी विषय-वस्तु को मात्र जानने के सन्दर्भ में कहना, आगम शैली है और उसी विषय का आत्मानुभूति-पोषक अर्थ निकालना, अध्यात्म शैली है। अतः अध्यात्म ग्रन्थों में भी आगम का सुमेल तथा आगम ग्रन्थों में भी अध्यात्म की मनोरम छटा सहज मिल जाती है।

प्रश्न 7 – आत्मार्थी को तो मात्र आत्मा को जानने का प्रयोजन होता है। इतने भेद-प्रभेदों में उलझना तो पण्डितों का काम है, अतः हम इसमें अपना समय नष्ट क्यों करें?

उत्तर – भाई! तुझे क्या हो गया है? विषय-कषायों में तुझे समय

नष्ट होता नहीं दिखता, जबकि उसमें पापार्जन के साथ सारा जीवन व्यर्थ जा रहा है और जिनवाणी के अभ्यास को तू समय नष्ट होना कहता है? जरा विचार कर! आगम और अध्यात्म सभी ग्रन्थ, क्षण-क्षण में अन्तर्मुख होनेवाले वीतरागी सन्तों ने लिखे हैं। उनका समय लिखने में बर्बाद नहीं हुआ और तेरी परिणति इतनी अन्तर्मुख हो गई कि उनके अध्ययन में तुझे समय बर्बाद होता दिखता है। समय और बुद्धि की क्षमता के अनुसार स्वाध्याय में ग्रन्थों की प्राथमिकता होना अलग बात है, परन्तु जिनवाणी के अभ्यास में ऐसी अरुचि रखना, महा अनर्थ का कारण है; अतः गम्भीरता से विचार करके आत्महितकारी दृष्टि अपनाकर जिनागम का अभ्यास करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 181-183 पर किया गया स्पष्टीकरण पढ़कर, आगम और अध्यात्म का यथार्थ स्वरूप समझते हुए आगम-पथ पर चलकर, अध्यात्म की मंजिल प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. आगम और अध्यात्म की विषय-वस्तु की समीक्षा कीजिए?
2. असद्भूत एवं सद्भूतव्यवहारनय के आगमगत एवं अध्यात्मगत प्रयोगों की तुलना कीजिए।
3. आगम और अध्यात्म दोनों के अभ्यास की उपयोगिता प्रतिपादित कीजिए।

12

द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय

मूलनयों के प्रकरण में अध्यात्म शैली में प्रयुक्त निश्चय-व्यवहार नयों के साथ-साथ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को भी मूलनय कहा गया है। निश्चय-व्यवहार तथा आगम-अध्यात्म की यथायोग्य विस्तृत चर्चा के पश्चात् अब यहाँ आगम शैली में प्रयुक्त द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की चर्चा की जा रही है।

जड़-चेतन प्रत्येक पदार्थ, द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य-विशेष स्वरूप है। सामान्य/द्रव्य अंश को जाननेवाला ज्ञान, द्रव्यार्थिकनय तथा विशेष/पर्याय अंश को जाननेवाला ज्ञान, पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में उक्त दोनों नयों की परिभाषा इसप्रकार दी गई है -

पर्याय को गौण करके जो द्रव्य को ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिकनय है और इससे विपरीत अर्थात् द्रव्य को गौण करके जो पर्याय को ग्रहण करता है, वह पर्यायार्थिकनय है।

यही आशय समयसार, गाथा 13 की आत्मख्याति टीका में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

द्रव्य-पर्याय स्वरूप वस्तु में जो मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव कराए वह द्रव्यार्थिकनय है और जो ज्ञान, मुख्यरूप से पर्याय का अनुभव कराए, वह पर्यायार्थिकनय है।

जो ज्ञान, द्रव्य-पर्याय दोनों अंशों को मुख्य-गौण किये बिना एक साथ जानता है, वह प्रमाणज्ञान है। परीक्षामुख सूत्र के चतुर्थ परिच्छेद, सूत्र 1 में भी कहा गया है - **सामान्य-विशेषात्मा तदर्थो विषयः।** उक्त नय और प्रमाण के कथनों को इस उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है -

सोने की अँगूठी में मात्र स्वर्ण को मुख्य करके जानना, द्रव्यार्थिकनय है और अँगूठी को मुख्य करके जानना, पर्यायार्थिकनय है तथा सोना और अँगूठी, दोनों को मुख्य-गौण किये बिना एक साथ जानना, प्रमाण है।

इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को चैतन्यस्वरूप जीव की मुख्यता से जानना, द्रव्यार्थिकनय है, मनुष्यपर्याय के रूप में जानना, पर्यायार्थिकनय है तथा जीव और मनुष्य, दोनों को मुख्य-गौण किये बिना जानना, प्रमाण है।[1]

आचार्य समन्तभद्र प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के रूप में प्ररूपित करते हुए लिखते हैं -

सदैव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासात्, न चेन्न व्यवतिष्ठते।।

द्रव्य-क्षेत्र-निज काल भाव से सत्पदार्थ, नहिं माने कौन?
और असत् परद्रव्य आदि से नहिं माने, अव्यवस्थित भौन।।

अतः वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव - इन चार बिन्दुओं को प्रमाण, द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से समझना चाहिए। जिसकी विस्तृत व्याख्या इसप्रकार है -

द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में प्रमाण और नयों का प्रयोग

सामान्य-विशेष आदि अनन्त धर्मयुगलमय वस्तु का अस्तित्व स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल भावमय है; अतः द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय पदार्थ

1. प्रवचनसार, गाथा 114 की टीका

का स्वरूप, द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय तथा प्रमाणज्ञान द्वारा निर्णय करना आवश्यक है।

प्रमाण की विषयभूत द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु, सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक तथा एकानेकात्मकरूप है। इसमें वस्तु का द्रव्यांश - सामान्य, अभेद, नित्य और एकत्वरूप है; जिसे जाननेवाला ज्ञान, द्रव्यार्थिकनय कहलाता है। इसीप्रकार वस्तु का पर्यायांश - विशेष, भेद, नित्य और अनेकरूप है; जिसे जाननेवाला ज्ञान पर्यायार्थिकनय कहलाता है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि इस प्रसंग में द्रव्यांश शब्द का अर्थ - द्रव्य का अंश नहीं, अपितु वस्तु का द्रव्यरूप अंश/अंशी अर्थात् वह अंश/अंशी जो द्रव्य कहलाता है, उसे ग्रहण करना चाहिए। इसीप्रकार पर्यायांश शब्द का अर्थ - पर्याय का अंश न समझकर, पर्यायरूप अंश जानना चाहिए।

ऊपर कहे गये द्रव्यांश के सामान्य, अभेद, नित्य और एक विशेषण तथा पर्यायांश के विशेष, भेद, अनित्य और अनेक विशेषणों को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में घटित करके इसप्रकार समझना चाहिए।

स्वरूप-चतुष्टय में प्रमाण तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय के प्रयोग को निम्न तालिका द्वारा सरलता से समझा जा सकता है -

	स्वद्रव्य	**स्वक्षेत्र**	**स्वकाल**	**स्वभाव**
प्रमाण	सामान्य-विशेषात्मक	भेदाभेदात्मक	नित्यानित्यात्मक	एकानेकात्मक
द्रव्यार्थिक-नय	सामान्य	अभेद	नित्य	एक
पर्यायार्थिक-नय	विशेष	भेद	अनित्य	अनेक

उक्त तालिका के आधार पर निम्न प्रकार से स्वचतुष्टय में प्रमाण-नय के प्रयोग समझना चाहिए -

प्रमाण का विषयभूत प्रत्येक पदार्थ -

स्वद्रव्य की अपेक्षा सामान्य-विशेषात्मक है।

स्वक्षेत्र की अपेक्षा भेदाभेदात्मक है।

स्वकाल की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक है।

स्वभाव की अपेक्षा एकानेकात्मक है।

द्रव्यार्थिकनय से प्रत्येक पदार्थ -

स्वद्रव्य की अपेक्षा सामान्यरूप है।

स्वक्षेत्र की अपेक्षा अभेदरूप है।

स्वकाल की अपेक्षा नित्यरूप है।

स्वभाव की अपेक्षा एकरूप है।

पर्यायार्थिकनय से प्रत्येक पदार्थ -

स्वद्रव्य की अपेक्षा विशेषरूप है।

स्वक्षेत्र की अपेक्षा भेदरूप है।

स्वकाल की अपेक्षा अनित्यरूप है।

स्वभाव की अपेक्षा अनेकरूप है।

वस्तु का द्रव्यांश - सामान्य, अभेद, नित्य और एक होने पर भी उन्हें जाननेवाले ज्ञान को द्रव्य की मुख्यता से द्रव्यार्थिकनय कहा गया है, सामान्यार्थिक नित्यार्थिक आदि नहीं अर्थात् यहाँ, सामान्य, अभेद, नित्य और एक विशेषणों को 'द्रव्य' शब्द में गर्भित करते हुए द्रव्य की मुख्यता करना चाहते हैं। इसीप्रकार वस्तु के विशेष, भेद, अनित्य और

अनेक विशेषणों को 'पर्याय' शब्द में गर्भित करके पर्यायार्थिकनय कहा गया है, अनित्यार्थिक आदि नहीं।

वस्तु-स्वरूप को और अधिक गहराई से समझने के लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वरूप समझना भी अति आवश्यक है।

द्रव्य = मूल पदार्थ जो क्षेत्र, काल और भाव का आधार है।

क्षेत्र = द्रव्य का विस्तार अर्थात् चौड़ाई

काल = द्रव्य का प्रवाह अर्थात् लम्बाई

भाव = द्रव्य की शक्तियाँ, गुण या धर्म अर्थात् मोटाई

इसप्रकार लम्बाई, चौड़ाई और मोटाईस्वरूप घन-पिण्ड ही द्रव्य है। मिश्री एक पदार्थ है, उसकी डली का आकार, उसका क्षेत्र है, जितने समय तक वह मिश्री अवस्था है, वह उसका काल है तथा उस मिश्री की सफेदी, मिठास आदि, उसका भाव है।

इसीप्रकार प्रत्येक जीव, एक द्रव्य है, असंख्यात प्रदेश उसका क्षेत्र है, अनादि-अनन्त उसका काल है तथा ज्ञान-दर्शन, अस्तित्व आदि अनन्त गुण उसके भाव हैं - ऐसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय प्रत्येक जीव का अस्तित्व है।

स्वचतुष्टय में भाव का महत्त्व - यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक पदार्थ की दूसरे पदार्थों से भिन्नता, विशेष भाव (विशेष गुण) के आधार पर जानी जाती है। 'सत्' सामान्य लक्षण से प्रत्येक द्रव्य की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता तो समझी जा सकती है, परन्तु जड़-चेतन की भिन्नता नहीं जानी जा सकती। जीवद्रव्य धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य - इन तीनों के लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं। लोकालोकप्रमाण आकाश, अनन्त प्रदेशी है। पुद्गल स्कन्ध, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त प्रदेशी हैं। परमाणु और कालाणु, एकप्रदेशी हैं

तथा इन्द्रियज्ञान-गम्य भी नहीं हैं। काल भी प्रत्येक द्रव्य का अनादि-अनन्त है। अतः द्रव्य, क्षेत्र और काल का स्वरूप सभी पदार्थों में लगभग एक-सा होने से इनके आधार से किसी पदार्थ का विशेष (भिन्न) स्वरूप भासित नहीं हो सकता।

किसी पदार्थ को अन्य पदार्थों से भिन्न जानने के लिए विशेष भाव ही एक मात्र आधार है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने विशेष गुण हैं, जो उसके अलावा अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते। इसी आधार पर विश्व में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये छह जाति के द्रव्य कहे गये हैं। अन्य विशेष प्रकार गुणों के अभाव में कोई सातवीं जाति का द्रव्य, विश्व में नहीं है।

आत्मानुभूति में भाव का महत्त्व – मोक्षमार्ग का प्रारम्भ आत्मानुभूति से ही होता है, जिसका मूल आधार भेद-विज्ञान है। जड़ और चेतन को भिन्न-भिन्न जानना ही भेद-विज्ञान है तथा जड़ और चेतन 'भाव'वाची शब्द हैं, द्रव्य-क्षेत्र-कालवाची नहीं। पदार्थों को उनके 'भाव' की मुख्यता से ही जड़ या चेतन कहा जाता है।

कहा भी है –

जड़भावे जड़ परिणमे, चेतन-चेतनभाव।
कोई कोई पलटे नहीं, छोड़ी आप स्वभाव।।

ग्रन्थाधिराज समयसार की पाँचवीं गाथा में एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप दिखाने की प्रतिज्ञा करने के तत्काल बाद छठवीं गाथा में आचार्यदेव ने आत्मा को प्रमत्त-अप्रमत्त से रहित, एक ज्ञायकभावरूप कहा है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञायकभाव के रूप में जीव का अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, मात्र सत् द्रव्य, बहुप्रदेश या अनादि-अनन्त काल के रूप में नहीं। यह बात अलग है कि वह ज्ञायकभाव स्वतःसिद्ध,

अनादि-अनन्त और असंख्य प्रदेशी है, अतः ज्ञायकभाव, द्रव्य-क्षेत्र--काल से सर्वथा भिन्न भी नहीं है, परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के अपने-अपने जुदे-जुदे लक्षण भी हैं; अतः आत्मानुभूति में ज्ञायक भाव की ही मुख्यता है।

समयसार के प्रथम कलश में भी **चित्स्वभावाय भावाय** कहकर चैतन्य-स्वभावमयी सत्ता को नमस्कार किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ही चैतन्य-स्वभावी भगवान आत्मा के प्रतिपादन और उसकी अनुभूति की प्रेरणा में ही समर्पित है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी भी तत्त्व-निर्णय हेतु भाव-भासन की प्रेरणा देते हैं।[1]

पण्डित दौलतरामजी तो स्पष्ट कहते हैं –

वर्णादि अरु रागादि तैं, निजभाव को न्यारा किया।

इसप्रकार स्व-चतुष्टयरूप पदार्थ में भाव का विशेष महत्त्व समझना चाहिए।

द्रव्य-क्षेत्र-काल का महत्त्व भी भाव से ही – हमारे जीवन में भी भाव का सर्वाधिक महत्त्व है। मात्र द्रव्य के आधार से कोई वस्तु पूज्य नहीं होती। द्रव्य की अपेक्षा तो सभी जीव एक जैसे हैं तो फिर कोई पूज्य और कोई पूजक कैसे हो सकता है? वीतराग-विज्ञानता पूज्य होने से पंच परमेष्ठी पूज्य हैं और हमारे परिणामों में उनके प्रति भक्तिभाव होने से हम पुजारी हैं। इसीप्रकार जिन-प्रतिमा और मन्दिर का फर्श दोनों पुद्गलद्रव्य हैं, परन्तु जिन-प्रतिमा में वीतरागभाव की स्थापना होने से हम उनके चरणों में सिर झुकाते हैं, जबकि फर्श पर पैर रखकर, खड़े होने में भी हमें संकोच नहीं होता।

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 220

अनन्त प्रदेशी अखण्ड आकाश द्रव्य क्षेत्र में सबसे बड़ा है तथा वह अचेतन है, अतः उससे उसमें पूज्यत्व नहीं है, फिर भी जिस स्थान पर वीतरागी सन्त विचरते हैं, सिद्ध पद की साधना हेतु अपने ज्ञायकभाव की आराधना करते हैं, वह स्थान भी हमारे लिए तीर्थ हो जाता है, पूज्य हो जाता है।

काल भी निरन्तर प्रवाहशील जड़ द्रव्य है। दिन, महीना, वर्ष आदि काल का ही व्यवहार है, अतः उसमें पूज्यता कैसे हो सकती है? परन्तु हमारे तीर्थंकरों की पंचकल्याणक तिथियों को भी हम धन्य घड़ी, धन्य दिवस, आदि कहकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। उनके कल्याणक दिवस मनाते हैं। काल पर भाव का आरोप करके ही कहा जाता है –

धन्य घड़ी वह धन्य दिवस जब, मंगलमय मंगलाचरण हो।

इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य, क्षेत्र और काल – ये तीनों भाव से ही महिमावन्त हैं, स्वयं से नहीं।

वस्तु के द्रव्यांश के लिए अंशी शब्द का प्रयोग – यद्यपि प्रत्येक वस्तु, द्रव्य-पर्यायात्मक है; अतः द्रव्य और पर्याय – ये दोनों सम्पूर्ण वस्तु के अंश हैं, तथापि तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक के नय-विवरण प्रकरण, श्लोक 7-9 में द्रव्य को अंशी तथा पर्याय को अंश शब्द से उल्लिखित किया है। तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक में इस विषय को प्रश्नोत्तर के रूप में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

प्रश्न – जैसे अंशी (वस्तु) में प्रवृत्ति करनेवाले ज्ञान को प्रमाण माना जाता है, वैसे ही वस्तु के अंश में प्रवृत्ति करनेवाले अर्थात् जाननेवाले नय को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता? अतः नय, प्रमाण-स्वरूप ही है?

उत्तर – उक्त आशंका ठीक नहीं है; क्योंकि जिस अंशी या धर्मी में उसके सब अंश या धर्म गौण हो जाते हैं, उस अंशी में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय की प्रवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा अंशी, द्रव्यार्थिकनय का विषय है; अतः उसका ज्ञान द्रव्यार्थिकनय है और धर्म तथा धर्मी के समूहरूप वस्तु में धर्मों और धर्मी, दोनों को प्रधानरूप से जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

वस्तु के द्रव्यांश को अंशी कहना अनुचित भी नहीं लगता, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्य, सामान्य अभेद तथा नित्य भी है अर्थात् द्रव्य, अपने अनन्त गुणों और त्रिकालवर्ती पर्यायों में व्याप्त रहता है; अतः द्रव्य की अंशी, सामान्य या धर्मी और गुण-पर्यायों की अंश, विशेष तथा धर्म संज्ञा यथायोग्य अपेक्षा से उचित ही है। बहुप्रदेशी द्रव्यों के प्रदेशों को भी उसके अंश ही समझना चाहिए।

गुण-पर्यायों में व्याप्त द्रव्य को मुख्य करके जाननेवाला ज्ञान, द्रव्यार्थिकनय है तथा गुण-पर्यायों के भेद को मुख्य करके जाननेवाला ज्ञान, पर्यायार्थिक नय है।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत अंशी, प्रमाण की अपेक्षा तो अंश ही है, सम्पूर्ण वस्तु नहीं। अंशी और अंशरूप सम्पूर्ण वस्तु को प्रधानरूप से या बिना मुख्य-गौण किये जानना, प्रमाण ज्ञान है।

प्रश्न – कहीं द्रव्यांश अथवा अंशी को द्रव्य कहते हैं, कहीं द्रव्य-पर्यायात्मक सम्पूर्ण वस्तु को द्रव्य कहते हैं – इसका क्या कारण है?

उत्तर – भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से 'द्रव्य' शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग किये जाते हैं। 'द्रव्य' शब्द के अनेक प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं। विस्तार से संक्षेप की ओर आते हुए क्रम से

'द्रव्य' शब्द के विभिन्न प्रयोग इसप्रकार हैं -

1. प्रमाण की विषयभूत 'द्रव्य' शब्द से कथित द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावात्मक सम्पूर्ण वस्तु जो कि सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक और एकानेकात्मक है।

2. आगम शैली से इस जीवद्रव्य में रागादि विकार, गुणस्थानादि भेद तथा नर-नारकादि सभी पर्यायें शामिल हैं।

3. अध्यात्म शैली के प्रमाण में शुद्ध जीवद्रव्य और मात्र उसकी निर्मल पर्यायें शामिल होती हैं।

4. द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्यांश या अंशी जो कि केवल सामान्य, अभेद, नित्य और एक है।

5. द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में प्रयुक्त द्रव्य जो कि क्षेत्र-काल और भाव के आधारभूत मूल पदार्थ है।

इन प्रयोगों को इस चित्र के माध्यम से अच्छी तरह समझा जा सकता है -
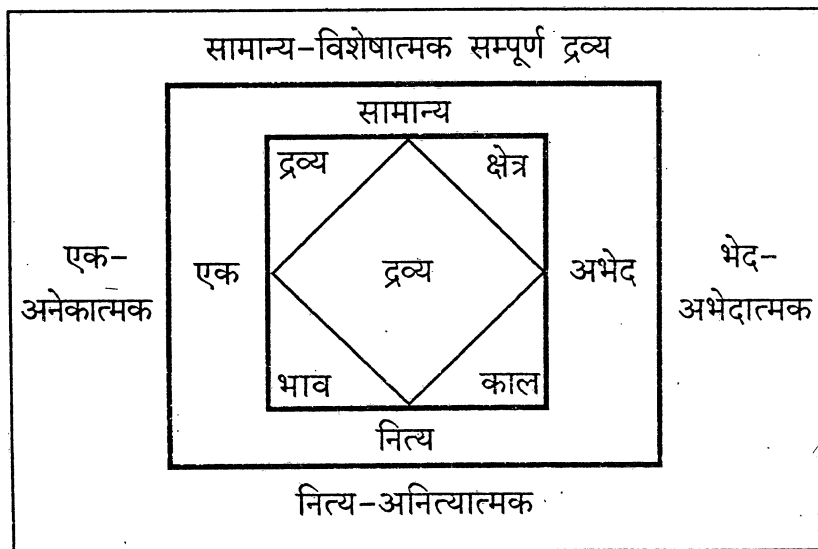
6. इनके अतिरिक्त प्रवचनसार के 47 नयों में द्रव्यनय-पर्यायनय, सामान्यनय-विशेषनय आदि नयों की चर्चा भी की गई है, जिसकी समीक्षा 47 नय वाले अध्याय में उपलब्ध है।

7. यद्यपि द्रव्यार्थिकनय के दस भेदों के विषयभूत द्रव्य के दस प्रकार भी कहे जा सकते हैं, परन्तु इस प्रकरण में उक्त प्रयोग ही मुख्यरूप से जानना चाहिए।

8. द्रव्य-गुण-पर्याय का विस्तृत स्वरूप जानने के लिए पण्डित दीपचन्दजी कासलीवास कृत चिद्विलास ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिए।

प्रश्न – 'द्रव्य' शब्द के विषयभूत उक्त चारों प्रयोगों में दृष्टि का विषय क्या है?

उत्तर – द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमयी, सामान्य-अभेद-नित्य-एक – ऐसा अखण्ड द्रव्य, दृष्टि का विषय है। इसे ही छठवीं गाथा की टीका में स्वतःसिद्ध, अनादि-अनन्त, नित्य-उद्योतरूप, स्पष्ट प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप 'ज्ञायकभाव' कहा गया है। क्षेत्र और काल के भेद को गौण करके, मात्र भाव की मुख्यता से इसे ही 'चित्सामान्य' भी कहा जाता है।

वस्तुतः अनुभूति में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का भेद भी उदित नहीं होता, मात्र निर्विकल्प अखण्ड चिन्मात्र स्वभाव में मग्न परिणाम रहते हैं, परन्तु उसे समझाने के लिए उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप विशेष की अपेक्षा भेद करके कहा जाता है।

प्रश्न – आत्मानुभूति के काल में शुद्धनय के विषयभूत एक ज्ञायकभाव का ही आलम्बन रहता है तो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों द्वारा वस्तु को जानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – आत्मानुभूति का प्रारम्भिक उपाय, तत्त्व-निर्णय है;

अतः वस्तु-स्वरूप के यथार्थ निर्णय के लिए द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है।

यद्यपि प्रमाण द्वारा वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप जान लिया जाता है, तथापि किसी एक धर्म को मुख्य और शेष धर्मों को गौण किये बिना उस विवक्षित धर्म को जानना सम्भव नहीं है; इसलिए उसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय द्वारा जानना भी आवश्यक है।

प्रवचनसार, गाथा 114 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने वस्तु के सामान्य और विशेषस्वरूप को जाननेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों को, दोनों आँखों की उपमा देकर, एक आँख को सर्वथा बन्द करके, दूसरी आँख को पूरी तरह खुली रखकर नयों के माध्यम से जानने की सम्पूर्ण प्रक्रिया बताई है।

उक्त टीका के अनुसार पर्यायार्थिक चक्षु (नय) को सर्वथा बन्द करके, मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु (नय) से जीव को देखने पर मनुष्य, देव, नरक, तिर्यंच और सिद्ध पर्यायरूप विशेषों में रहनेवाला जीव-सामान्य दिखाई देता है। इसीप्रकार द्रव्यार्थिक चक्षु (नय) को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु (नय) से जीव को देखने पर वह, वह जीवद्रव्य में रहनेवाले नर-नारकादि पर्यायरूप अन्य-अन्य दिखाई देता है। जब दोनों चक्षुओं को एक साथ खोलकर (प्रमाण से) देखा जाता है, तब नर-नारकादि पर्यायों में रहनेवाला जीव-सामान्य और जीव-सामान्य में रहनेवाले नर-नारकादि पर्याय-विशेष, दोनों एक साथ दिखाई देते हैं।

प्रश्न - जब सामान्य और विशेष दोनों अंश प्रमाण द्वारा एक साथ जान लिये जाते हैं तो फिर नयों द्वारा मुख्य-गौण करके मात्र एक-एक अंश को जानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – क्षायोपशमिक श्रुतज्ञान प्रमाण में मुख्य-गौण किये बिना विवक्षित धर्म को स्पष्टता और गहराई से नहीं जाना जा सकता और किसी धर्म का गहन स्वरूप जाने बिना हेय और उपादेय की प्रक्रिया सम्भव नहीं होती।

किसी सभा का फिल्मांकन करते समय सम्पूर्ण सभा की विशालता जानने के लिए पूरी सभा का एक साथ चित्र लिया जाना भी आवश्यक है, परन्तु प्रमुख वक्ता, विशेष मेहमान तथा श्रोता समुदाय – ये सभी एक साथ दिखने पर भी वक्ता की विशेष भाव-भंगिमाएँ तथा श्रोताओं पर होनेवाले प्रभाव को विशेषरूप से नहीं देखा जा सकेगा। यह सब देखने के लिए वक्ता और श्रोताओं को क्रमशः मुख्य-गौण करके उनके अलग-अलग चित्र लेना आवश्यक है।

फिल्मांकन की इसी प्रक्रिया के समान वस्तु के दोनों पक्षों को प्रमाण और नय से जानने पर ही प्रयोजन की सिद्धि होती है।

द्रव्य और पर्याय, दोनों अंशों को जानने का प्रयोजन

मुझे क्या करना है? इस प्रश्न का उत्तर, पर्यायांश को जानने से मिलता है; और मुझे कैसे प्राप्त करना है? – इस प्रश्न का उत्तर, द्रव्यांश को जानने से मिलता है।

हेयोपादेय का ज्ञान, पर्याय को जानने से होता है, क्योंकि दुःख और दुःख के कारणभूत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र, पर्याय में ही हैं तथा सुखी होने का उपाय और परिपूर्ण सुखस्वरूप मोक्ष भी पर्याय में ही प्रगट होते हैं; इसीलिए तो जीव-अजीव के साथ आस्रवादि पर्यायरूप तत्त्वों/पदार्थों का निर्णय करना, प्रयोजनभूत माना गया है।

हेय-उपादेय को जानने के बाद यह समस्या उठती है कि हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण कैसे हो? वर्तमान पर्याय का आश्रय करने

से तो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र दूर होंगे नहीं तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो अभी प्रगट हुए नहीं, अतः उन्हें प्रगट करने का एकमात्र उपाय, परम-पारिणामिकभावस्वरूप द्रव्यांश/अंशी का आलम्बन ही है, क्योंकि उसमें अपनापन ही सम्यग्दर्शन है, उसे जानना ही सम्यग्ज्ञान है और उसमें लीनता ही सम्यक्चारित्र है।

यदि ऐसा मानें कि काम तो पर्याय में ही होना है तथा कार्य स्वयं भी पर्याय ही है और पर्याय को, पर्याय से, पर्याय के लिए ही करना है; जबकि द्रव्य तो अव्यक्त है, निष्क्रिय है; अतः उसे जानने की जरूरत ही क्या है? तो पर्यायपक्ष का मिथ्या-एकान्त हो जाएगा और पर्याय को उसका आलम्बन भी नहीं मिलेगा।

इसीप्रकार यदि ऐसा माना जाए कि पर्याय-बुद्धि तो मिथ्यात्व है, वह तो क्षणिक और विकारी है, आश्रय तो द्रव्य का ही करना है; अतः पर्याय को जानना ही क्यों? तो द्रव्यपक्ष का मिथ्या-एकान्त होने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होगा। द्रव्य को ही जानें, पर्याय को नहीं - ऐसा बोलनेवाली भी तो पर्याय ही है, अतः उक्त कथन स्व-वचन बाधित है।

दोनों नयों को जानने की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी कहते हैं -

जीव का स्वरूप, दो नयों से बराबर ज्ञात होता है। अकेले द्रव्यार्थिकनय या अकेले पर्यायार्थिकनय से ज्ञात नहीं होता; इसलिए दोनों नयों का उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

एकान्त द्रव्य को ही स्वीकार करे और पर्याय को स्वीकार न करे तो पर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार, किसने किया और किसमें किया? और मात्र पर्याय ही को स्वीकार करे, द्रव्य को स्वीकार न करे तो पर्याय कहाँ दृष्टि लगाकर, एकाग्र होगी? इसलिए दोनों नयों

का उपदेश स्वीकार करके, द्रव्य-पर्याय की सन्धि करने योग्य है।

शंका - द्रव्य-पर्याय की सन्धि का अर्थ क्या?

समाधान - पर्याय को पृथक् करके लक्ष्य में न लेते हुए, उसे अन्तर्मुख करके, द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प तोड़कर, एकतारूप निर्विकल्प अनुभव करना, सो द्रव्य-पर्याय की सन्धि है; वही दोनों नयों की सफलता है।

पर्याय को जानते हुए, उसी के विकल्प में रुक जावे तो वह नय की सफलता नहीं है; उसीप्रकार द्रव्य को जानते हुए, यदि उसमें एकाग्रता न करे तो वह भी नय की सफलता नहीं है। द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर, दोनों के विकल्प तोड़कर, पर्याय को द्रव्य में अन्तर्लीन-अभेद-एकाकार करके अनुभव करने में ही दोनों नयों की सफलता है।[1]

हमारे सुखी होने के पक्ष में वस्तु का स्वभाव - यह बात विशेषरूप से विचारणीय है कि द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता, हमारे हित में है। वस्तु का जो अंश नित्य है, वह अनन्त ज्ञान और सुख का घन-पिण्ड है, जिसके अवलम्बन से पर्याय का दुःख नष्ट होकर अविनाशी सुख प्रगट हो जाता है; तथा जिस अंश में दुःख है और दुःख के कारणभूत मोह-राग-द्वेष हैं, वह पर्याय, स्वयं ही क्षणभंगुर है, अतः उसके नष्ट होने के प्रति हमें निश्चिन्त हो जाना चाहिए।

अपरिवर्तनशील शुद्ध बुद्ध तत्त्व हमें निर्भय बनाकर दीनता से मुक्त करता है और विकार की क्षणभंगुरता, हमें उसके विनष्ट हो जाने के प्रति आश्वस्त करती है।

---

1. आत्मधर्म (हिन्दी), वर्ष 16, अंक 182, जून 1960, कवर पृष्ठ पर

अन्य जीवों की पर्याय को क्षणिक मानने से उनके प्रति हमें राग-द्वेष नहीं होता तथा समताभाव उत्पन्न होता है तथा उनका द्रव्य-स्वभाव तो हमारे जैसा ही है; अतः उसे जानने से भी सहज समता उत्पन्न होती है।

इसप्रकार दोनों नयों के विषय का ज्ञान, हमारे आत्महित में कार्यकारी हैं।

द्रव्य और पर्याय, दोनों को यथावत् जानकर, द्रव्य-स्वभाव का आश्रय लेना – यही प्रमाणज्ञान के फलस्वरूप प्रगट होनेवाला, सम्यक् एकान्त है और यही श्रेयस्कर है।

सर्वथा शब्द का यथार्थ आशय – प्रवचनसार, गाथा 114 की टीका में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक चक्षु को क्रमशः सर्वथा बन्द करने की बात कही गई है। यहाँ सर्वथा बन्द करने से आशय दूसरी आँख को अच्छी तरह बन्द करने से ही है, फोड़ लेने से नहीं। जिस आँख से देखना है, उसे खुली रखकर, उतने समय के लिए मात्र द्रव्यांश/पर्यायांश को देखने के लिए दूसरी आँख बन्द कर लेने की बात है।

लोक में भी बन्दूक से निशाना साधते समय या कैमरे से फोटो खींचते समय अथवा हीरे की परख करते समय मात्र एक ही आँख का प्रयोग करते हुए, दूसरी आँख को बन्द रखा जाता है।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के लिए भी क्रमशः सर्व-सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा शब्दों का प्रयोग किया जाता है; अतः 'सर्वथा' शब्द में द्रव्य, क्षेत्र और काल को गौण करके 'भाव' को मुख्य किया है, इसलिए यहाँ सर्वथा शब्द का अर्थ भी कथंचित् हो जाता है। 'आत्मा, द्रव्य की अपेक्षा सर्वथा नित्य है' – इस वाक्य के प्रयोग में द्रव्य की अपेक्षा नित्य है – यह अभिप्राय हो तो यहाँ 'सर्वथा' शब्द का आशय 'कथंचित्' अर्थात् आत्मा कथंचित् नित्य है – यह समझना चाहिए।

जिसप्रकार सम्यक्-अनेकान्त में सम्यक्-एकान्त सम्मिलित होता है, उसीप्रकार यहाँ 'सर्वथा' शब्द में 'कथंचित्' शामिल समझना चाहिए।

'सर्वथा' शब्द को अन्त दीपक के रूप में स्वीकार किया जाए तो उसमें सर्व, सर्वत्र और सर्वदा भी गर्भित हो जाते हैं। अग्नि, सर्वथा उष्ण है अथवा आत्मा, सर्वथा चितूस्वरूप है - इन कथनों में 'सर्वथा' शब्द में भाव की मुख्यता होने पर भी यह कथन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमयी सम्पूर्ण वस्तु के बारे में समझना चाहिए अर्थात् सर्व अग्नि, सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा उष्ण अथवा सर्व आत्माएँ सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा चित्स्वरूप हैं - यह आशय है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि 'सर्वथा' शब्द का प्रयोग यदि अपरपक्ष को अच्छी तरह गौण करने के अभिप्राय से किया जाए तो वह सम्यक-एकान्त रूप होगा और यदि अभिप्राय में अपरपक्ष का निषेध वर्त रहा हो तो वह मिथ्या-एकान्तरूप हो जाएगा। मात्र कथन में मिथ्यापना या सम्यक्पना नहीं होता; सब अभिप्राय का ही खेल समझना चाहिए।

अनेक स्थानों पर 'सर्वथा' शब्द का प्रयोग, कथन को दृढ़ता प्रदान करने के लिए, किसी बात पर विशेष बल देने के लिए या ध्यान आकर्षित करने के लिए भी होता है। हम कब, किस कथन का, क्या भाव समझते हैं - यह हमारे विवेक पर निर्भर करता है।

प्रश्न - जैनदर्शन में तो 'सर्वथा', 'एकान्त' और 'ही' - इन शब्दों का निषेध किया जाता है, जबकि आप इनका समर्थन कर रहे हैं?

उत्तर - यदि इन शब्दों का प्रयोग अलग-अलग करते हुए अपरपक्ष का निषेध न किया जाए तो सम्यक्-एकान्त होता है, जो कि अनेकान्त का सुफल है, परन्तु यदि अपरपक्ष का निषेध करने के लिए

दो एकान्त वाचक शब्दों का प्रयोग एकसाथ किया जाए तो मिथ्या एकान्त हो जाता है; अतः सर्वथा एकान्त का प्रयोग अनिष्ट है तो कथंचित् एकान्त सहज ही इष्ट हो गया। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा भी है –

अनेकान्त भी सम्यक्-एकान्तस्वरूप अपने निजपद की प्राप्ति के अलावा, अन्य किसी रीति से उपकारी नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा की सातवीं कारिका में सर्वथा एकान्तवादियों को जिनमतरूपी अमृत से बाहर घोषित किया है तथा 15वीं कारिका में **सदेव सर्वं को नेच्छेत्** अर्थात् प्रत्येक पदार्थ सत् ही है – ऐसा कहकर सम्यक् एकान्त का प्रतिपादन किया है।

प्रमाण, सम्यक्-अनेकान्तरूप है तथा प्रमाणाभास मिथ्या-अनेकान्तरूप है। इसीप्रकार नय, सम्यक्-एकान्तरूप हैं और नयाभास मिथ्या-एकान्तरूप हैं।

हम ऐसा भी कह सकते हैं कि यद्यपि ये तीनों शब्द जहरीले हैं, तथापि स्याद्वाद अर्थात् अपेक्षा के महामन्त्र से इनका जहर उतर जाता है।

प्रवचनसार, गाथा 115 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र देव लिखते हैं –

स्यात्काररूपी अमोघ मन्त्र, एवकार (सर्वथा, एकान्त, ही) में रहनेवाले विरोध-विष के मोह को दूर करता है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि आजकल स्याद्वाद का प्रयोग, जगत् में प्रचलित सभी धर्मों का समन्वय करने और सत्य बताने के लिए किया जाता है। जरा विचार कीजिए कि क्या अनेक असत्यों को मिलाकर एक सत्य बन सकता है? यदि नहीं, तो फिर जो वस्तु-स्वरूप के विरुद्ध असत्य प्रतिपादन करते हैं, उनका समन्वय करके सत्य प्रतिपादन कैसे हो सकता है?

वस्तुतः आचार्यों ने वस्तु में अविरोधरूप से रहनेवाले परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मों का समन्वय, स्याद्वाद (अपेक्षा) के द्वारा किया है, जिसे लोगों ने सभी सम्प्रदायों या मिथ्या मान्यताओं का समन्वय समझ लिया है। आचार्य समन्तभद्र ने दो विपरीत मान्यताओं को सत्य मानने को उभयैकान्त कहकर, इस समन्वयाभास को चुनौती देते हुए स्याद्वाद के द्वारा अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में समन्वय किया है।

आप्तमीमांसा में समागत वह कारिका इसप्रकार है -

विरोधान्नोभयैकान्तं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिः, नावाच्यमिति युज्यते।।13।।

द्वय एकान्तों में विरोध है, स्याद्वाद-विद्वेषी के।
यदि सर्वथा अवाच्य कहें तो, वस्तु-वाच्य इस वाणी से।।13।।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि स्याद्वाद का प्रयोग, सावधानी से करते हुए 'एवकार' के विष को तो दूर करना चाहिए, परन्तु 'एवकार' का सर्वथा निषेध नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'एवकार' नयरूप होने से वस्तु-स्वरूप के निर्णय में अनिवार्य है, सम्यक्-एकान्तरूपी अमृत से ही मिथ्या-एकान्तरूपी विष नष्ट किया जा सकता है।

प्रश्न - द्रव्य और पर्याय के समान, गुण भी वस्तु के महत्त्वपूर्ण अंश हैं तो उन्हें जाननेवाला गुणार्थिकनय अलग से क्यों नहीं कहा?

उत्तर - भेद-विवक्षा से गुणों को सहभावी पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है, अतः वे पर्यायार्थिक नय के विषय हो जाते हैं और अभेद-विवक्षा से गुण, द्रव्य के ही सामान्य स्वरूप हैं, अतः वे द्रव्यार्थिकनय के विषय हो जाएँगे; इसलिए अलग से गुणार्थिकनय को कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

इस सन्दर्भ में कुछ आचार्यों के निम्नलिखित वचन ध्यान देने योग्य है -

द्रव्य के सामान्य और विशेष, दो स्वरूप हैं। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण - ये सब एकार्थक शब्द हैं। सामान्य को विषय करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है और विशेष को विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। दोनों के समुदित अयुतसिद्धरूप द्रव्य है, अतः गुण जब द्रव्य का ही सामान्य रूप है, तब उसके ग्रहण के लिए पृथक् से गुणार्थिकनय की कोई आवश्यकता नहीं है।[1]

यहाँ गुण से सहभावी पर्याय ही विवक्षित है, अतः गुण को जाननेवाला तीसरा गुणार्थिकनय नहीं है।[2]

सन्मति तर्क में भी गुणों को पर्याय के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है, अतः गुणों को विभिन्न अपेक्षाओं से द्रव्य या पर्याय में ही गर्भित करके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक - ये दो ही मूलनय कहे गए हैं। इस सन्दर्भ में विशेष आगम-प्रमाण और उनका स्पष्टीकरण, परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 199-202 तक अवश्य पढ़ें।

प्रश्न - प्रमाण और नयों के बिना तत्त्व-निर्णय नहीं होता, तत्त्व-निर्णय के बिना सम्यक्त्व नहीं होता और सम्यक्त्व के बिना सच्चे प्रमाण-नय नहीं होते तो फिर सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व सच्चा तत्त्व-निर्णय कैसे सम्भव है?

उत्तर - यह बात सत्य है कि सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा तत्त्व-निर्णय नहीं होता, परन्तु उस पर स्वानुभूति की मुहर न लगी होने से ही

1. आचार्य अकलंकदेव, तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय 5, सूत्र 38
2. आचार्य विद्यानन्दि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक 22

उसमें प्रामाणिकता का अभाव कहा गया है, न कि वस्तु-स्वरूप के विरुद्ध होने से। जिनागम में कथित वस्तु-स्वरूप का, जिनागम कथित प्रमाण-नय द्वारा भेद-विज्ञान और वीतरागता के पोषण हेतु किया गया तत्त्व-निर्णय यथार्थ ही है, क्योंकि वही निर्णय, स्वानुभूति का आधार बनता है।

जिसप्रकार आजादी की लड़ाई भी गुलामी की अवस्था में लड़ी जाती है, रोग के अभाव का उपाय भी रोग के सद्भाव में किया जाता है, एक दरिद्र व्यक्ति भी धनवान से धन उधार लेकर, व्यवसाय करके, स्वयं धनवान बन जाता है; तो यहाँ तो अपने में अपना वैभव विद्यमान है, किसी से उधार नहीं लेना है, मात्र देव-शास्त्र-गुरु के आधार से उसे पहचानना है; अतः तत्त्व-निर्णय से दर्शनमोह मन्द-मन्दतर-मन्दतम होता हुआ, स्वानुभूति के माध्यम से उपशमित हो जाता है, तत्पश्चात् दर्शनमोह के क्षय का भी यही उपाय है। इसप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों के द्वारा वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय करके द्रव्य-स्वभाव का लक्ष्य करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए, भाव की महत्ता प्रतिपादित कीजिए।
2. आत्महित में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, दोनों नयों को जानने की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
3. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वरूप, प्रमाण तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों द्वारा बताइए।

(13)

द्रव्यार्थिकनय के भेद-प्रभेद

जिनशासन की अद्‌भुत और अनुपम शैली - स्याद्वाद की यह अनूठी कला है कि उसमें सामान्य, अभेद, नित्य तथा एकरूप द्रव्यांश को जाननेवाले द्रव्यार्थिकनय के भी अनेक भेद बताये गये हैं। जिसप्रकार पंचाध्यायीकार निश्चयनय का विषय - अभेद, अखण्ड, एक होने से उसके भेद ही स्वीकार नहीं करते; उसीप्रकार द्रव्यार्थिकनय के भेदों से भी इनकार किया जा सकता है, फिर भी निश्चयनय के शुद्ध और अशुद्ध - ऐसे दो मूल भेदों के समान द्रव्यार्थिकनय के भी शुद्ध, अशुद्ध आदि अनेक भेद किये गये हैं।

द्रव्यार्थिकनय के ये भेद, उसकी विषय-वस्तु को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से गहराई से समझने के प्रयोजन से किये गये हैं। वस्तु का द्रव्यांश शुद्ध है या अशुद्ध अथवा दोनों से निरपेक्ष है? सत् है या असत्? विशेषों से भिन्न है या अभिन्न? इत्यादि अनेक प्रश्नों का समाधान इन्हें समझने से हो जाता है।

आलापपद्धति में शुद्ध और अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के कोई भेद नहीं करते हुए ये दो भेद तथा अन्वयादि चार भेद मिलाकर कुल छह भेद बताये गये हैं, जो इसप्रकार हैं -

1. शुद्धद्रव्यार्थिकनय
2. अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
3. अन्वयद्रव्यार्थिकनय
4. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय

5. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय 6. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय

वहीं पृष्ठ 226 पर इनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार बताया गया है -

द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिकनय है तथा शुद्धद्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय है और अशुद्धद्रव्य जिसका प्रयोजन है, वह अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है। सामान्य, गुण, आदि को अन्वयरूप से द्रव्य... द्रव्य - ऐसी व्यवस्था जो करता है, वह अन्वयद्रव्यार्थिक है अर्थात् अविच्छिन्नरूप से चले आते गुणों के प्रवाह में जो द्रव्य की व्यवस्था करता है, उसे ही द्रव्य मानता है, वह अन्वयद्रव्यार्थिकनय है। जिसका अर्थ या प्रयोजन स्वद्रव्यादि को ग्रहण करना है, वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय है। जिसका अर्थ-प्रयोजन पर-द्रव्यादि को ग्रहण करना है, वह परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय है और जिसका अर्थ या प्रयोजन परमभाव को ग्रहण करना है, वह परमभावग्राहक-द्रव्यार्थिकनय है।

यद्यपि द्रव्यांश और पर्यायांश, छहों द्रव्यों के स्वरूप में विद्यमान हैं, तथापि यहाँ आत्मा को जानना मुख्य प्रयोजन है, अतः आत्मा पर घटित होनेवाले भेदों का वर्णन किया गया है। यहाँ यह बात समझना विशेष महत्त्वपूर्ण है कि द्रव्य को शुद्ध या अशुद्ध किस आधार से कहा गया है?

कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय तथा भेद-कल्पना से निरपेक्षता ही द्रव्य की शुद्धता है तथा इनसे सापेक्षता ही उसकी अशुद्धता है।

अब यहाँ द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 190-198 में समागत द्रव्यार्थिकनय के दस भेदों के नाम, परिभाषा, इनके स्वरूप पर संक्षिप्त विचार किया जा रहा है -

1. कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
2. उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय
3. भेद कल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
4. कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
5. उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
6. भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
7. अन्वय द्रव्यार्थिकनय
8. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय
9. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय
10. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय

1. कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय

जो नय कर्मों के मध्य में स्थित अर्थात् कर्मों से लिप्त जीव को सिद्ध समान शुद्ध ग्रहण करता है, उसे **कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय** कहते हैं।

वर्तमान अवस्था में विद्यमान कर्मोपाधियों को गौण करके त्रिकाली शुद्धद्रव्य को मुख्य किया जाए तो उसका कर्मोपाधियों से अप्रभावित अनन्त शक्तियों का अखण्ड पिण्ड स्वभाव ही जाना जाता है।

यहाँ कर्मोपाधि से आशय मुख्यरूप से मोह-राग-द्वेषादि औदयिक भावों से है, इस अपेक्षा विचार किया जाए तो इस नय का विषय रागादि भावों से भिन्न एक ज्ञायक भाव है। यद्यपि क्षायिक आदि निर्मल भाव, कर्मों के क्षय के निमित्त से होते हैं, अतः उसमें कर्मोदयरूप उपाधि को गौण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। दृष्टि के विषय की मुख्यता से विचार किया जाए तो औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक

और क्षायिक – इन चार भावों को कर्मोपाधि में ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि दृष्टि का विषय इन चार भावों से भिन्न परमपारिणामिक-भावस्वरूप है। मात्र निर्मल पर्यायों से भिन्न या अभिन्न बतानेवाला कोई द्रव्यार्थिकनय नहीं है।

अध्यात्म ग्रन्थों में इन तीन शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय को शुद्धनिश्चयनय अथवा परमशुद्धनिश्चयनय के विषय के रूप में सैकड़ों जगह वर्णन करते हुए इसी के अनुभव की प्रेरणा दी गई है।

समयसार, गाथा 6 में आत्मा को प्रमत्त-अप्रमत्त भावों से रहित एवं नियमसार, गाथा 50 में औदयिक आदि चारों भावों से भिन्न कहकर एक ज्ञायकभाव को कर्मोपाधियों रहित बताया गया है। इसीप्रकार गाथा 14 में असंयुक्त तथा गाथा 73 में निर्ममत्व विशेषण से आत्मा को कर्मोपाधि रहित कहा गया है।

वर्तमान में प्रचलित प्राचीन भजनों में **जो निगोद में, सो ही मुझमें, सो ही मोख मँझार** आदि पंक्तियों में भी कर्मोपाधिनिरपेक्ष द्रव्यस्वभाव के ही गीत गाये गये हैं।

पर्याय में चाहे औदयिक भाव हों या क्षायिकभाव; अनन्त दुःख हो या अनन्त सुख; द्रव्यस्वभाव, ज्यों का त्यों, शुद्ध बुद्ध निरंजन रहता है – यही उसका कर्मोपाधिनिरपेक्ष स्वभाव है।

2. उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय

जो नय, उत्पाद-व्यय को गौण करके केवल सत्ता को ग्रहण करता है, उसे आगम में **उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष सत्ताग्राही शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय** कहते हैं।

यद्यपि सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कही गई है, तथापि द्रव्यांश/अंशी को उत्पाद-व्यय से रहित त्रिकाली ध्रुव के रूप में भी

देखा जाता है। उत्पाद-व्यय तो पर्यायगत धर्म हैं, परन्तु द्रव्यांश तो सदा वही का वही रहता है।

पर्यायों से भिन्न त्रिकाली ध्रुव तो पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों की मुख्य विशेषता है। मानो ध्रुव की धुन लगाने की प्रेरणा देने के लिए ही उनका भरतक्षेत्र में जन्म हुआ हो।

त्रिकाली ध्रुव की चर्चा इस युग में लुप्त-प्रायः थी, जिसका उद्योत पूज्य गुरुदेवश्री की मंगलवाणी में हुआ, अतः यह बात कुछ लोगों को नई लगती है, यह विचारधारा नया पन्थ-सा लगती है, परन्तु आगम के आलोक में विचार किया जाए तो यह नया पन्थ नहीं, अपितु जिनागम कथित मूल मार्ग है। यह द्रव्यार्थिकनय ही पर्यायों से पार त्रिकाली ध्रुव को लक्ष्य बनाने की प्रेरणा दे रहा है।

प्रत्येक पदार्थ सत्स्वरूप है और सत्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है अर्थात् सत् के ये तीन अंश हैं, जो परस्पर कथंचित् भिन्न हैं, इसलिए ध्रुव अंश भी उत्पाद-व्यय से कथंचित् भिन्न सिद्ध होता है; अतः यदि उत्पाद-व्यय को गौण करके सत्ता को देखा जाए तो द्रव्य मात्र ध्रुवरूप ही जाना जाता है और उसे जाननेवाला ज्ञान, उत्पाद-व्यय निरपेक्ष सत्ताग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहलाता है। यहाँ ध्रुव अंश में उत्पाद-व्यय को नहीं मिलाया है, इसलिए उसे शुद्ध कहा है।

श्री समयसार, गाथा 6 की टीका में ज्ञायकभाव को अनादि-अनन्त कहकर, इसी नय का प्रयोग किया है। अध्यात्म ग्रन्थों में कदम-कदम पर भगवान आत्मा को अनादि-अनन्त, नित्य, ध्रुव, शाश्वत अक्षय, जन्म-मरण से रहित आदि अनेक विशेषणों से समझाया गया है, जिनका आधार यह **उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष सत्ताग्राहक द्रव्यार्थिकनय** ही है।

3. भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय

जो नय, गुण-गुणी आदि चतुष्करूप (गुण-गुणी, स्वभाव-स्वभाववान्, पर्याय-पर्यायवान्, धर्म-धर्मी) अर्थ में भेद नहीं करता, वह **भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय** है।

भेद और अभेद - ये दोनों प्रत्येक वस्तु के धर्म हैं; अतः ये आत्मा के भी धर्म हैं। यदि भेद की मुख्यता से आत्मा को देखें तो वह गुण-गुणी आदि भेदरूप दिखाई देता है और अभेद को मुख्य करें तो वह समस्त प्रकार के भेदों से रहित एक चिन्मात्र भासित होता है। आत्मा की अनुभूति के लिए भेद का विकल्प तोड़कर, जिस अभेदस्वरूप के अवलम्बन की प्रेरणा दी जाती है, वह इसी नय का विषय है। यहाँ मात्र अभेद धर्म के अवलम्बन की बात नहीं है, अपितु गुण-पर्यायों के भेदों से रहित अभेदधर्मस्वरूप धर्मी अर्थात् अभेद द्रव्य के अवलम्बन की बात है।

दृष्टि के विषय में पर्याय के सम्बन्ध में यह नय कहता है कि भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय का अवलम्बन करने से द्रव्य, सर्वथा पर्यायरहित नहीं हो जाता, अपितु पर्याय, अभेद द्रव्य में अहं करके अपने को कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय और भेदकल्पना से रहित अनुभव करती हुई द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु को सार्थकता प्रदान करती है।

4. कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय

जो नय, सब रागादिभावों को जीव या जीव के कहता है, वह **कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष यदि शुद्धद्रव्यार्थिकनय, आत्मा को कर्मोपाधि से रहित देखता है तो कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, उसे कर्मोपाधि सहित देखता है। इस नय के प्रयोग से आत्मा को सर्वथा शुद्ध माननेवाले

सांख्यादि मतों का निराकरण हो जाता है। इस नय से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि औदयिक आदि चारों भावों में कर्मों का निमित्त होने पर भी ये आत्मा के ही परिणमन हैं, आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं; अतः पर्यायों की सापेक्षता से देखनेवाले नय को अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहा गया है।

प्रश्न – द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध रहता है, वह कभी अशुद्ध नहीं होता, मात्र पर्याय अशुद्ध होती है तो अशुद्धद्रव्यार्थिकनय मानना कैसे सम्भव है?

***उत्तर** – द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न नहीं हैं, अपितु एक ही वस्तु के दो अंश हैं। पर्याय से दृष्टि हटाकर द्रव्य में लगाने के प्रयोजन से इनमें भिन्नता की भाषा बोली जाती है कि द्रव्य शुद्ध/नित्य है और पर्याय अशुद्ध/अनित्य है। वास्तव में स्याद्वाद शैली में ऐसा कहना अधिक उपयुक्त है कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा शुद्ध/नित्य है और पर्यायदृष्टि से आत्मा अशुद्ध/अनित्य है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय एक ही वस्तु के दो विरुद्ध अंश हैं, जो वस्तु में अविरोधरूप से रहते हैं।*

जिनागम में पर्यायदृष्टि से ही आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा – ऐसे तीन भेद कहे हैं। समयसार जैसे शुद्धनय प्रधान ग्रन्थराज में भी आत्मा को अज्ञानी, मूढ़, मिथ्यादृष्टि, क्रोधी, मोही अथवा ज्ञानी आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। प्रवचनसार, गाथा 8 में शुभोपयोग, अशुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग में परिणमित आत्मा को ही शुभ, अशुभ या शुद्ध कहा गया है – ये सब **कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** के ही प्रयोग हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रागादिभाव तो पर्यायगत अशुद्धता है। पर्यायार्थिकनय के भेदों में भी कर्मोपाधि से रहित और सहित की अपेक्षा शुद्ध और अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहे जाएँगे। यहाँ तो आत्मा

को कर्मोपाधियों से भिन्न देखना या मिला हुआ देखना - यही उसकी शुद्धता और अशुद्धता का आधार है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा शुद्ध है, लेकिन पर्यायदृष्टि से वर्तमान में अशुद्ध है - मात्र इन विकल्पों से अथवा ऐसे निर्णय से आत्मानुभूति का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जो पर्याय, द्रव्य को शुद्ध देखती है अथवा शुद्धद्रव्य में अहं करती है, वह स्वयं अशुद्ध कैसे रह सकती है? पर्याय का स्वर ऐसा नहीं होता कि ***द्रव्य शुद्ध है,*** *अपितु वह द्रव्य में अहंपना स्थापित करके अपने को शुद्ध अनुभव करती है, उसके स्वर हो जाते हैं कि* ***मैं शुद्ध हूँ।*** *इस प्रक्रिया में सबसे बड़ी अशुद्धता अर्थात् मिथ्यात्व स्वयं विलीन हो जाता है और श्रद्धा की शुद्धता अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त होता है।*

एक दरिद्र कन्या, यदि सम्पन्न व्यक्ति का वरण करे तो उसकी अनुभूति ऐसी नहीं होती कि **मैं तो दरिद्र हूँ और मेरे पति सेठ हैं;** अपितु वह अपने पति में सर्वस्व समर्पण करती हुई स्वयं को सम्पन्न अनुभव करती है, जिसमें उसकी चिर-दरिद्रता भी विलीन हो जाती है।

उपर्युक्त अनुभूति होने पर जो सम्यक् प्रमाणज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें पर्यायगत रागादिक अवशेषों का भी यथार्थ ज्ञान होता है; तब द्रव्य और पर्याय, दोनों का जानना यथार्थ होता है।

प्रश्न - तो क्या अनुभूति से पहले द्रव्य शुद्ध है और पर्याय अशुद्ध है - ऐसा निर्णय करना मिथ्या है?

उत्तर - यद्यपि अनुभूति से पहले तो सभी ज्ञान मिथ्या ही हैं तथापि आगमाश्रित होने से कोई भी निर्णय मिथ्या नहीं है, इस आगमाश्रित निर्णय को आत्माश्रित निर्णय में उपर्युक्त आत्मानुभूति की प्रक्रिया से ही बदला जा सकता है।

इसप्रकार अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का यथार्थ निर्णय भी आत्मानुभूति में सहायक होता है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि आत्मा, वर्तमान में अशुद्ध है - यह कथन, मात्र पर्यायदृष्टि अथवा अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से ही सम्भव है। क्या शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषयभूत त्रिकाली द्रव्य, वर्तमान में विद्यमान नहीं है? यदि नहीं हो तो वह त्रिकाल अखण्डित कैसे रहेगा? अतः उत्पादरूप वर्तमान, ध्रुवरूप वर्तमान में अहं करे तो ही आत्मानुभूति का पुरुषार्थ सहज सम्पन्न हो जाता है। इसी ध्रुवरूप वर्तमान को **कारणशुद्धपर्याय** भी कहते हैं।

प्रश्न - पर्याय तो स्वतन्त्र सत् है। अपनी योग्यता से अपने षट् कारक से स्वयं शुद्धरूप परिणमित होती है; अतः उसे द्रव्य का आश्रय करना चाहिए या द्रव्य में अहंपना करना चाहिए - ऐसा कहकर, उसे द्रव्य के आधीन/पराधीन क्यों बनाया जाता है? वह अपने में ही अपना वैभव देखकर शुद्ध हो जाएगी?

उत्तर - द्रव्य और पर्याय, सर्वथा भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। पर्याय, द्रव्य की ही वृत्ति है, उसी का परिणमन है; अतः द्रव्य ही उसका स्व है, स्वामी है, अन्वय स्वरूप होने से उसमें ही व्याप्त है; इसलिए द्रव्य के आलम्बन को परालम्बन नहीं, अपितु पर्याय द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप का ही आलम्बन जानना चाहिए।

पर्याय को स्वतन्त्र सत् कहने का आशय यह है कि वह पर-पदार्थों के कारण उत्पन्न नहीं होती। त्रिकाली उपादान भी उसका सामान्य कारण है, समर्थ कारण नहीं। समर्थ कारण तो उसकी तत्समय की योग्यता ही है।

पर्याय, पर-पदार्थों का लक्ष्य करके विकाररूप परिणमन करती

है, परन्तु पर का लक्ष्य करने मात्र से वह पराधीन नहीं हो जाती, उसकी स्वतन्त्रता नष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि उसने अपनी तत्समय की योग्यता से पर का लक्ष्य किया है, पर के कारण नहीं। इसीप्रकार वह स्वद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता भी कब करे, कितनी करे? - इन सबमें भी वह स्वतन्त्र है। परिणामी द्रव्य का परिणमन होने पर भी वह त्रिकाली अपरिणामी ध्रुव, स्वभाव से निरपेक्ष है।

द्रव्य-स्वभाव में अहं करना, उस पर्याय का स्वभाव है। अहं और अहं का विषय, कथंचित् भिन्न होने पर भी अहं की अनुभूति में द्रव्य और पर्याय-सम्बन्धी भेद का या उसमें समर्पण का विकल्प ही नहीं होता, अतः पराधीनता का प्रश्न ही नहीं उठता; किन्तु जब अनुभूति की प्रक्रिया बताई जाएगी, तब भेद-कथन करते हुए यही कहा जाएगा कि पर्याय, द्रव्य का आलम्बन करती है। जबकि आलम्बन के काल में भी पर्याय, पर्याय रहती है और द्रव्य, द्रव्य रहता है। यही उसकी स्वतन्त्रता और निरपेक्षता है। द्रव्य में लीनता, पर्याय का स्वरूप है, पराधीनता नहीं। शुद्धपर्याय, अपने में ही अपना वैभव देखती है तो वह वैभव, उसके स्वामी द्रव्य का ही है, किसी और का नहीं। वह स्वयं तो वृत्ति है, अंश है, उसका स्वरूप ही द्रव्य में लीन होकर द्रव्य को व्यक्त करना है। इस सम्बन्ध में आदरणीय बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' का पुस्तकाकार लेख 'पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी और उनका जीवन-दर्शन' अथवा 'सम्यग्दर्शन और उसका विषय' अवश्य पठनीय है।

5. उत्पाद-व्ययसापेक्ष सत्ताग्राहक अशुद्धद्रव्यार्थिकनय

जो नय, उत्पाद-व्यय के साथ मिली हुई सत्ता को ग्रहण करता है, द्रव्य को एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप कहता है, वह **उत्पाद-व्ययसापेक्ष सत्ताग्राहक अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** है।

यद्यपि उत्पाद-व्यय, वस्तु का ही स्वभाव है। तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य का लक्षण 'सत्' और सत् का लक्षण 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' कहा गया है, तथापि एक सत् के तीन अंश होने से ये परस्पर कथंचित् भिन्न हैं, अन्यथा तीन अंश सिद्ध न होंगे। यहाँ ध्रुव अंश में उत्पाद-व्यय को मिलाकर देखा जा रहा है, इसलिए ध्रुव अंश या अंशी को अशुद्ध देखने के कारण इस नय को भी 'अशुद्धद्रव्यार्थिकनय' की संज्ञा दी गई है। इसीप्रकार जब उत्पाद-व्यय को भी ध्रुव के साथ देखा जाएगा तो भी अशुद्धता कही जाएगी, जो **सत्तासापेक्ष अशुद्धपर्यायार्थिकनय** का विषय होगा; जिसका वर्णन आगे किया जाएगा।

प्रश्न - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् - यह कथन किस नय का विषय बनेगा?

उत्तर - भाई! नय तो ज्ञाता या वक्ता के अभिप्राय में होते हैं, मात्र वाणी में नहीं; अतः किसे मुख्य किया जा रहा है और किसे गौण - इस आधार पर यह कथन भी प्रमाण या विवक्षित नय का माना जाएगा।

यदि हम अभेद सत् और उसके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - इन भेदों को बिना मुख्य-गौण किये कहना चाहेंगे तो उक्त कथन प्रमाण का होगा तथा यदि उत्पाद-व्यय सहित ध्रुव या सत्ता का कथन करना चाहेंगे तो यह कथन, उत्पाद-व्यय सापेक्ष सत्ताग्राहक अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का होगा, यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के भेदसहित सत् को मुख्य किया जाएगा तो यह भेद-कल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का कथन माना जाएगा।

6. भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय

जो नय, द्रव्य में गुण-गुणी आदि का भेद करके, उनके साथ सम्बन्ध कराता है, वह भेद-कल्पना से सहित होने से भेदकल्पना-सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक नय है अर्थात् अखण्ड सत् को गुण-गुणी,

धर्म-धर्मी आदि के भेदसहित देखनेवाला ज्ञान, **भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** है।

आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्रवाला कहना या उपयोग लक्षणवाला कहना - ये सभी प्रयोग, भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के हैं। समयसार, गाथा 7 में आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र का भेद कहना व्यवहार कहा गया है। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय के सामने व्यवहार हो जाता है, क्योंकि उसके विषय का आलम्बन छोड़ना है।

आत्मा को कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय और भेदकल्पनासापेक्ष देखना, अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहकर, इन्हें ज्ञान में गौण करके इनसे दृष्टि हटाकर, कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय और भेद-कल्पना - इन तीनों से निरपेक्ष द्रव्य को मुख्य करके इसी में अहंपना स्थापित करना सम्यग्दर्शन है।

इसप्रकार ये छहों नय, अस्ति और नास्ति से दृष्टि के विषय को स्पष्ट करते हैं अर्थात् कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय और भेदकल्पना दृष्टि का विषय नहीं है अथवा ये तीनों दृष्टि के विषय में नहीं हैं, वह तो चार भावों से रहित परमपारिणामिकभावस्वरूप, ध्रुव और अभेद है।

जिनागम में दृष्टि के विषय को स्पष्ट करने के लिए उसके कारणपरमात्मा, कारणसमयसार, शुद्ध चिद्रूप, परमानन्दस्वरूप, अभेद, नित्य, एक, अखण्ड, सामान्य, ज्ञायकभाव आदि अनेक विशेषण कहे गए हैं। वस्तुतः अनुभूति में इन विशेषणों सम्बन्धी विकल्प भी नहीं होते, मात्र चिन्मात्रस्वरूप का वेदन होता है।

प्रश्न - कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय और भेदकल्पना, वस्तु के पर्यायांश में होते हैं, द्रव्यांश में नहीं; अतः इन्हें विषय बनानेवाला नय पर्यायार्थिक होना चाहिए, उसे द्रव्यार्थिकनय के भेदों में शामिल क्यों किया गया है?

उत्तर - यद्यपि उक्त विशेषण पर्यायगत हैं, तथापि यहाँ पर्याय को

मुख्य नहीं किया जा रहा है। यहाँ तो उक्त तीन विशेषताओं वाले द्रव्य को मुख्य किया जा रहा है। जैसे, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, परन्तु जब मुनिराज की बात करें तो उनका आत्मा, रत्नत्रय से विभूषित देखा जाता है और यहाँ रत्नत्रय-पर्याय नहीं, अपितु रत्नत्रययुक्त आत्मा को मुख्य किया जाता है। सुन्दर आभूषणों की चर्चा करना अलग बात है और आभूषण पहनी हुई महिला की सुन्दरता की चर्चा करना अलग बात है। इसीप्रकार मात्र पर्यायों की चर्चा करना अलग बात है और पर्याय-सापेक्ष या पर्याय-निरपेक्ष, द्रव्य की चर्चा करना अलग बात है।

द्रव्यस्वभाव को और अधिक गहराई से स्पष्ट करने हेतु उक्त छह नयों के अतिरिक्त चार नय और कहे गए हैं, जो इसप्रकार हैं -

7. **अन्वय द्रव्यार्थिकनय** - जो नय, समस्त स्वभावों में यह द्रव्य है - इसप्रकार अन्वयरूप से द्रव्य की स्थापना करता है, वह **अन्वय द्रव्यार्थिकनय** है।

श्री प्रवचनसार, गाथा 80 की टीका में अर्हन्त भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानने के प्रसंग में द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **अन्वय सो द्रव्य है, अन्वय के विशेषण, गुण हैं और अन्वय के व्यतिरेक, पर्यायें हैं।** वहाँ सफेद मोतियों के हार में व्याप्त धागे के उदाहरण से अन्वयस्वरूप द्रव्यांश का स्वरूप समझाया गया है।

आत्मा में अनन्त स्वभाव हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनन्त गुण, जीवत्व, चिति आदि अनन्त शक्तियाँ और अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त धर्म - ये सभी आत्मा के स्वभाव अर्थात् स्वयं के भाव हैं। इन सभी स्वभावों में आत्मा ही व्याप्त है, विद्यमान है, व्यापक है; अन्यथा ये आत्मा के स्वभाव कैसे कहे जा सकेंगे? जिसमें जो व्याप्त

हो, वह उसी का कहा जाता है; पीलेपन में यदि सोना व्याप्त हो तो वह सोने का गुण कहा जाएगा और यदि पीतल व्याप्त होगा तो वह पीतल का गुण कहा जाएगा।

अनन्त स्वभावों में द्रव्य की यह व्यापकता ही अन्वय कहलाती है। यह अन्वयपना द्रव्य का ही स्वरूप है; अतः द्रव्य को उसके अन्वय स्वरूप में देखना ही **अन्वय द्रव्यार्थिकनय** है।

आत्मा को ज्ञानानन्दस्वभावी कहना भी अन्वय द्रव्यार्थिकनय का प्रयोग कहा जा सकता है, क्योंकि इस कथन में मात्र ज्ञान और आनन्द स्वभाव की मुख्यता नहीं है; अपितु ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त स्वभावों में व्याप्त आत्मा को ही ज्ञान और आनन्द की सापेक्षता से बताया जा रहा है।

इसप्रकार अनन्त स्वभावों में विद्यमान अखण्ड अभेद वस्तु को उसके किसी एक या एकाधिक स्वभावों के द्वारा जाननेवाला नय अन्वय द्रव्यार्थिकनय है, क्योंकि अनन्त स्वभावों का कथन असम्भव होने से उसके एकाधिक स्वभावों के कथन द्वारा अनन्त स्वभावों में व्याप्त आत्मा को ग्रहण करना इस नय का काम है।

श्रुतभवनदीपक नयचक्र, द्वितीय अध्याय, श्लोक 9, पृष्ठ 44 पर इस नय के अन्तर्गत स्वभावों के स्थान पर पर्यायों (व्यतिरेक) में अन्वय करने का निर्देश किया है। वे लिखते हैं –

यः पर्यायादिवान् द्रव्यं ब्रूते त्वन्वयरूपतः।
द्रव्यार्थिकः सोऽन्वयाख्यः प्रोच्यते नयवेदिभिः।।9।।

अर्थात् जो नय, पर्याय आदि का अन्वय देखकर, उन्हें द्रव्य कहता है; उसे नयों के वेत्ताओं के द्वारा **अन्वय द्रव्यार्थिकनय** कहा गया है।

यही कारण है कि प्रवचनसार, गाथा 80 की टीका में पर्यायों को अन्वय के व्यतिरेक कहकर, उनका अन्वय करने की बात कही गई है। अन्वय को दो तरह से व्याख्यायित किया जाता है - तिर्यक्सामान्य एवं ऊर्ध्वतासामान्य। तिर्यक्सामान्य, जहाँ गुणों एवं प्रदेशों के अन्वय स्वरूप है, वहीं ऊर्ध्वतासामान्य, पर्यायों के अन्वय स्वरूप है।

8. स्व-द्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय - जो नय, स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव में सत् द्रव्य (अस्तित्व) को ग्रहण करता है, वह **स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय** है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ को सत् कहकर इसी नय का प्रयोग किया है। प्रत्येक पदार्थ, अपने स्व-चतुष्टय में ही विद्यमान रहता है, उसी में उसकी सत्ता है, अस्तित्व है, वही उसका स्वरूप है।

स्व-चतुष्टय में विद्यमान सत्ता की मुख्यता से ही **सत् द्रव्यलक्षणम्** कहकर इस नय का प्रयोग किया गया है। सप्त भंग में प्रथम भंग **स्याद् अस्तित्व** या **स्याद् अस्ति** धर्म आदि के रूप में भी यह 'सत्' धर्म ही कहा जाता है।

ध्यान रहे, यहाँ पदार्थ के अस्तित्वरूप 'सत्' धर्म की बात है, धर्म के दशलक्षणों में समागत **उत्तम सत्य धर्म** की नहीं। यह बात अवश्य है कि स्व-चतुष्टयरूप धर्म, वस्तु के स्वभावरूप पारिणामिकभाव हैं और उत्तम सत्य धर्म इसी स्वरूप-सत् की अनुभूति लक्षण उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभाव हैं।

स्वरूप-चतुष्टय में समागत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की विस्तृत चर्चा, द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय, अध्याय 12 में की गई है।

9. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय - जो नय परद्रव्य, परक्षेत्र,

परकाल और परभाव की अपेक्षा असत् द्रव्य (नास्तित्व) को ग्रहण करता है, वह **परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय** है।

यद्यपि इस नय का नाम पर-द्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहा गया है, जिससे ऐसा लग सकता है कि यह नय, स्व से भिन्न परद्रव्यों के अस्तित्व को बतानेवाला है, किन्तु इसकी परिभाषा से स्पष्ट है कि यह परद्रव्यों को नहीं, अपितु स्वद्रव्य में त्रिकाल विद्यमान अस्तित्व धर्म के समान परद्रव्यों के नास्तित्वरूप त्रिकाल विद्यमान धर्म का ज्ञान कराता है, पर की अपेक्षा तो मात्र इसे समझाने के लिए कही है; अतः इसे परद्रव्यादि की अपेक्षा असत्ताग्राहक द्रव्यार्थिकनय भी कहा जा सकता है।

जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त में ही यह साहस है कि वह एक ही वस्तु को सत् और असत्रूप घोषित करता है। अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न होने से ये परस्पर विरोधी धर्म, वस्तु में अविरोधरूप से एक साथ रहते हैं।

आचार्य समन्तभद्र, इन विरोधी धर्मों की अपेक्षाएँ स्पष्ट करते हुए इन्हें स्वीकार न करनेवालों को सर्वथा एकान्तवादी घोषित करते हुए आप्तमीमांसा में लिखते हैं -

सदेव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।।

अर्थात् सर्व वस्तुओं को स्वरूप-चतुष्टय की अपेक्षा 'सत्' कौन स्वीकार नहीं करेगा तथा विपरीत में पर-चतुष्टय की अपेक्षा उसे ही 'असत्' कौन स्वीकार नहीं करेगा। यदि ऐसा नहीं माना जाता तो वस्तु-व्यवस्था कुछ भी नहीं बन सकती है।

इसी सत्-असत् धर्म को ही अस्ति-नास्ति धर्म कहकर, अस्ति-नास्ति को धर्म-युगल कहा जाता है तथा सप्तभंगी में इस धर्म-युगल

सम्बन्धी सात भंगों की चर्चा की जाती है, जिसमें दूसरा भंग अथवा धर्म 'स्यात् नास्ति' इसी परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय का विषय बनता है। जिसप्रकार सप्तभंगी में प्रथम दो भंग, उक्त 'स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय' एवं 'परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय' पर आश्रित हैं, उसीप्रकार यद्यपि शेष पाँच भंगों को विषय बनानेवाले नयों के आधार पर भी द्रव्यार्थिकनय के भेद किये जा सकते हैं, तथापि यहाँ संक्षिप्त शैली में द्रव्य का स्वरूप अस्तित्व और नास्तित्वधर्म द्वारा ही स्पष्ट किया है, अतः मात्र इन दो धर्मों के ग्राहक नयों का ही उल्लेख किया है। शेष पाँच बोलों की चर्चा सप्तभंगी में की ही गई है।

वृहद्नयचक्र में द्रव्य के अस्तिस्वभाव और नास्तिस्वभाव को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

अस्तिस्वभावं द्रव्यं, सद्द्रव्यादिषु ग्राहकनयेन।
तदपि च नास्तिस्वभावं, परद्रव्यादिग्राहकेण।।

अर्थात् स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य, अस्तिस्वभाववाला है तथा परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से नास्तिस्वभाववाला है।

ये सत्-असत्, भाव-अभाव या अस्ति-नास्ति प्रत्येक द्रव्य के स्वभाव, धर्म या शक्तियाँ हैं। यद्यपि इन्हें गुण न कहकर धर्म या स्वभाव कहने की परम्परा है, तथापि सामान्य गुणों में सबसे पहले अस्तित्व गुण की ही चर्चा आती है। गहराई से विचार किया जाए तो छह सामान्य गुण, वस्तु के धर्म या स्वभाव हैं तथा इन रूपों में पदार्थ का होना, यही उनका परिणमन है - ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञान-दर्शनादि या रूप-रसादि विशेष गुणों के समान इनमें विविध उत्पाद-व्ययरूप अवस्थाएँ ख्याल में नहीं आतीं। चूँकि सामान्य गुणों में स्वभाव-विभाव अथवा शुद्ध-अशुद्धरूप परिणमन नहीं होता - यही कारण है कि इनको विषय बनानेवाले स्वद्रव्यादिग्राहक या परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनयों के शुद्ध-

अशुद्ध भेद नहीं किये गये हैं।

गुण, धर्म, शक्ति या स्वभाव के सम्बन्ध में विशेष चर्चा, इसी अध्याय में आगे की गई है।

आलापपद्धति, पृष्ठ 220 पर अस्तित्व और नास्तित्व को इसप्रकार परिभाषित किया गया है -

स्वभाव के लाभ से च्युत नहीं होने से द्रव्य, अस्तिस्वभाववाला है तथा परस्वरूप नहीं होने से नास्तिस्वभाववाला है।

यह नास्तित्व धर्म भी प्रत्येक वस्तु में अस्तिरूप से विद्यमान है, परन्तु इसका स्वभाव या कार्य, वस्तु को उससे भिन्न, अन्य वस्तुरूप नहीं होने देना है अर्थात् वस्तु के पर-प्रवेश को पूर्णतया प्रतिबन्धित करना है, इसलिए इसका नाम नास्तित्व धर्म सार्थक है। इसका स्वरूप किसी भी राष्ट्र के विदेशमन्त्री जैसा है, जो अन्य मन्त्रियों की भाँति उसी देश का नागरिक होने पर भी विदेश-सम्बन्धी प्रकरणों को देखता है, इसलिए वह पूर्णतया स्वदेशी होने पर भी विदेशमन्त्री कहलाता है।

विदेशमन्त्री के समान नास्तित्व नाम होने के साथ-साथ इसका कार्य रक्षामन्त्री जैसा भी है। जिसप्रकार गृह-मन्त्रालय देश की कानून-व्यवस्था कायम रखकर, आन्तरिक सुरक्षा को सुनिश्चित करता है और रक्षा-मन्त्रालय किसी अन्य राष्ट्र को अपने भीतर प्रवेश नहीं करने देता; उसीप्रकार अस्तित्व धर्म, वस्तु को स्व-चतुष्टय में सुरक्षित रखता है और नास्तित्व धर्म, वस्तु को पर-चतुष्टय में प्रवेश से बचाकर उसकी सुरक्षा करता है।

पर-प्रवेश का निषेधक यह नास्तित्व धर्म ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अत्यन्त अभाव बताता है।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि आत्मा की शरीरादि में नास्ति

को आत्मा का नास्तित्व माना जाए या शरीरादि की आत्मा में नास्ति को आत्मा का नास्तित्व धर्म कहा जाए? वस्तुतः दोनों की ही एक-दूसरे में नास्ति है, अत्यन्त अभाव है, परन्तु एक वस्तु का दूसरी वस्तु में न होना ही उसका न + अस्तित्व है; अतः आत्मा में शरीर का न होना, शरीर का नास्तित्व है, जो शरीर को आत्मारूप नहीं होने देता और शरीर में आत्मा का न होना, आत्मा का नास्तित्व धर्म है, जो आत्मा को शरीररूप नहीं होने देता। इसप्रकार दोनों द्रव्यों के नास्तित्व धर्म अपने-अपने द्रव्य को अन्य द्रव्यरूप नहीं होने देकर उन्हें सुरक्षित रखते हैं।

नास्तित्व धर्म का स्वरूप समझने में परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा आती है, इसीलिए इसे जाननेवाले ज्ञान को परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है।

10. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय

जो नय, शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित स्वभाव से रहित द्रव्यस्वभाव (परम स्वभाव) को ग्रहण करता है, वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय है। सिद्धि की कामना रखनेवालों को उसे अच्छी तरह जानना चाहिए।

आलाप-पद्धति, पृष्ठ 213 पर आत्मा के 11 सामान्य स्वभाव और 10 विशेष स्वभाव बताए गए हैं, जो इसप्रकार हैं -

1. अस्तिस्वभाव, 2. नास्तिस्वभाव, 3. नित्यस्वभाव, 4. अनित्य-स्वभाव, 5. एकस्वभाव, 6. अनेकस्वभाव, 7. भेदस्वभाव, 8. अभेद-स्वभाव, 9. भव्यस्वभाव, 10. अभव्यस्वभाव और 11. परमस्वभाव - ये ग्यारह सामान्य स्वभाव हैं।

1. चेतनस्वभाव, 2. अचेतनस्वभाव, 3. मूर्तस्वभाव, 4. अमूर्त-

स्वभाव, 5. एकप्रदेशस्वभाव, 6. अनेकप्रदेशस्वभाव, 7. विभावस्वभाव, 8. शुद्धस्वभाव, 9. अशुद्धस्वभाव और 10. उपचरितस्वभाव – ये दश विशेष स्वभाव हैं।

उपर्युक्त ग्यारह सामान्य स्वभावों में अन्तिम **परमस्वभाव** ही इस परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का विषय है, जिसे विशेष स्वभावों में समागत शुद्ध, अशुद्ध और उपचरितस्वभाव से रहित परिभाषित किया गया है।

आलापपद्धति, पृष्ठ 224 पर शुद्ध, अशुद्ध और उपचरितस्वभाव को ग्रहण करनेवाले नयों को इसप्रकार स्पष्ट किया है –

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से शुद्धस्वभाव है, अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से अशुद्धस्वभाव है और असद्भूतव्यवहारनय से उपचरितस्वभाव है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह परमस्वभाव, शुद्ध और अशुद्ध के भेद से भी रहित कहा गया है, जिसे अन्यत्र प्रमत्त और अप्रमत्त भावों से रहित या चार भावों से भिन्न कहा गया है। इस परमभाव को जाननेवाला यह नय कहा गया है। आत्मा में शुद्धता है या नहीं? अथवा अशुद्धता है या नहीं? तथा उसका अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध है या नहीं? – इन सभी प्रश्नों का उत्तर देने वाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय, अशुद्धद्रव्यार्थिकनय तथा असद्भूतव्यवहारनय हैं, परन्तु यह नय तो अपने विषय में ऐसे प्रश्न ही खड़े नहीं होने देता। यह तो इन सभी विकल्पों को विलीन करता हुआ निर्विकल्प अखण्ड चिन्मात्र वस्तु को ग्रहण करता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अब प्रश्नोत्तर की भूमिका से भी ऊपर उठकर निर्विकल्प वस्तु मात्र का निर्विकल्प आस्वादन करो....। इसीलिए उन्होंने **सिद्धि-कामियों द्वारा यह जानने योग्य है** – ऐसा

कहकर इसकी महिमा प्रगट की है।

संयोग एवं सापेक्षता-निरपेक्षता के विकल्पों से पार यह परमभाव ही परमपारिणामिकभावरूप द्रव्यस्वभाव है। इसकी प्राप्ति को ही निर्वाण निरूपित करते हुए द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 413 में कहा है - **जिन शासन में इस परमपारिणामिकभाव को ही परमपद और सारभूत कहा गया है, यही अविनाशी तत्त्व है, इसके लाभ को ही निर्वाण कहते हैं।**

इसे जानने की अनिवार्यता स्पष्ट करते हुए गाथा 374 में कहते हैं - **जब तक जीव का अपने इस परमस्वभाव में श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं है; तब तक वह मूढ़ अज्ञानी, संसार-समुद्र में भटकता है।**

प्रश्न - यदि यह परमभाव ही श्रद्धेय, ज्ञेय और ध्येय है तो क्या शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषयभूत कर्मोपाधिरहित, उत्पाद-व्ययरहित और भेद-कल्पनानिरपेक्ष द्रव्य आश्रयभूत नहीं है? इन तीन नयों का वर्णन करते समय तो इनके विषयभूत द्रव्य को आश्रय करने योग्य कहा गया था?

उत्तर - जो परमभाव है, वह कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय और भेदकल्पना से भिन्न ही है, परन्तु वे उसमें हैं या नहीं? - ऐसे विकल्पों से भी अथवा द्रव्य-स्वभाव के अन्य विशेषणों सम्बन्धी विकल्पों से आत्मानुभूति नहीं होती, इसलिए वे 'हैं' या 'नहीं' के विकल्पों से पार शुद्ध चैतन्यघन को परमभाव कहकर, उसे परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा है। नय का भेद होने पर भी इसे पक्षातिक्रान्त भी कहा जा सकता है।

आचार्य जयसेन, इसी परमभाव को शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय

निरूपित करते हुए समयसार, गाथा 320 की टीका में कहते हैं -

औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिकभाव तो पर्यायरूप हैं, एक शुद्ध (परम) पारिणामिकभाव ही द्रव्यरूप है। पदार्थ, परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्यायरूप है। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इन तीन पारिणामिक भावों में शुद्ध जीवत्वशक्ति लक्षणवाला (परम) पारिणामिकभाव, शुद्ध (परमभावग्राहक) द्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है तथा शुद्ध (परम) पारिणामिकभाव के नाम से जाना जाता है। वह बन्ध-मोक्षरूप पर्याय से रहित है।

परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय को ही निश्चय-व्यवहार के प्रकरण में परमशुद्धनिश्चयनय का विषय कहा है; अतः ये परमशुद्धनिश्चयनय एवं परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय नयाधिराज हैं।

चाहे निश्चय-व्यवहारनयों का प्रकरण हो या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों का प्रकरण हो, प्रयोजन तो द्रव्य-पर्यायात्मक स्व-ज्ञेय को जानकर, परम उपादेयभूत शुद्धात्मतत्त्व का अवलम्बन करके, सादि-अनन्त शाश्वत सिद्धदशा प्रगट करने का ही है।

क्या अन्वयादि चार नयों की शुद्ध/अशुद्ध संज्ञा सम्भव है?

यहाँ तीन प्रकार के शुद्ध एवं तीन प्रकार के अशुद्धद्रव्यार्थिकनय तथा अन्वयादि चार द्रव्यार्थिकनयों का संक्षिप्त विवेचन किया गया। यद्यपि अन्वयादि चार द्रव्यार्थिकनयों का शुद्धता और अशुद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ने अन्वय द्रव्यार्थिकनय एवं परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय को अशुद्ध एवं स्वद्रव्यादिग्राहक एवं परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय को शुद्ध के भेदों में शामिल करके 5 शुद्धद्रव्यार्थिकनय एवं 5 अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहे हैं।[1]

1. नय-दर्पण, पृष्ठ 366-368

वर्णीजी ने उक्त चारों नयों को शुद्ध-अशुद्ध संज्ञा देते हुए उनके नामकरण भी इसप्रकार किये हैं –

1. स्वद्रव्यादिचतुष्टयग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय।
2. परद्रव्यादिचतुष्टयविच्छेदक अशुद्धद्रव्यार्थिकनय।
3. परमपारिणामिकभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय।
4. गुण व त्रिकालवर्ती पर्यायों में अनुगत पिण्ड अन्वय नामवाला अशुद्धद्रव्यार्थिकनय।

इन चार नयों में कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय तथा भेदकल्पना से निरपेक्षता या सापेक्षता का कोई प्रसंग नहीं है, अतः नयचक्रों में इन्हें शुद्ध या अशुद्ध नहीं कहा है। परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 218-219 पर डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने इस प्रकरण पर विशेष प्रकाश डाला है।

श्री जिनेन्द्र वर्णी जैसे गहन चिन्तक विद्वान् की, इन चार नयों को दो युगल में शुद्ध-अशुद्ध कहने की अपेक्षा इसप्रकार हो सकती है –

1. अन्वय द्रव्यार्थिकनय – गुण-पर्यायों में व्याप्त अन्वयरूप द्रव्य, इस नय का विषय है। गुण और पर्यायें, विशेषणरूप और व्यतिरेकरूप होने से अन्वय से कथंचित् भिन्न हैं; अतः अन्वय को उससे भिन्न अंशों की सापेक्षता से देखा जाना, यही अशुद्धता है। उत्पाद-व्यय से सापेक्षता को अशुद्ध कहने के समान इसे भी अशुद्ध कहना अनुचित नहीं है।

2. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय – यह नय, द्रव्यांश को उसके स्वचतुष्टय में व्याप्त देखता है, क्योंकि स्वचतुष्टय ही वस्तु का निज वास्तविक स्वरूप है; अतः इसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के भेदों में सम्मिलित करना अनुचित नहीं लगता।

3. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय – यह नय, वस्तु का उससे भिन्न पदार्थों की अपेक्षा नास्तित्व देखता है, इसमें भी पर-पदार्थों की

अपेक्षा आ जाती है; वस्तु का स्वरूप दर्शाते समय किसी भी प्रकार से पर-पदार्थ का आश्रय लेना, दृष्टि की अशुद्धता है, अतः इसे अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहना अनुचित नहीं लगता है।

4. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय – वस्तु का त्रैकालिक अखण्ड द्रव्य, शुद्ध-अशुद्ध की कल्पना से रहित त्रिकाल शुद्ध है, यही परमभाव है; अतः त्रैकालिक शुद्धता की अपेक्षा इसे ग्रहण करनेवाले नय को शुद्धद्रव्यार्थिक कहना भी अनुचित नहीं लगता है।

इन चार नयों को शुद्ध/अशुद्ध कहना या नहीं – इस बात पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं, परन्तु यह बात तो सर्वमान्य है कि ये नय, वस्तु के द्रव्यांश को अधिक गहराई से स्पष्ट करते हैं, जिसे समझने से उसका अवलम्बन लेकर स्वानुभूति-सुधा का पान करने में सरलता हो जाती है।

प्रश्न – अस्ति-नास्ति स्वभाव की चर्चा करते समय संकेत किया गया था कि गुण, शक्ति, स्वभाव और धर्म की चर्चा इस प्रकरण के अन्त में करेंगे। कृपया इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण दीजिए।

उत्तर – द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप पदार्थ में जो भाव है, वही वस्तु का स्व-भाव है। यह स्वभाव ही गुण, शक्ति या धर्मरूप होता है; अतः ये तीनों ही वस्तु के **स्वभाव** हैं।

यद्यपि **वत्थु सहावो धम्मो** इस सूक्ति के अनुसार गुण, शक्ति, स्वभाव आदि सभी को धर्म संज्ञा दी जा सकती है, तथापि जब गुण और धर्म की चर्चा करते हैं तो गुणों से आशय अस्तित्वादि सामान्य गुण तथा चेतन/अचेतन आदि विशेष गुणों से और धर्म से आशय अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध स्वभावी धर्मों से होता है। गुणों के समान ये धर्मयुगल भी अनन्त होते हैं। गम्भीरता से विचार किया जाये तो इनमें निम्न अन्तर स्पष्ट प्रतीत होते हैं –

1. गुणों की पर्यायें होती हैं, धर्मों की नहीं –

गुणों में उत्पाद-व्ययरूप परिणमन होता है, अतः प्रतिसमय नई-नई अवस्था उत्पन्न होती है, जिसे पर्याय कहते हैं। धर्मों में गुणों के समान उत्पाद-व्ययरूप अवस्था नहीं देखी जाती, वे वस्तु में सापेक्ष योग्यतारूप होते हैं।

2. गुण, परस्पर विरोधी नहीं होते, जबकि धर्म परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं –

गुणों के स्वरूप में परस्पर विरोध नहीं होता। ज्ञान-दर्शन-वीर्यादि गुणों का स्वरूप परस्पर भिन्न तो है, परन्तु विरोधी नहीं, जबकि अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य आदि धर्मों में परस्पर भिन्नता तो है ही, उनके स्वरूप में परस्पर विरोध भी प्रतीत होता है।

3. गुण, निरपेक्ष होते हैं और धर्म, सापेक्ष होते हैं –

निरपेक्षता से आशय यह है कि गुण, द्रव्य के स्वभावरूप से उनमें त्रिकाल विद्यमान रहते हैं। उनके होने में द्रव्य या पर्याय की अपेक्षा लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। जैसे, ज्ञान-दर्शन आदि गुण, द्रव्य की अपेक्षा हैं या पर्याय की – ऐसा कोई प्रश्न खड़ा नहीं होता; परन्तु धर्मों का स्वरूप परस्पर सापेक्ष होता है। वस्तु की नित्यता द्रव्य की अपेक्षा और वस्तु की अनित्यता पर्याय की अपेक्षा रखती है। इसीप्रकार प्रायः प्रत्येक धर्म-युगल में एक धर्म, द्रव्य की अपेक्षा और दूसरा धर्म, पर्याय की अपेक्षा सम्भव होता है। हाँ, अस्ति-नास्ति धर्म-युगल में द्रव्य-पर्याय के बदले स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा लागू होती है। अपेक्षा के बिना धर्म का स्वरूप न सम्भव है और न समझा या समझाया जा सकता है, जबकि गुणों और शक्तियों में ऐसी कोई बात नहीं होती।

अनेकान्तमय धर्मों का स्वरूप परस्पर विरोधी होने से ही वस्तु का स्वरूप कहा जाता है। परस्पर विरोधी धर्मों का भिन्न-भिन्न

अपेक्षा से वस्तु में अविरोध से रहना – यही अनेकान्त है, जिसे स्याद्वाद के द्वारा समझा/समझाया जाता है।

इसप्रकार यद्यपि गुण एवं धर्मों में अन्तर स्पष्ट किया है, तथापि गुणों की परिभाषा और स्वरूप, जो जिनागम में अनेक स्थलों पर स्पष्ट किया है कि गुण, द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और उसकी सम्पूर्ण अवस्था में रहते हैं, लेकिन यह विशेषता तो धर्मों और शक्तियों में भी होती है। अस्तित्व और नास्तित्व धर्म भी द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और सम्पूर्ण अवस्थाओं में पाये जाते हैं।

विशेष बात यह है कि नित्य-अनित्य धर्म, द्रव्य-पर्याय सापेक्ष होने पर भी सम्पूर्ण वस्तु, द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य कही जाती है – इस बिन्दु पर गम्भीरता सें विचार करना आवश्यक है।

यहाँ तो गुण, धर्म एवं शक्ति के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है। प्रवचनसार गाथा 80 की टीका में द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप में स्पष्ट करते हुए कहा है – **अन्वय, वह द्रव्य है; अन्वय के विशेषण, वे गुण हैं तथा अन्वय के व्यतिरेक, वे पर्यायें हैं।**

उक्त परिभाषा से गुणों का स्वरूप स्पष्ट होता है कि वे द्रव्य के विशेषण हैं। जैसे एक मनुष्य में ईमानदारी, सरलता, बुद्धिमत्ता आदि अनेक विशेषताएँ होती हैं; वैसे एक द्रव्य में अस्तित्व, वस्तुत्व तथा चेतन/अचेतन आदि अनन्त विशेषताएँ त्रिकाल विद्यमान रहती हैं। इन्हें ही गुण शब्द से जाना जाता है। गुण के लिए अँग्रेजी का *क्वालिटी* (Quality) शब्द उपयुक्त है।

'धर्म' शब्द से वस्तु में विद्यमान सापेक्षिक योग्यताओं को जाना जाता है। यद्यपि ये भी वस्तु में त्रिकाल विद्यमान रहते हैं, तथापि इन्हें अपेक्षा के बिना नहीं समझा जा सकता। जैसे, एक व्यक्ति में ईमानदारी

आदि तो गुण हैं, परन्तु छोटा/बड़ा, लम्बा/ठिगना, मोटा/पतला आदि विशेषताएँ किसी अपेक्षा से ही कही जा सकती हैं। अपने से अधिक उम्रवाले की अपेक्षा उसे छोटा तथा कम उम्रवाले की अपेक्षा उसे बड़ा कह सकते हैं। अपेक्षा लगाए बिना उसे छोटा/बड़ा आदि नहीं कह सकते। इसप्रकार पदार्थ की सापेक्ष विशेषताओं को धर्म शब्द से कहा जाता है।

इसीप्रकार द्रव्य या गुणों की सामर्थ्य, क्षमता या ताकत कितनी है - इसका बोध शक्तियों के द्वारा होता है। ज्ञान, आत्मा का गुण है तथा इस गुण में अपना कार्य करने की जो उत्कृष्ट सामर्थ्य है, वही इसकी शक्ति है। अँग्रेजी के 'पावर' शब्द से शक्ति को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

प्रश्न - ज्ञान, दर्शन, सुख आदि आत्मा के गुण भी हैं और 47 शक्तियों में भी इनके नाम आते हैं। इसीप्रकार अस्तित्व गुण भी है तथा अस्तित्व-नास्तित्व धर्म में भी अस्तित्व कहा है। अतः इनके स्वरूप को भिन्न-भिन्न कैसे समझा जाए?

उत्तर - गहराई से विचार किया जाए तो एक ही भाव में गुण, शक्ति और धर्मपना घटित किये जा सकते हैं। एक व्यक्ति गाना जानता है तो गाना उसका गुण है, कितनी देर गा सकता है - यह उसकी शक्ति है तथा बहुत अच्छा गायक है या साधारण - यह दूसरों से तुलना करके ही जाना जाएगा, अतः गाने की प्रथम श्रेणी या द्वितीय श्रेणी, उसके सापेक्षिक धर्म कहे जाएँगे।

इसीप्रकार ज्ञान आत्मा की खूबी/विशेषता होने से गुण है। अनन्त ज्ञेयों को जानने की क्षमता, उसकी शक्ति है तथा कम या अधिक ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा उसे हीन या अधिक कहना धर्म

कहा जा सकता है। ज्ञानमात्र स्वरूप की अपेक्षा उसमें एकत्व धर्म तथा अनेक ज्ञेयाकाररूप होने की अपेक्षा उसमें अनेकत्व धर्म भी कहा जा सकता है। इसीप्रकार अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्म, ज्ञान में भी घटित किये जा सकते हैं।

प्रश्न – एक द्रव्य के एक गुण में दूसरा गुण नहीं होता, परन्तु उसमें अन्य गुणों का रूप होता है – इस कथन का क्या आशय है?

उत्तर – एक द्रव्य के गुणों में परस्पर कथंचित् भिन्नता तो होना ही चाहिए, अन्यथा अनन्त गुण कैसे सम्भव होंगे? प्रत्येक गुण का स्वरूप, अन्य गुणों से भिन्न होता है, तभी वह अपनी भिन्न पहचान रखता है। अस्तित्व और ज्ञानगुण भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु अस्तित्व में ज्ञान का भी रूप (स्वरूप नहीं) है, अन्यथा आत्मा का अस्तित्व अचेतन हो जाएगा। ज्ञान में भी अस्तित्व का रूप है (स्वरूप नहीं), अन्यथा ज्ञान, अस्तित्वरहित होने से उसमें शून्यत्व का प्रसंग आएगा। एक गुण में दूसरे गुणों के रूप की चर्चा पण्डित श्री दीपचन्दजी शाह कासलीवाल कृत चिद्विलास आदि ग्रन्थों में तथा पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों में भी विस्तार से प्राप्त होती है।

इसप्रकार यहाँ वस्तु-स्वरूप को गहराई से समझने के लिए गुण, शक्ति और धर्म के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार किया गया है। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों से इनका विस्तृत स्वरूप जाना जा सकता है। बुद्धि की क्षमता के अनुसार ही विस्तार में जाना उचित है, अन्यथा हम उलझ भी सकते हैं, भ्रमित भी हो सकते हैं; अतः अनन्त शक्तियों/गुणों के अखण्ड पिण्ड चैतन्यमात्र स्वभाव को जानने के प्रयोजन की मुख्यता रखकर ही आगमाभ्यास करना योग्य है।

प्रश्न – गुण, शक्ति और धर्म; इनमें दृष्टि के विषय में क्या-क्या शामिल होता है?

उत्तर – दृष्टि के विषय में क्या शामिल है और क्या नहीं – यह निर्णय करना ज्ञान का कार्य है; अतः इस अभेद पिटारे को खोलेंगे तो दृष्टि का विषय ही नहीं रहेगा, क्योंकि भेद तो पर्यायार्थिक/व्यवहारनय का विषय है। दृष्टि का विषय, रंग-राग और भेद से भिन्न है, जिसे त्रिकाली अभेद एक अखण्ड ज्ञायकभावरूप परमपारिणामिकभाव के रूप में जाना जाता है। पारिणामिकभाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पण्डित प्रवर टोडरमलजी लिखते हैं – **सर्व भेद जिसमें गर्भित हैं, ऐसा चैतन्यभाव सो पारिणामिकभाव है।**[1] भेद-गर्भित होने का आशय, उस पर दृष्टि नहीं होना तथा उसे गौण करने से है। यदि गुण, शक्ति या धर्मों पर विचार किया जाए तो भेद गर्भित कहाँ रहे, वे तो प्रगट हो गये।

चैतन्यभाव तो वस्तु के अनन्त गुण एवं पर्यायों में व्याप्त है, अतः चैतन्यभाव में सब समा जाते हैं। गुण, धर्म आदि हैं या नहीं – इस विकल्प से अतिक्रान्त होकर निर्विकल्प चैतन्य में अहंपना करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. द्रव्यार्थिकनय के भेदों को जानने की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।
2. द्रव्यार्थिकनय के दश भेदों की शुद्ध या अशुद्ध संज्ञा, किस अपेक्षा सम्भव है – स्पष्ट कीजिए।
3. द्रव्यार्थिकनय के दशों भेदों की परिभाषा और स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
4. गुण, शक्ति और धर्म का आशय स्पष्ट कीजिए।

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय 7, पृष्ठ 198

14

पर्यायार्थिकनय के भेद-प्रभेद

सामान्य-विशेषात्मक या द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में विशेषों या पर्यायों को मुख्य करके जाननेवाला नय पर्यायार्थिकनय है। आलाप-पद्धति[1] और द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र[2] में पर्यायार्थिकनय के छह भेदों का उल्लेख किया गया है, जिनका स्वरूप इसप्रकार है -

1. अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय - जो नय, अकृत्रिम और अनिधन अर्थात् अनादि-अनन्त सूर्य, चन्द्रमा, सुमेरुपर्वत आदि पर्यायों को ग्रहण करता है, वह अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय है। धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्यों की पर्यायें भी अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय का विषय भी बन सकती हैं।

2. सादिनित्यपर्यायार्थिकनय - जो पर्याय, कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण सादि है और विनाश का कारण न होने से अविनाशी है - ऐसी सादिनित्यपर्याय को ग्रहण करनेवाला, सादि-नित्यपर्यायार्थिकनय है। जैसे, जीव की सिद्ध पर्याय।

3. सत्तानिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय है - जो नय, सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करता है, वह अनित्य-स्वभावग्राही सत्तानिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय है।

---

1. आलाप-पद्धति, पृष्ठ 215
2. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 199-204

4. सत्तासापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय – जो नय एक समय में ध्रुवत्व (सत्ता) से संयुक्त उत्पाद-व्यय को ग्रहण करता है, वह अनित्य-स्वभावग्राही सत्तासापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय है।

5. कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय – जो नय, कर्मोपाधि से निरपेक्ष पर्यायों को ग्रहण करके, संसारी जीवों की पर्याय को सिद्ध के समान शुद्ध कहता है, वह कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय है।

6. कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय – जो नय, कर्मोपाधिसहित पर्यायों को ग्रहण करता है, वह कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय है। जैसे, संसारी जीवों के जन्म-मरण होता है –

पर्यायार्थिकनय के उक्त छह भेदों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पर्याय को छह प्रकार से देखा गया है। यहाँ उनका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है –

पर्यायों की नित्यता – प्रथम दो भेद, अनादिनित्य एवं सादिनित्य पर्यायों को विषय बनाते हैं। यद्यपि पर्याय एक समय की होती है, तथापि एक समय तो केवली भगवान के ज्ञानगम्य है, क्षयोपशमज्ञान में एक समय पकड़ में नहीं आता; अतः अनेक समयवर्ती स्थूल पर्यायों को भी पर्याय कहा जाता है। मनुष्य, देव आदि संसारी जीवों की स्थूल पर्यायें तथा सिद्धजीव की स्थूल पर्याय अनेक समयवर्ती पर्यायें हैं। जैसे, बालक की लम्बाई व वजन आदि निरन्तर बढ़ता होने पर भी हमारे ख्याल में एक-एक समय का परिवर्तन नहीं आता, अतः अनेक समयवर्ती अनादिकालीन एवं अनन्त भविष्यकालीन एकरूप पर्यायों के समुदाय को नित्यपर्याय कहकर अनादिनित्य व सादिनित्य ऐसे भेद किये हैं।

स्थूल पर्यायों के काल की अपेक्षा अग्रलिखित भेद भी किये जाते हैं -

(क) अनादि-अनन्त पर्याय - सुमेरु पर्वत, अकृत्रिम जिनालय, अकृत्रिम जिनबिम्ब आदि पुद्गल पर्यायें एवं अभव्य की संसाररूप पर्यायें, अनादि-अनन्त पर्यायें हैं।

(ख) अनादि-सान्त पर्याय - भव्य जीव की संसाररूप पर्याय, अनादि-सान्त है।

(ग) सादि-अनन्त पर्याय - जीव की सिद्ध पर्याय, सादि-अनन्त पर्याय है।

(घ) सादि-सान्त पर्याय - जीव की मनुष्यादि पर्यायें, वस्त्राभूषण, मकान आदि पुद्गल पर्यायें तथा प्रत्येक द्रव्य की एक समयवर्ती पर्यायें सादि-सान्त पर्यायें हैं।

इसप्रकार प्रथम दो पर्यायार्थिकनय, अनेक समयवर्ती स्थूल पर्यायों के अनादि-अनन्त एवं सादि-अनन्त भेद का ज्ञान कराते हैं।

द्रव्य (सत्ता) की सापेक्षता और निरपेक्षता से वर्णित पर्याय की अशुद्धता और शुद्धता

पर्यायार्थिकनय का तीसरा भेद सत्तानिरपेक्ष, अनित्य-शुद्धपर्यायग्राही तथा चौथा भेद सत्तानिरपेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायग्राही है। यहाँ भी द्रव्यार्थिक नय के भेदों के समान पर्यायार्थिकनय की भी शुद्धता और अशुद्धता से आशय द्रव्यांश (ध्रुवसत्ता) के साथ निरपेक्षता और सापेक्षता है।

पर्याय, उत्पाद-व्ययरूप अंश है। जब इसे ध्रुव-सत्ता के साथ मिलाकर देखा जाता है, तब सत्तासापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय कहलाता है तथा सत्ता से निरपेक्ष मात्र उत्पाद-व्यय को जाननेवाला नय, अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय कहा जाता है।

आत्मा के स्वरूप का निर्णय करने के लिए ये नय, अत्यन्त उपयोगी हैं। द्रव्यार्थिकनय के भेदों में उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय है तो पर्यायार्थिकनय के भेदों में सत्तानिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिक-नय है।

इन दोनों नयों से सिद्ध होता है कि वस्तु के दोनों अंश कथंचित् निरपेक्ष और एक-दूसरे से अप्रभावित हैं; अतः ध्रुव सत्ता, पर्याय में विद्यमान शुद्धता/अशुद्धता से न तो प्रभावित होती है और न स्वयं उन्हें प्रभावित करती है। खास बात तो यह है कि द्रव्य-पर्याय की परस्पर निरपेक्षता को यहाँ उनकी शुद्धता कहा जा रहा है और उनकी परस्पर सापेक्षता को उनकी अशुद्धता कहा जा रहा है।

उक्त तथ्य से उत्पाद-व्ययरूप पर्याय की भी स्वतन्त्रता सिद्ध होती है। पूज्य गुरुदेवश्री, पर्याय को परद्रव्यों से निरपेक्ष और स्वतन्त्र तो कहते ही हैं, उसे स्वद्रव्य से भी निरपेक्ष और स्वतन्त्र कहते हैं। द्रव्यस्वभाव में विद्यमान कर्ता-कर्म-करण आदि शक्तिरूप षट्कारकों से एक-एक समय की पर्याय के षट्कारक भिन्न हैं। इसप्रकार प्रत्येक पर्याय, अपनी योग्यता से अपने स्वकाल में स्वयं होती है - ऐसे अनेक गहन रहस्य इस सत्तानिरपेक्ष शुद्धपर्यायार्थिकनय द्वारा समझ में आ सकते हैं।

खेद की बात है कि 'भगवान आत्मा, द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा त्रिकाल शुद्ध और शुद्धाशुद्ध पर्यायों से निरपेक्ष है' - स्वानुभूतिजनक यह महामन्त्र, आज भी अनेक विद्वानों की समझ में नहीं आता। बड़े-बड़े विद्वानों को यह तर्क देते हुए सुना जा सकता है कि जब द्रव्य शुद्ध है तो पर्याय अशुद्ध कैसे हो सकती है? और पर्याय तो अशुद्ध है, अतः द्रव्य भी अशुद्ध ही है तथा सिद्धदशा होने पर ही उसे शुद्ध मानना चाहिए, लेकिन यदि यह सत्तानिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय तथा

उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय समझ लिया जाए तो इस प्रश्न का समाधान सहज हो सकता है कि द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध ही है, उसकी शुद्धता स्वीकार करके स्वयं शुद्ध होने या द्रव्य की शुद्धता स्वीकार नहीं करके स्वयं अशुद्ध रहने के लिए पर्याय स्वतन्त्र है।

पर्याय की स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा तो देखिए कि वह जिस द्रव्यस्वभाव में अहं करती है, उसे अपना स्वरूप मानती है, सर्वस्व मानती है; उसी से वह निरपेक्ष रहकर शुद्ध होती है। वह स्वतन्त्ररूप से द्रव्य में विसर्जित होकर, अपने में अनन्त ज्ञान-सुखरूपी वैभव को उत्पन्न करके उसे भोगती है, क्योंकि द्रव्य तो अनन्त शक्तियों का पिण्ड है, उसकी उत्पाद-व्ययरूप व्यक्ति स्वतन्त्र और उससे निरपेक्ष है।

पर्याय की स्वतन्त्रता की श्रद्धा, हमारी वृत्ति को पर से निरपेक्ष बनाकर और पर्याय के कर्तृत्व की वासना भी मिटाकर, स्वयं को द्रव्य जैसा अनुभव करने को प्रेरित करती है।

प्रश्न – जब पर्याय ध्रुव-सत्ता से निरपेक्ष है तो सत्तासापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय की क्या उपयोगिता है? उसे सत्तासापेक्ष देखा ही क्यों जाए?

उत्तर – उत्पाद-व्यय को सत्ता से निरपेक्ष जानते समय सापेक्षता वाला पहलू गौण था, लेकिन उसका अभाव नहीं हुआ था। प्रमाणदृष्टि से वस्तु तो दोनों अंशों का अखण्ड पिण्ड है; अतः मात्र निरपेक्षता जानने से सम्यक् नय नहीं, नयाभास हो जाता है। वस्तु, सर्वथा अपरिणामी नहीं है, कथंचित् परिणामी और कथंचित् अपरिणामी हैं। कथंचित् परिणामी पक्ष से विचार करें तो उत्पाद-व्यय भी द्रव्य के ही अंश हैं। यह पर्याय किस द्रव्य की है, इसमें कौन व्यापक है, इसका स्वामी या कर्ता-भोक्ता कौन है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान, सत्तासापेक्ष अशुद्धपर्यायार्थिकनय से होता है।

द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती – इस तथ्य का ज्ञान सत्ता सापेक्ष अशुद्धपर्यायार्थिकनय से होता है तथा **पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता** – इस तथ्य का ज्ञान उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से होता है।

प्रश्न – उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय और सत्तासापेक्ष अशुद्धपर्यायार्थिकनय में क्या अन्तर है?

उत्तर – जब द्रव्य (ध्रुव) को उत्पाद-व्यय के साथ मिलाकर देखा जाए, तब उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय लागू होता है। यहाँ देखना तो द्रव्य को है, फोटो तो द्रव्य की खींचना है, परन्तु उत्पाद-व्यय के साथ में। इसीप्रकार सत्तासापेक्ष अशुद्धपर्यायार्थिकनय में देखना तो पर्याय को है, परन्तु सत्ता (द्रव्य) के साथ में। प्रथम नय, द्रव्य को विषय बना रहा है, जबकि द्वितीय नय पर्याय को विषय बना रहा है।

लोक में भी कभी पुत्र की पहचान पिता से होती है कि यह अमुक व्यक्ति का पुत्र है तो कभी पिता की पहचान पुत्र से होती है कि ये अमुक व्यक्ति के पिता हैं। जब पुत्र की पहचान पिता से की जाए तो पितृ-सापेक्ष पुत्र-नय होगा और जब पिता की पहचान, पुत्र से की जाए तो पुत्र-सापेक्ष पितृ-नय कहलाएगा। इसीप्रकार यदि कोई व्यक्ति, अपनी पत्नी से कहे कि 'तुम इस साड़ी में बहुत सुन्दर लगती हो' तो यह साड़ी-सापेक्ष महिला का वर्णन होगा; परन्तु यदि कोई विक्रेता कहे कि 'यह साड़ी आप पर बहुत सुन्दर लगेगी' तो यह महिला-सापेक्ष साड़ी का वर्णन कहलाएगा।

इसप्रकार सत्तासापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय तथा सत्तानिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय – इन दोनों नयों के द्वारा द्रव्य की सापेक्षता और निरपेक्षता को जानकर, पर्याय का लक्ष्य छोड़कर

द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ प्रगट करना चाहिए, क्योंकि यही प्रयोजनभूत है, यही सच्ची शुद्ध द्रव्यदृष्टि है।

कर्मोपाधि से निरपेक्षता और सापेक्षता से वर्णित पर्याय की अशुद्धता और शुद्धता

पर्यायार्थिकनय का पाँचवाँ और छठवाँ भेद, पर्यायों को कर्मोपाधि से क्रमशः निरपेक्ष तथा सापेक्ष देखने से कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय तथा कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय कहा गया है।

वस्तुतः पर्याय तो वस्तु के प्रवाह-क्रम का सूक्ष्म अंश है, अतः द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप वस्तु में काल के एक समयवर्ती अंश को ही ***पर्याय*** *शब्द से कहा जाता है। समुद्र की लहरों के समान काल-प्रवाह में नवीन अंश उत्पन्न (व्यक्त) होता है तथा उसका पूर्ववर्ती अंश विलीन होता है। यही पर्यायों का उत्पाद-व्यय है। कालांश तो कालरूप है और कर्मोपाधियाँ भाववाची हैं; अतः काल को भाव से निरपेक्ष देखना कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय है तथा काल को भावों से मिलाकर देखना, कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय है।*

इन नयों के प्रयोग, हमारे लौकिक जीवन में भी देखे जाते हैं। किसी दिन कोई अच्छा काम हुआ तो लोग कहते हैं कि आज का दिन बहुत अच्छा रहा और किसी दिन कोई बुरा काम हो तो लोग कहते हैं कि आज का दिन बहुत खराब रहा। दिन तो दिन है, काल-प्रवाह का स्थूल अंश है, वह न तो अच्छा होता है और न बुरा। वह तो अच्छाई या बुराई से निरपेक्ष है, अच्छे-बुरे लगनेवाले कार्यों की सापेक्षता से हम उसे अच्छा या बुरा कहते हैं। जिस दिन किसी की शादी हो या कोई अन्य इष्ट लाभ हो तो वह उस दिन को अच्छा मानता है तथा उसी दिन किसी अन्य व्यक्ति को कोई नुकसान हुआ हो तो वह उसी दिन को बुरा

मानता है; अतः यह स्पष्ट है कि दिन, अच्छा-बुरा न होते हुए भी उसमें अच्छे-बुरे का व्यवहार हुए बिना नहीं रहता।

यही स्थिति आत्मा की पर्यायों की है। अन्य पाँच द्रव्यों में तो कोई कर्मोपाधि नहीं होती। पुद्गल की स्कन्ध पर्याय को अशुद्ध कहा जाने पर भी उन्हें कर्मोपाधि नहीं कहा जाता। धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों के उत्पाद-व्यय तो निरुपाधिक ही होते हैं। आत्मा में भी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-सुख-दर्शन आदि कुछ गुणों में ही कर्मोपाधि के निमित्त से विकार देखा जाता है। आत्मा के अन्य अनन्त गुणों का परिणमन भी निरुपाधिक ही होता है।

यहाँ कर्मोपाधि-सापेक्ष से आशय मुख्यतया कर्मोदय-सापेक्ष औदयिक भावों अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों से है, क्योंकि औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों में भी क्रमशः कर्म का उपशम, क्षयोपशम और क्षय निमित्त होता है। फिर भी सामान्य ज्ञानस्वभाव की अपेक्षा इन निर्मल पर्यायों को भी कर्मोपाधिजन्य कहा जाता है। समयसार, गाथा 15 की टीका में सामान्य ज्ञान के आविर्भाव के प्रकरण में ज्ञानस्वभाव को परोक्षरूप से पर्यायरूप औदयिकादि चारों भावों से भिन्न देखने की प्रेरणा दी है। गाथा 17-18 की टीका में भी आबाल-गोपाल सबको जिस ज्ञानपर्याय में अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सदाकाल अनुभव में आ रहा है - ऐसा कहा है। **वह ज्ञानपर्याय भी सामान्य ज्ञानरूप तथा पर्यायगत पारिणामिक भावरूप है तथा औपशमिक आदि चार भावों से भिन्न है।**

नियमसार, गाथा 50 में तो आत्मा को औदयिकादि चार भावों से भिन्न स्पष्टरूप से बताया है। यद्यपि वहाँ द्रव्यस्वभाव को कर्मोपाधि से भिन्न कहा है और यहाँ स्पष्टतया पर्याय की बात है, तथापि

कर्मोपाधि के अन्तर्गत औपशमिकादि निर्मल भावों को भी ग्रहण किया जाता है – यह जानना यहाँ प्रयोजनभूत है।

पर्याय भी कर्मोपाधि से निरपेक्ष है

यहाँ यही बात विशेषरूप से विचारणीय है कि द्रव्यस्वभाव को कर्मोपाधि से रहित देखने की बात तो अध्यात्म ग्रन्थों का मूल आधार है और अध्यात्म-रसिक समाज में भी यही बात मुख्यरूप से चर्चित भी है, परन्तु पर्याय में तो राग-द्वेष, सुख-दुःख हैं ही, अतः इनका निषेध करके पर्यायों को सिद्ध समान शुद्ध मानने से क्या निश्चयाभास नहीं होगा? फिर यहाँ पर्याय को भी कर्मोपाधि से निरपेक्ष क्यों बताया जा रहा है? क्या जिनागम में अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग उपलब्ध हैं? इत्यादि अनेक प्रश्नों का समाधान आवश्यक है।

प्रश्न – पर्यायों को कर्मोपाधि से निरपेक्ष देखना निश्चयाभास है या नहीं?

उत्तर – कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय के साथ-साथ कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय भी है। यदि यहाँ दोनों नयों की विवक्षा समझी जाए तो निश्चयाभास का प्रश्न ही नहीं उठता, अपितु वर्तमान पर्याय में भी कर्मोपाधिरहित ज्ञानस्वभाव के आविर्भाव से दृष्टि अखण्ड ज्ञायक में चली जाती है और रागादि कर्मोपाधियों का अभाव होना प्रारम्भ हो जाता है।

यद्यपि पण्डित टोडरमलजी ने वर्तमान पर्याय को सर्वथा शुद्ध मानने को निश्चयाभास कहकर उसका निषेध किया है, तथापि यहाँ कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय के विषयभूत रागादि को भी गौणरूप से स्वीकार करने के कारण वर्तमान पर्याय को शुद्ध मानने पर निश्चयाभास का प्रसंग नहीं आता।

अर्हन्त भगवान तथा हमारी पर्यायों में असमानता और समानता –

प्रवचनसार, गाथा 80 तथा उसकी टीका में मोहक्षय हेतु अपनी आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने की प्रेरणा देते हुए उसके लिए अर्हन्त भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने का उपदेश दिया गया है और दोनों के द्रव्य-गुण-पर्याय में निश्चय से अन्तर नहीं है – ऐसा कहा है।

अर्हन्त भगवान के और हमारे द्रव्य-गुण तो समान हैं, परन्तु पर्यायों में समानता है या नहीं – इस प्रश्न का समाधान, कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय तथा कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिकनयों से हो जाता है। अर्हन्त भगवान की पर्यायें कर्मोपाधियों से रहित हैं और हमारी पर्यायें कर्मोपाधियों से सहित हैं – यह अन्तर तो स्पष्ट है ही, परन्तु पर्यायों के सामान्य स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो अर्हन्त भगवान के समान हमारी पर्यायें भी उत्पाद-व्ययरूप अथवा व्यतिरेक लक्षणवाली हैं, चिद्विवर्तन की ग्रन्थियाँ हैं। अतः कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय का विषय ही हमारी पर्यायों को अर्हन्त की पर्याय के समान सिद्ध करता है। कर्मोपाधियों को गौण करके मात्र पर्यायस्वभाव को देखा जाए तो हमें भी अपनी पर्यायें, अर्हन्त भगवान जैसी चिद्विवर्तन की ग्रन्थियाँ दिखने लगेंगी। इसप्रकार अर्हन्त भगवान और हमारी पर्यायों में समानता, निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर भी समझी जा सकती है –

(1) भगवान के केवलज्ञान के समान हमारा मति-श्रुतज्ञान भी रागादि विकारों से रहित स्वभाववाला है।

(2) केवलज्ञान के समान हमारा वर्तमान ज्ञान भी स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला है।

(3) द्रव्य-गुण की शुद्धता का निर्णय करनेवाली हमारी ज्ञानपर्याय में भी शुद्धता का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है।

इसप्रकार यदि कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय, मोह-राग-द्वेषादि विकारों का ज्ञान कराके उनके अभाव करने की प्रेरणा देता है तो कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय, वर्तमान ज्ञानपर्याय को भी रागादि से भिन्न स्वभाववाली दिखाकर मूल द्रव्यस्वभाव में जाने की राह दिखाता है, क्योंकि हमारी वर्तमान प्रगट ज्ञानपर्याय भी सूर्य की किरण के समान स्वभाव का ही अंश है।

प्रश्न – कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय और कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय में क्या अन्तर है?

उत्तर – पर्यायदृष्टि से द्रव्य को भी अशुद्ध कहा जाता है, अतः पर्यायगत रागादि को गौण करके त्रिकाली शुद्ध द्रव्यस्वभाव को देखना कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय का कार्य है, जबकि कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय, वर्तमान ज्ञानपर्याय को रागादिभावों से भिन्न देखता है।

इसीप्रकार कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, त्रिकाल शुद्ध स्वभाव को गौण करके, रागादिभावों की मुख्यता से द्रव्य को अशुद्ध देखता है और कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धपर्यायार्थिकनय, रागादिरूप परिणमित वर्तमान पर्याय को देखता है।

प्रश्न – शुद्धद्रव्यार्थिकनय और शुद्धपर्यायार्थिकनय इन दोनों में कौन-सा नय उपादेय है?

उत्तर – वस्तु-स्वरूप का निर्णय करने के लिए तो सभी नय उपादेय हैं। आत्मानुभूति की प्रक्रिया में समस्त कर्मोपाधियों से भिन्न, द्रव्य-गुण-पर्याय में व्याप्त, परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत अपने चैतन्यस्वभाव को जानकर, उसी में रमने-जमने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय, वर्तमान ज्ञान को रागादि से भिन्न देखता हुआ सामान्य ज्ञान का आविर्भाव करता हुआ, वर्तमान ज्ञानपर्याय में ही ज्ञायक दिखाने लगता है और निर्विकल्प दशा प्रगट हो जाती है। इस नय को अन्य गुणों की पर्यायों पर भी घटित किया जा सकता है, परन्तु आत्मानुभूति के प्रयोजन की अपेक्षा यहाँ मात्र ज्ञानपर्याय पर घटित किया है।

प्रश्न – पर्यायार्थिकनय में शुद्ध-अशुद्ध भेद तो कहे हैं, परन्तु भेदकल्पनानिरपेक्ष या भेदकल्पनासापेक्ष – ऐसे भेद क्यों नहीं कहे हैं?

उत्तर – द्रव्य तो भेदाभेद स्वरूप है, अतः उसे भेदकल्पना से निरपेक्ष/सापेक्ष देखा जा सकता है, परन्तु पर्याय तो द्रव्य का ही अंश है, भेदरूप ही है, व्यतिरेकी है, अतः उसका कोई अभेद स्वरूप ही नहीं बनता; इसलिए उसमें भेदकल्पना से निरपेक्षता या सापेक्षता के कोई भेद नहीं बनते। पर्यायों में अभेदता का आधार तो द्रव्य है, वही उनमें व्याप्त है, जो द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

प्रश्न – क्या पर्यायार्थिकनय के छहों भेद सभी द्रव्यों की पर्यायों में घटित होते हैं?

उत्तर – (1) अनादिनित्य पर्यायें सुमेरु पर्वत आदि पुद्गल की ही हैं। अभव्य की संसार पर्याय भी अनादिनित्य है। जीव के कुछ गुणों को छोड़कर शेष अनन्त गुणों की पर्यायें भी अनादिनित्य हैं। धर्मादि द्रव्यों की पर्यायें भी अनादि-अनन्त एक जैसी हैं, अतः अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय, सभी द्रव्यों की पर्यायों में यथायोग्य घटित हो सकता है।

(2) सादिनित्य पर्याय, मात्र सिद्ध पर्याय ही है; अतः यह नय, मात्र मुक्त जीवों की पर्यायों पर ही घटित होता है।

(3+4) सत्तानिरपेक्ष तथा सत्तासापेक्ष अनित्य शुद्ध/अशुद्ध

पर्यायार्थिकनय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु के उत्पाद-व्यय को देखने की प्रक्रिया होने से छहों द्रव्यों की पर्यायों पर घटित होता है।

(5+6) कर्मोपाधियाँ तो मात्र जीवद्रव्य की पर्यायों में ही होती हैं; अतः ये दोनों नय, यथायोग्य जीवद्रव्य की पर्यायों में ही घटित होते हैं।

इसप्रकार पर्यायार्थिकनय के इन छह भेदों के माध्यम से पर्याय का स्वरूप गहराई से स्पष्ट जाना जा सकता है। पर्याय की स्वतन्त्रता का यथार्थ निर्णय करके कर्मोपाधियों को भी पर्यायस्वभाव से भिन्न जानकर, अकर्तास्वभाव के अवलम्बन द्वारा स्वानुभव का अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट करने में ही इन नयों को जानने की सार्थकता है और यही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. पर्यायार्थिकनयों के छह भेदों का स्वरूप और उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
2. क्या पर्यायों को कर्मोपाधि से निरपेक्ष देखने से निश्चयाभास नहीं होगा?
3. हमारी और अर्हन्त भगवान की पर्याय में समानता किस अपेक्षा से है?

जिसने परद्रव्यों से निज को, भिन्न जानकर हटा लिया।
और विशेषों का समूह, सामान्य मात्र में डुबा दिया।।
उद्धत मोह-लक्ष्मी को, नय-शुद्ध सदा ही लूट रहा।
निज उत्कट विवेक से उसने, आत्मरूप को भिन्न किया।।

– प्रवचनसार कलश, 7

15

नय के तीन रूप

शब्दनय, अर्थनय, ज्ञाननय

निश्चयनयों के सामान्य स्वरूप पर चर्चा करते समय यह स्पष्ट किया गया था कि वस्तु में विद्यमान विभिन्न अंशों में से किसी एक अंश को मुख्य करके जानना, नय है। निश्चय-व्यवहारनय एवं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय तथा उनके भेद-प्रभेदों की विस्तृत चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये भेद-प्रभेद, वस्तु-स्वरूप की कथन शैली अथवा उसके विभिन्न अंशों को विषय बनाने के आधार पर किये गये हैं।

श्रुतज्ञान के अंश होने से नयों का ज्ञानात्मक स्वरूप तो प्रसिद्ध है ही, जिनागम में नयों के अर्थात्मक एवं शब्दात्मक स्वरूप का उल्लेख भी किया गया है, अतः मुख्यतः तीन रूपों में नयों का उल्लेख मिलता है - शब्दनय, अर्थनय एवं ज्ञाननय।

इस सम्बन्ध में श्लोकवार्तिक का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है -

उक्त सभी नय, दूसरों के लिए अर्थ का कथन करने पर शब्दनय हैं, ज्ञाता के लिए अर्थ का प्रकाशन करने पर ज्ञाननय हैं तथा उनके द्वारा ज्ञात किये वस्तु के धर्म अर्थ कहे जाते हैं, इसलिए वे अर्थनय हैं; अतः प्रधानता और गौणता से नयों के तीन भेद होते हैं।

---

1. श्लोकवार्तिक, नय विवरण, श्लोक 110-111

उक्त कथन से स्पष्ट है कि सभी नय, श्रुतज्ञान के अंश होने से ज्ञानात्मक हैं, द्रव्य-गुण पर्यायात्मक वस्तु के ज्ञाता होने से अर्थात्मक हैं तथा इनके माध्यम से दूसरों को वस्तु-स्वरूप समझाते समय ये वचनात्मक होते हैं।

पंचाध्यायी में पौद्गलिक शब्दों को द्रव्यनय तथा जीव के ज्ञानगुण (पर्यायों) को भावनय कहा गया है।[1]

वस्तुतः जगत् के समस्त पदार्थों का प्रयोग, तीन रूपों में किया जाता है, जिसके आधार पर नयों के इन तीन रूपों को निम्नलिखित उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है -

जैसे, गाय नामक प्राणी का प्रयोग तीन रूपों में किया जाता है -

1. शब्दात्मक गाय अर्थात् 'गाय' शब्द 2. अर्थात्मक गाय अर्थात् 'गाय' नामक पशु और 3. ज्ञानात्मक गाय अर्थात् 'गाय' को जाननेवाला ज्ञान।

गाय शब्द कहना या लिखना 'शब्दात्मक गाय' है, जिसे जाननेवाला ज्ञान, शब्दनय है। 'गाय' शब्द से सम्बोधित किया जानेवाला पशु 'अर्थात्मक गाय' है, जिसे जाननेवाला ज्ञान, अर्थनय है। ज्ञान में झलकनेवाली गाय 'ज्ञानात्मक गाय' है, जिसे जाननेवाला ज्ञान, ज्ञाननय है। इसीप्रकार वस्तु का प्रतिपादन करनेवाले शब्द 'शब्दात्मक वस्तु' हैं। द्रव्य-गुण-पर्यायमयी वस्तु 'अर्थात्मक वस्तु' है तथा ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेवाली वस्तु 'ज्ञानात्मक वस्तु' है। वस्तु के इन तीनों रूपों को जाननेवाले ज्ञान क्रमशः शब्दनय, अर्थनय और ज्ञाननय हैं।

यहाँ इन तीनों नयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है -

शब्दनय

शब्दनय, वस्तु को प्रतिपादन करनेवाले शब्दों को विषय करता

1. प्रथम अध्याय, श्लोक 5

है। शब्दों की संख्या, संख्यात मात्र है, वे मात्र स्थूल अर्थ को विषय करते हैं, अतः शब्दनय का विषय सीमित है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव, समयसार ग्रन्थ की 5वीं गाथा की टीका में शब्दों को शब्दब्रह्म कहकर गौरव प्रदान करते हुए लिखते हैं - **इह खलु स्यात्पद-मुद्रित-शब्द-ब्रह्मोपासन-जन्मा।** कल्पना कीजिए - यदि इस जगत् में शब्द न हो तो जगत् का क्या स्वरूप होगा? तब न केवल दिव्यध्वनि, अपितु आचार्यों के धर्मोपदेश, लिखित जिनवाणी तथा परस्पर वचन-व्यवहार आदि सभी का लोप हो जाएगा, सारी सृष्टि गूँगी हो जाएगी; अतः न केवल तीर्थ की प्रवृत्ति, अपितु लोक-व्यवहार में भी शब्दों का विशेष महत्त्व है।

नैगमादि सप्त नयों में भी शब्दनय का पृथक् उल्लेख किया गया है, वहाँ शब्दनय के स्वरूप का विशेष भेद-प्रभेदसहित वर्णन किया गया है। सप्त नयों के प्रकरण में उसकी विशेष चर्चा की जाएगी।

अर्थनय

अर्थात्मक वस्तु अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेवाला ज्ञान, अर्थनय है। अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित जगत् के समस्त पदार्थ, अर्थ होने से अर्थनय के विषय हैं; अतः शब्दनय की अपेक्षा अर्थनय का विषय अनन्तगुना अधिक है।

यदि अर्थनय की सत्ता न मानी जाए तो उसके विषयभूत पदार्थों का सद्भाव भी सिद्ध न हो सकेगा, अतः पदार्थों के अभाव में उन्हें जाननेवाले ज्ञान का भी अभाव मानना पड़ेगा। जब पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान ही नहीं रहेगा तो शेष जगत् की सत्ता होना - न होना एक जैसा ही हो जाता है। इसप्रकार पदार्थों के ज्ञान के अभाव में हेय-उपादेय का ज्ञान भी नहीं होगा, जिससे मोक्षमार्ग और मोक्ष के भी लोप होने का प्रसंग आता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि ज्ञेयाकार ज्ञान

का अभाव मानने पर ज्ञान और ज्ञेय दोनों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होने से सर्वलोप का प्रसंग आता है, जो किसी को भी इष्ट नहीं है; अतः अर्थनय की उपयोगिता असन्दिग्ध है।

ज्ञाननय

ज्ञान की पर्याय में झलकने वाले सभी पदार्थ ज्ञानात्मक वस्तु हैं तथा ज्ञानात्मक वस्तु को जाननेवाला ज्ञान, ज्ञाननय है। ज्ञानात्मक वस्तु, ज्ञान का ही ज्ञेयाकार परिणमन होने से ज्ञान ही है, अतः ज्ञाननय का विषय भी ज्ञान ही है। जिसप्रकार शब्दनय से अर्थनय का विषय अधिक है, उसीप्रकार अर्थनय से अधिक विषय ज्ञाननय का है, क्योंकि वह सत् पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान को तो अपना विषय बनाता ही है, असत् कल्पनाओं को भी वह अपना विषय बनाता है।

लोक में विद्यमान वस्तुएँ तो ज्ञान का विषय बनती ही हैं, परन्तु जिनकी सत्ता लोक में है ही नहीं – ऐसे असत् पदार्थों की कल्पना भी ज्ञान में उत्पन्न होती है और उन सबको ज्ञान जानता है।

अखबारों में छपनेवाले कार्टून चित्रों/कार्टून फिल्मों के माध्यम से चित्रकारों के ज्ञान में उत्पन्न होनेवाली कल्पना का अनुमान सहज हो जाता है। जगत् की कल्पनाओं में रावण के दश-मुख, विभिन्न देवी-देवताओं के विचित्र रूप तथा हम सबको भी स्वप्न में दिखनेवाले अटपटे और असम्भव-से दृश्य – यह सब कल्पना लोक ही है, जो ज्ञान में झलकता है और ज्ञाननय का विषय बनता है।

ज्ञानलोक में बननेवाले इन काल्पनिक पदार्थों का प्रभाव इतना सशक्त है कि उसके आधार पर सदियों से अनेक रीति-रिवाज, परम्परा तथा बड़े-बड़े उत्सवों का आयोजन जगत् में प्रचलित है, जिस पर करोड़ों लोगों का समय, शक्ति, धन तथा जीवन भी समर्पित हो रहा है।

यद्यपि वास्तविक जगत् में इन काल्पनिक वस्तुओं की सत्ता नहीं है, अतः इन्हें असत् कहा जाता है; तथापि ज्ञान में उनकी ज्ञानात्मक सत्ता तो बन ही जाती है, अतः इन ज्ञानात्मक सत्ताओं को कथंचित् सत् भी कहा जा सकता है।

ज्ञाननय ज्ञान में झलकनेवाले पदार्थों अर्थात् ज्ञेयाकार ज्ञान को ही जानता है। यह तथ्य, ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव का रहस्य खोलकर, आत्मानुभूति की राह को आसान बना देता है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों में ज्ञाननय का यह रहस्य, उनकी सादी और गम्भीर भाषा में इन शब्दों में अनेक बार व्यक्त होता है - **खरेखर आत्मा पर ने नथी जाणतो, पर-सम्बन्धी पोतानी ज्ञानपर्याय ने जाणे छे।** अर्थात् वास्तव में आत्मा, पर को नहीं जानता, पर-सम्बन्धी अपनी ज्ञानपर्याय को जानता है।

ज्ञान में होनेवाला ज्ञेयाकार परिणमन वस्तुतः ज्ञान ही है, ज्ञेय नहीं। यहाँ यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि ज्ञेयाकार परिणमन भी ज्ञेय से निरपेक्ष और स्वतन्त्र है अर्थात् जैसा ज्ञेय है, वैसा ही ज्ञान हो - यह आवश्यक नहीं है, अपितु ज्ञान की जैसी तत्समय की योग्यता होती है, वैसा ज्ञेयाकार परिणमन होता है अर्थात् ज्ञेय जाना जाता है, ज्ञेय चाहे वैसा हो या न हो। रस्सी के सम्बन्ध में भ्रम से होनेवाले सर्प के ज्ञान से तथा ज्ञान में ज्ञात होनेवाली असत्कल्पनाओं से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है। **जरा सोचिए! ज्ञेयाकार परिणमन ही ज्ञेय को जानना है और ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञान ही है, अतः ज्ञेय को जानना वस्तुतः ज्ञान को ही जानना क्यों न कहा जाए?**

अर्थनय से देखा जाए तो ज्ञान, द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु को जानता है - यह ज्ञान का पर-प्रकाशक स्वरूप है और यदि ज्ञाननय से देखा जाए तो वह ज्ञान, ज्ञान में बननेवाले प्रतिबिम्ब अर्थात् ज्ञेयाकार

ज्ञान को ही जानता है - यह ज्ञान का स्व-प्रकाशक स्वरूप है। इसप्रकार अर्थनय की अपेक्षा ज्ञान पर-प्रकाशक है और ज्ञाननय की अपेक्षा ज्ञान स्व-प्रकाशक है। **यदि ज्ञान, पर को जानता ही नहीं - ऐसा कहा जाए तो अर्थनय का लोप होता है तथा पर को जानता हुआ ज्ञान, वास्तव में अपने ज्ञेयाकार (ज्ञान) स्वरूप का प्रकाशन करता है - ऐसा न माना जाए तो ज्ञाननय का लोप होता है।**

ज्ञान के परिणमन को ज्ञेयाकार कहना अर्थात् ज्ञेय के नाम से कहना, पर-सापेक्ष कथन होने से व्यवहार है तथा ज्ञेयाकार ज्ञान, ज्ञान ही है - ऐसा कहना स्वाश्रित होने से परमार्थ है, जो कि व्यवहार द्वारा प्रतिपाद्य है और व्यवहार का निषेधक है।

ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेवाले ज्ञेयों का विश्लेषण करते हुए डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 236 पर लिखते हैं -

दर्पण में प्रतिबिम्बित मोर, मोर तो है ही नहीं, मोर का परिणमन भी नहीं है; दर्पण की ही स्वच्छ अवस्था है, दर्पण का ही परिणमन है। उसे जाननेवाले ज्ञान का ज्ञेय भी दर्पण है, दर्पण की निर्मल अवस्था है, मोर नहीं।

इसीप्रकार ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेवाले सत्-असत् पदार्थ, तत्सम्बन्धी विकल्प-संकल्प-कल्पनाएँ ज्ञान ही हैं, ज्ञान का ही परिणमन है, ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। उन्हें जाननेवाले ज्ञान का ज्ञेय, वह ज्ञान ही है, ज्ञानपर्याय ही है, उस ज्ञेयरूप ज्ञान में झलकनेवाले अन्य पदार्थ नहीं।

ऐसी स्थिति होने पर भी जिसप्रकार मोर में मुग्ध लोग, दर्पण में प्रतिबिम्बित मोर को देखकर उसे दर्पण न कहकर मोर ही कह देते हैं; उसीप्रकार ज्ञानपर्याय में प्रतिबिम्बित सत्-असत् ज्ञेयों को

देखकर, उस ज्ञानपर्याय को उसमें प्रतिबिम्बित ज्ञेयों रूप भी कह दिया जाता है।

यही कारण है कि गाय को जाननेवाले ज्ञान को भी गाय कह दिया जाता है। लोक में भी ऐसे प्रयोग अप्रचलित नहीं हैं। दर्पण में प्रतिबिम्बित या दीवार पर चित्रित मोर को देखकर हम कह ही देते हैं कि देखो! कितना सुन्दर मोर है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान में प्रतिबिम्बित गाय को गाय कहा जाए तो यह कहा जाता है कि ज्ञान, गाय को जान रहा है और यदि उस ज्ञान में प्रतिबिम्बित गाय को ज्ञान कहा जाए तो यह कहा जा सकता है कि ज्ञान, ज्ञान को जान रहा है।

इसप्रकार ज्ञान के ज्ञेयाकार परिणमन में ही स्व-पर दोनों का प्रकाशन है, जो कि ज्ञान का सहज स्वभाव है। भेदज्ञानपूर्वक निर्विकल्प अनुभूति के काल में स्वभाव में एकाग्रतारूप पुरुषार्थ के समय जो स्व-लक्ष्य है, उस समय भी ज्ञान पर्याय, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को तथा अपने स्व-परप्रकाशक स्वरूप को प्रकाशित करती है तथा धारणारूप मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान में अन्य ज्ञेयों का जानना भी सहज होता रहता है।

प्रश्न – ज्ञान, अपने में बननेवाले ज्ञेयाकारों अर्थात् पदार्थों के प्रतिबिम्बों को जानता है तो पदार्थों को प्रतिबिम्बित करनेवाला ज्ञेयाकार ज्ञान और उसे जाननेवाला, ज्ञान दोनों भिन्न-भिन्न हैं या एक ही हैं।

उत्तर – वस्तुतः ज्ञेयाकाररूप परिणमित ज्ञान, अपने ज्ञानस्वरूप ही है, अतः दोनों एक ही हैं। ज्ञेयाकाररूप परिणमन करना, ज्ञेय को जानना, अपने ज्ञानस्वभाव को प्रकाशित करना तथा ज्ञेयों का ज्ञान में झलकना आदि भिन्न-भिन्न शैलियों/कथन भेदों के माध्यम से एक ही प्रक्रिया को सम्बोधित करना है। ज्ञान, यदि स्वयं को न जाने तो अपने में प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थों को कैसे जान सकता है? न्यायदीपिका

में कथित एक वाक्य में यह बात बहुत अच्छी तरह अभिव्यक्त होती है, वह वचन है -

स्वाऽवभासनाऽशक्तस्य पराऽवभासकत्वाऽयोगात्।

अर्थात् जो स्व-अवभासन में असमर्थ है, वह पर का अवभासन नहीं कर सकता। परीक्षामुख सूत्र, अध्याय 1 के **स्वाऽपूर्वार्थ-व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्, कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः** तथा **घटमहमात्मना वेद्मि** - इन सूत्रों से भी यह बात सिद्ध होती है। अभेद में भेद किये बिना उसका कथन नहीं हो सकता, इसलिए यह कहना पड़ता है कि ज्ञान अपने में ज्ञेयाकारों को जानता है। ज्ञेयाकार तथा उन्हें जाननेवाले ज्ञान को एक बतानेवाली मुमुक्षु समाज में प्रचलित आध्यात्मिक भजन की यह पंक्ति ध्यान देने योग्य है -

ज्ञेयाकार ज्ञान में भी कलाकार ज्ञान है।
ज्ञान में जो ज्ञान जाने, वही भगवान है।।

ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव अत्यन्त गम्भीर और उपयोगी विषय है, जिस पर पृथक् विचार-विश्लेषण अपेक्षित है। यहाँ तो मात्र ज्ञाननय के सन्दर्भ में यह आवश्यक स्पष्टीकरण किया गया है, जिसे समझकर अपने ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. अर्थात्मक, शब्दात्मक और ज्ञानात्मक वस्तु का स्वरूप और उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
2. अर्थनय और ज्ञाननय के सन्दर्भ में ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव की विवेचना कीजिए।

(16)

नैगमादि सप्त नय

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में नैगमादि सात नयों का स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है।[1] जबकि उसकी टीकाओं तथा धवला टीका आदि में इन सात नयों को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों के भेद के रूप में भी बताया गया है। धवला टीका का वह कथन इसप्रकार है -

इसप्रकार वह नय दो प्रकार का है - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ जो द्रव्यार्थिकनय है, वह तीन प्रकार का है - नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का है - ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। उक्त भेद विगत अध्याय में वर्णित भेदों से भिन्न हैं।

इन सातों नयों का स्वरूप, भेद-प्रभेद, प्रयोग तथा उपयोगिता आदि सभी बिन्दुओं पर श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, धवला टीका, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र तथा परमभावप्रकाशक नयचक्र में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है, अतः यहाँ उनकी परिभाषा प्रयोग तथा उपयोगिता पर संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

नैगमनय

श्लोकवार्तिक, नय-विवरण, श्लोक 31 में संकल्प मात्र के ग्राहक को नैगमनय कहा है। इस सन्दर्भ में आचार्य पूज्यपाद लिखते

---

1. अध्याय 1, सूत्र 33

हैं – अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे – हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पूछता है – आप किस काम से जा रहे हैं? तो वह कहता है – प्रस्थ[1] लेने जा रहा हूँ। यद्यपि उस समय उसके हाथ में प्रस्थ नहीं, फरसा है, तथापि उसका इरादा लकड़ी काटकर, प्रस्थ बनाने का है, इसलिए 'प्रस्थ' लाने का वचन प्रयोग किया गया है।

स्वामी कार्तिकेय, काल की अपेक्षा नैगमनय के तीन भेद बताते हुए कहते हैं – जो नय अतीत, अनागत और वर्तमान को विकल्परूप से साधता है, वह नैगमनय है।[2]

इस परिभाषा के आधार पर नैगमनय तीन प्रकार का कहा है –

1. भूत नैगमनय 2. वर्तमान नैगमनय और 3. भावी नैगमनय

यहाँ द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 205-207 के आधार पर इनका स्पष्टीकरण किया जा रहा है –

1. भूत नैगमनय – जो कार्य हो चुका हो, उसका वर्तमान काल में आरोप करना, भूत नैगमनय है। जैसे, आज के दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। यहाँ भूतकाल में घटित घटना का वर्तमान में संकल्प किया जा रहा है, यही संकल्प करनेवाला ज्ञान, नैगमनय है।

हमारे सामाजिक जीवन में भी इस नय का प्रयोग, बहुत प्रचलित है। यदि इस नय को स्वीकार न किया जाए तो दीपावली, महावीर जयन्ती, रक्षा-बन्धन आदि पर्व मनाना तथा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आदि आयोजित करना सम्भव न हो सकेगा। सेवा-निवृत्त जज को बाद में भी जज कहने का रिवाज जगत् में है ही। नैगमनय की

---

1. अनाज नापने के लिए लकड़ी का बर्तन
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 571

परिभाषा में प्रयुक्त 'अनिष्पन्न' शब्द को भूत नैगमनय में घटित करते समय भूतकालीन कार्य निष्पन्न हो चुका है, वर्तमान में निष्पन्न हो नहीं रहा है - इस अपेक्षा उसे अनिष्पन्न कहा गया है।

2. वर्तमान नैगमनय - जो प्रारम्भ की गई पकाने आदि क्रिया को लोगों के पूछने पर सिद्ध या निष्पन्न कहता है, वह वर्तमान नैगमनय है।

भोजन बनाने की तैयारी करते हुए अर्थात् ईंधन, जल आदि का संग्रह करते हुए अथवा दाल-चावल आदि धोते हुए व्यक्ति से यह पूछे जाने पर कि आप क्या कर रहे हो? और वह कहे कि 'मैं भोजन पका रहा हूँ' तो यह कथन वर्तमान नैगमनय का है।

शास्त्री प्रथम वर्ष के छात्र को शास्त्री कहना, इसी नय का प्रयोग है। सम्मेद शिखर की यात्रा पर जाते समय रेलवे स्टेशन जाने के लिए ऑटो रिक्शा में बैठा हुआ व्यक्ति, इसी नय का प्रयोग करते हुए कहता है कि 'मैं शिखरजी जा रहा हूँ।'

3. भावी नैगमनय - जो अनिष्पन्न भावी पदार्थ को निष्पन्न की तरह कहता है, उसे भावी नैगमनय कहते हैं। जैसे, अप्रस्थ को प्रस्थ कहना।

वर्तमान नैगमनय में तो प्रारम्भ हो चुके कार्य में उसकी पूर्णता के संकल्प का ज्ञान किया जाता है, जबकि भावी नैगमनय में कार्य प्रारम्भ ही नहीं हुआ, मात्र उसे करने का संकल्प मात्र किया है। यह संकल्प ही भावी नैगमनय का विषय बनता है।

यह नय, संकल्प मात्र को ग्रहण करता है। जगत् में वैसी घटना पूर्व में घटी या नहीं घटी, घटेगी या नहीं - इससे इसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इसकी दुनिया संकल्पों में घटित घटनाएँ हैं। संकल्प-जगत् में तो वह सब कुछ वर्तमान में घटित हो ही रहा है, जो यह नय कहता है,

भले ही वह कार्य, वस्तु-जगत् में अनिष्पन्न है।

जिस पाषाण में से मूर्ति बनाना निश्चित हो चुका है, उस पाषाण को दिखाकर यही कहा जाता है कि **यह रही आपके ऑर्डर की मूर्ति।** भावी चौबीसी के तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा भी इसी नय का प्रयोग है।

धवला में कहा गया है कि किसी मनुष्य को पापी लोगों का समागम करते देखकर नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष, नारकी है।[1] यद्यपि पापी पुरुषों की संगति करनेवाला व्यक्ति, नरक जाने की इच्छा नहीं रखता, तथापि उसके वर्तमान परिणाम देखकर, ज्ञानीजनों के चित्त में उसके भविष्य के बारे में कल्पना खड़ी होती है, अतः वे उसे भावी नैगमनय से नारकी कह देते हैं।

नैगमनय की उक्त व्याख्या ज्ञाननय की अपेक्षा है। अर्थनय की अपेक्षा भी नैगमनय का विचार जिनागम में किया गया है। इस सन्दर्भ में आचार्य विद्यानन्दि[2] लिखते हैं -

अथवा 'नैकं गमो नैगमः' - इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जो एक को विषय नहीं करता, वह नैगमनय है। अर्थात् जो मुख्य-गौणरूप से दो धर्मों को, दो धर्मियों को अथवा धर्म व धर्मी दोनों को विषय करता है, वह नैगमनय है।

यहाँ सर्वार्थसिद्धि वचनिका का यह प्रश्नोत्तर भी ध्यान देने योग्य है -

प्रश्न - दो धर्मों या धर्म और धर्मी दोनों को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहना चाहिए, उसे नैगमनय कैसे कह सकते हैं?

उत्तर - प्रमाण दोनों को प्रधान करता है, पर यह नैगमनय दोनों

---

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 527
2. नय-विवरण, श्लोक 35, श्लोकवार्तिक

में से एक को प्रधान करता है और एक को गौण करता है - ऐसा विशेष अन्तर जानना चाहिए।

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि अर्थनय की अपेक्षा नैगमनय तीन तरह से द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु को विषय बनाता है -

(1) दो धर्मियों में एकता का संकल्प (2) दो धर्मों में एकता का संकल्प और (3) धर्म व धर्मी में एकता का संकल्प। इन्हें क्रमशः 1. द्रव्य नैगमनय, 2. पर्याय नैगमनय तथा 3. द्रव्य-पर्याय नैगमनय भी कहा जाता है। इन तीन नयों के क्रमशः 2, 3 और 4 भेद होते हैं।

निम्नलिखित तालिका में इन नौ भेदों के नाम दिये जा रहे हैं। इनका विस्तृत विवेचन, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि वचनिका, अध्याय 1 सूत्र 33 की टीका तथा द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, परिशिष्ट 2, नय-विवरण, पृष्ठ 238-245 से जानना चाहिए।

अ. द्रव्य नैगमनय	1. शुद्धद्रव्य नैगमनय
	2. अशुद्धद्रव्य नैगमनय
ब. पर्याय नैगमनय	3. अर्थपर्याय नैगमनय
	4. व्यंजनपर्याय नैगमनय
	5. अर्थ-व्यंजनपर्याय नैगमनय
स. द्रव्य-पर्याय नैगमनय	6. शुद्धद्रव्य-अर्थपर्याय नैगमनय
	7. अशुद्धद्रव्य-अर्थपर्याय नैगमनय
	8. शुद्धद्रव्य-व्यंजनपर्याय नैगमनय
	9. अशुद्धद्रव्य-व्यंजनपर्याय नैगमनय

इसप्रकार नैगमनय के ज्ञाननय की अपेक्षा 3 तथा अर्थनय की अपेक्षा 9, कुल 12 भेद जानना चाहिए। आगम के आधार पर इनके

और भी भेद किये जा सकते हैं।[1] यह अत्यन्त व्यापक नय है, जिसमें द्रव्य-गुण-पर्यायरूप समस्त अर्थात्मक जगत् तथा भूत-वर्तमान-भविष्यरूप ज्ञानात्मक जगत् समा जाता है।

संग्रहनय

समस्त पदार्थों की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्ता मात्र को ग्रहण करनेवाला ज्ञान, संग्रहनय कहलाता है। श्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्दिजी लिखते हैं -

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण द्वारा अपनी जाति का विरोध न करते हुए, सभी विशेषों का एकत्वरूप से ग्रहण करना, संग्रहनय है।[2] सत्ता एक ऐसी विशेषता है, जिसके आधार पर समस्त विश्व का (अलोकसहित) संग्रह किया जा सकता है।

यहाँ संग्रह करने के लिए बाहर में कुछ नहीं करना है, ज्ञान में समस्त विश्व को मात्र सत् रूप से जानना है अर्थात् समस्त द्रव्यों के जातिगत भेद को गौण करके सत्ता मात्र को मुख्य करके जानना है।

विश्व के सभी पदार्थों की संयुक्त सत्ता को महासत्ता कहा जाता है तथा प्रत्येक द्रव्य की भिन्न-भिन्न सत्ता को अवान्तर सत्ता कहा जाता है। महासत्ता को जाननेवाला ज्ञान, शुद्ध संग्रहनय, सामान्य संग्रहनय या पर संग्रहनय कहा जाता है और अवान्तर सत्ता को जाननेवाला ज्ञान, अशुद्ध संग्रहनय, विशेष संग्रहनय तथा अपर संग्रहनय कहा जाता है।

---

1. देखो, नय-विवरण, पृष्ठ 239; यहाँ अर्थपर्याय नैगमनय के तीन, व्यंजनपर्याय नैगमनय के छह और अर्थ-व्यंजनपर्याय नैगमनय के तीन तथा द्रव्य-पर्याय नैगमनय के आठ भेद किये गये हैं; आगे जाकर उन्होंने प्रत्येक नैगमनय सम्बन्धी नैगमाभास का कथन भी लिया है, जो मूलतः पठनीय है।
2. नय-विवरण, श्लोक 63

शुद्ध संग्रहनय में सभी पदार्थों की सत्ता का संग्रह करके विश्व, जगत् आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है और **अशुद्ध संग्रहनय** में एक ही जाति की अवान्तर सत्ताओं का संग्रह करके जीव, पुद्गल आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। सभी समूहवाचक संज्ञाओं का प्रयोग अशुद्ध संग्रहनय का प्रयोग है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, ज्ञानी, अज्ञानी, पापी, पुण्यात्मा, भोगी, त्यागी आदि हजारों शब्दों के माध्यम से हम अशुद्ध संग्रहनय का ही प्रयोग करते हैं, क्योंकि इन शब्दों के द्वारा उनके वाच्यभूत एक जाति के अनेक पदार्थों का सामूहिक ज्ञान किया जाता है।

जिनागम में चौदह जीवसमास अथवा बीस प्ररूपणाएँ कही गई हैं। यह सब अशुद्ध संग्रहनय का ही प्रयोग है। यहाँ अशुद्धता से आशय रागादि विकार न होकर महासत्ता में गर्भित भेदों को ग्रहण करने से है। अशुद्ध संग्रहनय का विषय, मात्र एक जाति-विशेष के पदार्थों का समुदाय होता है, अन्य जाति के पदार्थ उसकी सीमा से बाहर हो जाते हैं, अतः सम्पूर्ण पदार्थों का संग्रह नहीं किया जाता, यही अपूर्णता ही उसकी अशुद्धता है; जबकि शुद्ध संग्रहनय के विषय में सम्पूर्ण सृष्टि समा जाती है, यही पूर्णता ही उसकी शुद्धता है।

'द्रव्य' शब्द से समस्त द्रव्यों का, 'गुण' शब्द से समस्त गुणों का तथा 'पर्याय' शब्द से समस्त पर्यायों का संग्रह करना भी अशुद्ध संग्रहनय या अपर संग्रहनय है।

द्रव्य के समान क्षेत्र, काल और भावों के संग्रह के प्रयोग भी हमारे जीवन में देखे जाते हैं। ग्राम, नगर, देश आदि शब्दों से आकाश के विशेष 'प्रदेशों का संग्रह' करके सम्बोधित किया जाता है। काल के भी 'एक समयवर्ती अनेक अंशों का संग्रह' करके घड़ी, घंटा, दिवस, माह, वर्ष, शताब्दी आदि का प्रयोग किया जाता है। भाव के अन्तर्गत जीव

के पाँच असाधारण भावों का वर्गीकरण तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 2, सूत्र 1 में औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक के रूप में किया गया है। एक ही प्रकार के अनेक भावों का संग्रह करके ही यह वर्गीकरण सम्भव है।

हमारे लौकिक जीवन में भी संग्रहनय का प्रयोग अनिवार्य है। परिवार, समाज, राष्ट्र, कक्षा, सेना, विभिन्न संस्थाएँ, ग्राम-सभा, नगर-निगम, विधान-सभा, संसद, सरकार आदि सभी समूह, संग्रहनय के प्रयोग हैं, जिनके बिना हम अपने लौकिक जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते।

उपर्युक्त समूह तो व्यवस्था के आधार पर करना आवश्यक हैं; परन्तु संस्कारों, विचारों, रीति-रिवाज, रहन-सहन, भाषा आदि के आधार पर भी यह मानव-समाज हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन, दिगम्बर, श्वेताम्बर, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि अनेक समुदायों में विभक्त है। संकीर्ण विचारधारा के आधार पर स्थापित ये समुदाय राग-द्वेष की लम्बी परम्परा के कारण बन रहे हैं। यहाँ मात्र संग्रहनय के स्वरूप और विभिन्न प्रयोगों का प्रकरण है, अतः हम राग-द्वेष सम्बन्धी प्रकरण का विस्तार नहीं कर रहे हैं।

प्रश्न – शुद्ध संग्रहनय का विषय भी सत् मात्र है और दर्शनोपयोग भी सत्ता मात्र को ग्रहण करता है तो इन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर – शुद्ध संग्रहनय, अवान्तर सत्ता को गौण करके महासत्ता को मुख्य करके जानता है तथा उसमें सत्ता के स्वरूप का आकार भी ज्ञान में बनता है, जबकि दर्शनोपयोग निराकार होता है तथा उसमें मुख्य-गौण करने की प्रक्रिया नहीं होती है।

प्रश्न – एकान्त अद्वैतवादी भी महासत्ता को स्वीकार करते हैं,

उनमें तथा शुद्ध संग्रहनय में क्या अन्तर है?

उत्तर – शुद्ध संग्रहनय में अवान्तर सत्ताओं का सर्वथा निषेध नहीं है, अतः यह नय, सम्यक्-एकान्त है, जबकि एकान्त अद्वैतवादी उनका सर्वथा निषेध करने से मिथ्या एकान्ती हैं। सर्वार्थसिद्धि वचनिका, अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका में इन्हें संग्रहाभास या कुनय कहते हुए कहा है कि सांख्यमती एकान्त से प्रधान को, व्याकरणवाले शब्दाद्वैत को, वेदान्ती पुरुषाद्वैत को और बौद्धमतवाले संवेदनाद्वैत को मानते हैं। ये सब नय, मिथ्या-एकान्तवादी हैं।

इसप्रकार संग्रहनय का प्रयोग हमारे जीवन में अत्यन्त गहराई से व्याप्त है।

व्यवहारनय

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 273 के अनुसार – जो नय, संग्रहनय के द्वारा अभेदरूप से गृहीत वस्तुओं का परमाणुपर्यन्त भेद करता है, वह व्यवहारनय है।

सर्वार्थसिद्धि वचनिका के अनुसार – संग्रहनय से ग्रहण किये गये वस्तु-समूह का विधिपूर्वक भेद, व्यवहारनय करता है। कोई पूछता है विधि क्या है? उससे कहते हैं – संग्रहनय से ग्रहण किये गये पदार्थों से शुरू करके, उसके विशेषों के आधार पर भेद करना ही विधि है।[1]

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 209 के अनुसार – जो संग्रहनय के द्वारा गृहीत शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ का भेद करता है, वह व्यवहारनय है। अशुद्ध अर्थ का भेद करनेवाला अशुद्ध व्यवहारनय और शुद्ध अर्थ का भेद करनेवाला शुद्ध व्यवहारनय है।

महासत्ता, शुद्ध संग्रहनय का विषय है और उसमें जातिवाचक

1. अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका

जीव और अजीव - इन दो जाति के द्रव्यों का भेद करना, शुद्ध व्यवहार है। जीव-पुदगलादि की अवान्तर सत्ता अशुद्ध संग्रहनय का विषय है और जीव के संसारी और सिद्ध तथा अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल - ऐसे पाँच भेद करना, अशुद्ध व्यवहारनय है।

अशुद्ध व्यवहारनय के द्वारा किया जानेवाला यह विभाजन, अन्तिम अविभाज्य अंश तक किया जा सकता है।

प्रश्न - नैगमादि सप्त नयों के अन्तर्गत व्यवहारनय में और निश्चय-व्यवहारनय के अन्तर्गत व्यवहारनय में क्या अन्तर है?

उत्तर - सप्त नय में प्रयुक्त व्यवहारनय, अनेक पदार्थों के संग्रह में भिन्न-भिन्न लक्षणों के आधार पर भेद करते हुए अन्तिम अविभाज्य इकाई तक अर्थात् सादृश्य-अस्तित्व से स्वरूप-अस्तित्व तक पहुँचता है। जबकि निश्चय-व्यवहारवाला, व्यवहारनय उस अन्तिम इकाई का अन्य इकाइयों से कर्ता-कर्म, स्व-स्वामी आदि सम्बन्ध स्थापित करता है। यह व्यवहार, निश्चय का प्रतिपादक और निश्चय द्वारा निषेध्य है। यह व्यवहार, अभेद वस्तु में भेद करता है तो दो भिन्न इकाइयों में सम्बन्ध भी स्थापित करता है।

संग्रहनय और व्यवहारनय, एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करने पर भी एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि संग्रहनय, सन्धि करता है तो व्यवहारनय, सन्धि-विच्छेद करता है। यदि संग्रहनय, समास करता है तो व्यवहारनय, समास-विग्रह करता है।

नैगम, संग्रह और व्यवहारनय - इन तीन नयों को द्रव्यार्थिकनय के अन्तर्गत माना गया है तो ऋजुसूत्र आदि चार नयों में पर्यायार्थिकनय के अन्तर्गत माना है। यद्यपि महासत्ता को विषय बनानेवाला संग्रहनय, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय और उसमें अवान्तर सत्ता के भेद को विषय बनानेवाला व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहलाता है, तथापि संग्रहनय के शुद्ध

संग्रहनय और अशुद्ध संग्रहनय तथा व्यवहारनय के भी शुद्ध व्यवहारनय और अशुद्ध व्यवहारनय – ऐसे दो भेद भी किये गये हैं।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि समानता के आधार पर अनेक वस्तुओं में एकता, स्थापित करने पर भी प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नष्ट नहीं हो जाती है। यदि उनकी स्वतन्त्र सत्ता का सर्वथा निषेध किया जाए तो अद्वैतैकान्त का प्रसंग आता है जो कि जैनशासन में निषिद्ध है।

इसीप्रकार सर्वथा द्वैत भी जैनशासन को अनिष्ट है, क्योंकि अनेक वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता, भिन्न-भिन्न होने पर भी उनमें जातिगत समानता के आधार पर स्थापित की गई एकता भी सर्वथा काल्पनिक नहीं है। इसकी उपयोगिता पर संग्रहनय के प्रकरण में चर्चा की जा चुकी है।

व्यवस्था के लिए संग्रह और व्यवहार दोनों नय उपयोगी हैं। संग्रहनय समष्टि की ओर ले जाता है तो व्यवहारनय व्यष्टि की ओर। जिसप्रकार लोक में व्यक्ति और समाज दोनों उपयोगी हैं, उसीप्रकार आत्महित में नर-नारकादि पर्यायों का तथा उनमें विद्यमान स्वतन्त्र जीवद्रव्य का स्वरूप जानना परम आवश्यक है।

प्रश्न – मनुष्यादि पर्यायें किस नय का विषय बनती हैं?

उत्तर – ढाई द्वीप के सभी जाति, भाषा, धर्म आदि के मनुष्यों को 'मनुष्य' शब्द में समाहित कर लिया जाए तो यह संग्रहनय का विषय है और यदि त्रस जीवों के एक भेद के रूप में मनुष्य पर्याय को देखा जाए तो वह व्यवहारनय का विषय है। इसीप्रकार अन्य पर्यायों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

इस सन्दर्भ में परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 261-262 पर दिया

गया स्पष्टीकरण ध्यान देने योग्य है, जो इसप्रकार है -

सादृश्यास्तित्व से लेकर स्वरूपास्तित्व के बीच ऐसे अनेक बिन्दु हैं, जो संग्रह व व्यवहार दोनों ही नयों के विषय बनते हैं, पर दोनों नयों के दृष्टिकोण, अलग-अलग होने से दोनों के मुख परस्पर विरुद्ध ही रहते हैं।

संग्रहनय संग्रहोन्मुखी है और व्यवहारनय विभाजनोन्मुखी। जब हम जीवों को गतियों की अपेक्षा चार भागों में विभाजित करते हैं और कहते हैं कि जीव के चार प्रकार हैं - देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; तब 'मनुष्य', व्यवहारनय का विषय बनता है; किन्तु जब हम 'मनुष्य' शब्द से मनुष्य गति के समस्त जीवों का संग्रह करते हैं, तब वह संग्रहनय का विषय बनता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दृष्टियों से देखे जाने पर मनुष्य, संग्रह और व्यवहार दोनों ही नयों का विषय बन जाता है।

संग्रह-व्यवहार के इस चक्र के मध्य स्थित असंख्य बिन्दुओं को हम अपनी आवश्यकतानुसार ग्रहण करते रहते हैं और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए उनके संग्रह और व्यवहारपने का उपयोग किया करते हैं।

परस्पर विरुद्ध दिखनेवाले संग्रहनय और व्यवहारनय, उन दो व्यापारी बन्धुओं के समान हैं, जिनमें एक माल खरीदने का काम करता है और दूसरा बेचने का। यद्यपि खरीदने और बेचने की क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं, तथापि उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, अपितु वे एक-दूसरे की पूरक क्रियाएँ हैं, क्योंकि यदि खरीदनेवाला भाई माल खरीदकर न लाए तो फिर बेचनेवाला भाई बेचेगा क्या? इसीप्रकार यदि माल बेचा न जाएगा तो खरीदने मात्र से क्या लाभ होनेवाला है? लाभ

तो खरीदने एवं बेचने – दोनों क्रियाओं के सम्पन्न हो जाने पर ही होनेवाला है। खरीदने-बेचने, बेचने-खरीदने की यह क्रिया, जितनी अधिक होगी, लाभ भी उतना ही अधिक होनेवाला है।

इसीप्रकार व्यवहारनय, संग्रहनय द्वारा संगृहीत विषयों को विभाजित करता है और संग्रहनय, व्यवहारनय द्वारा विभाजित विषयों को संगृहीत करता है। यद्यपि संग्रह और विभाजन की ये क्रियाएँ, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं, तथापि उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, अपितु वे एक-दूसरे की पूरक क्रियाएँ ही हैं, क्योंकि यदि संग्रहनय द्वारा अनेक पदार्थ संगृहीत नहीं किये जाएँगे तो व्यवहारनय, विभाजन किसका करेगा? इसीप्रकार यदि व्यवहारनय द्वारा पदार्थ विभाजित नहीं होंगे तो संग्रहनय किसका संग्रह करेगा?

संग्रह और विभाजन की यह क्रिया, ज्ञान में जितनी अधिक सम्पन्न होती है, वस्तु-स्वरूप भी ज्ञान में उतना ही अधिक स्पष्ट प्रतिभासित होता है।

ऋजुसूत्रनय

सामान्यग्राही द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद संकल्पग्राही नैगमनय, अद्वैतग्राही संग्रहनय एवं द्वैतग्राही व्यवहारनय का वर्णन करने के पश्चात् विशेषग्राही पर्यायार्थिकनयों के चार भेदों में ऋजुसूत्रनय पर विचार करने का क्रम है।

श्लोकवार्तिक, नय-विवरण, श्लोक 75 के अनुसार – ऋजुसूत्रनय मुख्यरूप से क्षण-क्षण में ध्वस्त होनेवाली पर्यायों को वस्तुरूप से विषय करता है, विद्यमान होते हुए भी विवक्षा नहीं होने से इसमें द्रव्य की गौणता है।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 210-211 में ऋजुसूत्रनय के

दो भेदों का उल्लेख इसप्रकार किया गया है - जो द्रव्य में एक समयवर्ती अध्रुव पर्याय को ग्रहण करता है, उसे **सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय** कहते हैं। जैसे, सभी शब्द क्षणिक हैं और जो अपनी स्थिति पर्यन्त रहनेवाली मनुष्य आदि पर्याय को उतने समय तक मनुष्य पर्यायरूप से ग्रहण करता है, वह **स्थूल ऋजुसूत्रनय** है।

सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, एक समयवर्ती अर्थपर्याय को अपना विषय बनाता है, जिसे शुद्ध ऋजुसूत्रनय भी कहते हैं और स्थूल ऋजुसूत्रनय अनेक समयवर्ती व्यंजनपर्याय को अपना विषय बनाता है, जिसे अशुद्ध ऋजुसूत्रनय भी कहते हैं।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि एक समयवर्ती पर्याय हमारे क्षयोपशम ज्ञान का विषय नहीं बन सकती, उसे अनुमान अथवा आगम प्रमाण से जाना जा सकता है, उसके माध्यम से जगत् में कुछ व्यवहार सम्भव नहीं है। एक समयवर्ती पर्यायें धारावाहीरूप से असंख्य समय तक होती रहें, तभी छद्मस्थ जीवों के ज्ञान का विषय बनती हैं। यही कारण है कि स्थूल या अशुद्ध ऋजुसूत्रनय का व्यवहार, अनेक पर्यायों के समूहरूप व्यंजन पर्यायों के आधार से ही चलता है। जिनागम में इन्हें भी पर्याय संज्ञा दी गई है।

यद्यपि वास्तविक वर्तमान एक समय का ही होता है तथा दिन, माह, वर्ष, शताब्दी आदि स्थूल कालसूचक इकाइयों में अनेक समयों को संगृहीत करके उन्हें भी वर्तमान कहने का व्यवहार लोक में तो प्रसिद्ध है ही, जिनागम में भी मान्य है। ऋषभादि चौबीस तीर्थंकर हजारों-लाखों वर्षों पहले सिद्ध हो चुके हैं, परन्तु आज भी उन्हें वर्तमान चौबीसी के तीर्थंकर कहे जाने का व्यवहार है।

यह बात भी विचारणीय है कि कहने-सुनने में भले ही सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का प्रयोग न होता हो, परन्तु स्थूल कार्यों की सम्पन्नता में

उसमें समाहित सूक्ष्म कार्यों को भी सम्पन्न करना ही पड़ता है, उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। भोजन बनाना/करना, व्यापार करना अथवा मकान बनाना आदि स्थूल कार्यों के बारे में ही कहने-सुनने का व्यवहार जगत् में सम्भव है। इसमें गर्भित अति सूक्ष्म बातों के बारे में कहना न तो सम्भव है और न व्यावहारिक, परन्तु इन कार्यों को करने में इनके प्रत्येक सूक्ष्म अंशों को भी सम्पन्न करना पड़ता है।

यही स्थिति, गति आदि क्रियाओं में है। कोई व्यक्ति, एक नगर से दूसरे नगर में जाने के लिए इतना ही कहेगा कि मुझे दिल्ली से मुम्बई जाना है। वह चाहे जिस साधन से या जिस गति से जाए, इन दोनों नगरों के बीच की एक-एक इंच दूरी उसे पार करनी ही पड़ेगी।

काल के प्रयोग में भी यही प्रक्रिया है। कोई व्यक्ति एक बार में ही कह सकता है कि मैं साठ वर्ष का हूँ, परन्तु 60 वर्ष का होने में उसने प्रत्येक वर्ष के 365 दिन, प्रत्येक दिन के 24 घण्टे तथा उसमें समाहित प्रत्येक घण्टे, मिनिट और सेकेण्ड व्यतीत किये हैं। इसप्रकार एक समय, एक परमाणु, एक प्रदेश आदि सूक्ष्म इकाइयाँ यद्यपि छद्मस्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान-गम्य नहीं हैं, तथापि आज के वैज्ञानिक अनुसन्धानों में एक सेकेण्ड और मिलीमीटर के भी हजारों भागों की गणना होती है।

तात्पर्य यह है कि कथन स्थूल होने पर भी कार्य सम्पन्न होने में यथासम्भव सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के विषय का प्रयोग होता ही है।

शब्दनय

ज्ञाननय से सम्बन्धित नैगमनय और अर्थनय से सम्बन्धित नैगम, संग्रह, व्यवहार एवं ऋजुसूत्रनय के स्वरूप पर विचारोपरान्त अब शब्दनय की चर्चा का क्रम है।

तत्त्वार्थ सूत्र में उल्लिखित सात नयों में भाषा के प्रयोग से

सम्बन्धित शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूतनय का उल्लेख किया गया है; अतः इन तीन नयों को शब्दनय के भेद भी माना गया है, क्योंकि ये तीन नय शब्द-प्रयोगों पर ही विचार करते हैं तथा उन्हें व्यवस्थित करनेवाले नियमों का प्रतिपादन करते हैं। शब्द, पुद्गलद्रव्य की व्यंजन पर्याय है, अतः इन्हें व्यंजननय या पर्यायार्थिकनय भी कहा जाता है।

हमारे लोकजीवन में भाषा की महत्ता से हम सभी भलीभाँति परिचित हैं। हमारी बोलचाल की भाषा में अनेक दोष भी होते हैं, जिनका परिहार व्याकरण द्वारा किया जाता है। व्याकरण-सम्मत भाषा में और अधिक कसावट लाने के लिए तथा शब्द-प्रयोगों की बारीकियों को समझने के लिए शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूतनय का प्रयोग किया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका में शब्दनय की परिभाषा बताते हुए कहा है कि लिंग, संख्या, साधन आदि के व्यभिचार (दोष) की निवृत्ति करनेवाला शब्दनय है।

यहाँ 'व्यभिचार' शब्द से आशय सदोष कथन से है, क्योंकि वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन में निर्दोष भाषा का प्रयोग होना चाहिए। लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष, उपग्रह (उपसर्ग) आदि सम्बन्धी प्रयोगों में दोष उत्पन्न हो जाएँ तो लोक में भले ही स्वीकार कर लिये जाते हैं तथा अपवाद के रूप में व्याकरण को भी स्वीकार हो जाते हैं, परन्तु शब्दनय उन्हें स्वीकार नहीं करता अर्थात् वह दोष को दोष ही मानता है।

वाक्य-प्रयोग में जिस लिंग, संख्या, काल आदि का प्रयोग उचित है, वैसा न करके अन्य लिंग, संख्या आदि का प्रयोग करना ही लिंग, संख्या आदि का व्यभिचार कहलाता है।

सम्पूर्ण जिनागम में जहाँ भी इन नयों की व्याख्या की गई है, वहाँ संस्कृत-व्याकरण के आधार पर ही इन दोषों को समझाया गया है। संस्कृत भाषा से अपरिचित लोगों को इन प्रयोगों का भाव समझ में नहीं आता, इसलिए इन्हें वर्तमान में प्रचलित भाषा के सन्दर्भ में समझना आवश्यक है; अतः यहाँ हिन्दी भाषा के गलत और सही प्रयोगों को उदाहरण बनाकर लिंग, संख्या आदि सम्बन्धी दोषों को स्पष्ट किया जा रहा है। प्रायः अहिन्दी भाषी लोगों द्वारा हिन्दी बोलते समय ऐसे दूषित प्रयोग किये जाते हैं।

लिंग-व्यभिचार – स्त्रीलिंग या पुल्लिंग शब्दों के साथ गलत वाक्य-प्रयोग लिंग-व्यभिचार कहलाता है। **आज हमारा बेटी आ रहा है।** यहाँ बेटी स्त्रीलिंग है, अतः 'हमारा' के स्थान पर 'हमारी' और 'आ रहा है' के स्थान पर 'आ रही है' होना चाहिए, इसलिए **आज हमारी बेटी आ रही है** – यह वाक्य सही है।

संख्या-व्यभिचार – एकवचन या बहुवचन सम्बन्धी शब्दों के साथ अनुचित वाक्य-प्रयोग संख्या-व्यभिचार कहलाता है। **हम आ रहा हूँ** – इस वाक्य में या तो **हम** के स्थान पर **मैं** शब्द का प्रयोग होना चाहिए अथवा **आ रहा हूँ** के स्थान पर **आ रहे हैं** अर्थात् बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए, अतः **मैं आ रहा हूँ या हम आ रहे हैं** – यह वाक्य-प्रयोग सही है।

साधन-व्यभिचार – कर्ता, कर्म आदि कारकों के अनुचित प्रयोगों को साधन-व्यभिचार कहते हैं। रमेश ने सुरेश को फोन किया और यदि सुरेश की जगह दूसरे व्यक्ति ने फोन उठाया तो वह सुरेश से प्रायः यही कहेगा कि **आपका फोन आया है,** जबकि रमेश का फोन सुरेश के लिए आया है, अतः सुरेश से यह कहना कि **आपका फोन**

आया है – यह सही वाक्य नहीं है, क्योंकि फिर यदि सुरेशजी पूछेंगे कि किसका फोन आया है तो फिर से यही कहा जाएगा कि आपका, जबकि सुरेशजी यह जानना चाहते हैं कि मुझे फोन किसने किया है? अतः यही कहना चाहिए कि **आपके लिए रमेश का फोन आया है।**

पुरुष-व्यभिचार – उत्तम, मध्यम एवं अन्य पुरुष का दोषपूर्ण प्रयोग, पुरुष-व्यभिचार कहलाता है। जैसे, **तुम कब आयेंगे** – इस प्रयोग में 'तुम' के साथ 'आयेंगे' की जगह 'आओगे' शब्द का प्रयोग करके **तुम कब आओगे** – यह प्रयोग होना चाहिए।

काल-व्यभिचार – भूत, भविष्य और वर्तमान काल का अनुचित प्रयोग, काल-व्यभिचार कहलाता है। बहुधा किसी भी सभा के संचालक को प्रमुख वक्ता से इन शब्दों में अनुरोध करते हुए सुना जा सकता है कि **अब मैं माननीय पण्डितजी से अनुरोध करूँगा कि वे अपना वक्तव्य प्रारम्भ करें।** जरा सोचिए! अनुरोध तो अभी किया जा रहा है, फिर 'करूँगा' कहना कहाँ तक उचित है? अतः **अब मैं अनुरोध करता हूँ** – यह कहना निर्दोष है। इसीप्रकार प्रायः हर व्यक्ति फोन करते समय यह कहते हुए सुना जाता है कि **मैं अमुक बोल रहा था,** वर्तमान में बोल रहे हैं, फिर भी 'बोल रहा था' कहना उचित है क्या? अतः **मैं बोल रहा हूँ** – ऐसा कहना ही उचित है।

इसीप्रकार अन्य अपेक्षाओं से भी गलत प्रयोग किये जाते हैं। बहुत-से लोग किसी की प्रशंसा करते समय अनुचित विशेषणों का प्रयोग करते हुए बेझिझक कहते हुए सुने जा सकते हैं – **अरे भाई! उन जैसा भयंकर विद्वान् आज तक नहीं देखा।** वे यह भी नहीं सोचते कि क्या विद्वान् भयंकर होते हैं? भय उत्पन्न करनेवाले होते हैं या प्रभावशाली आदि होते हैं, अतः **भयंकर** के स्थान पर लोकप्रिय, प्रभावशाली, प्रखर

आदि विशेषणों का प्रयोग करना चाहिए।

विशेषणों के प्रयोग के समय यह ध्यान भी रखना चाहिए कि विशेषण, विशेष्य के निकटतम हो, यदि उनके बीच में अन्य शब्द होंगे तो अर्थ अस्पष्ट या विपरीत भी हो सकता है। एक दूध की डेरी पर यह सूचना लिखी देखी – **यहाँ शुद्ध भैंस का दूध मिलता है।** इस वाक्य से क्या समझा जाए? भैंस शुद्ध है या दूध शुद्ध है? अतः **यहाँ भैंस का शुद्ध दूध मिलता है** – यह वाक्य बात को अधिक स्पष्ट करता है।

आजकल ऐसी दोषपूर्ण भाषा का प्रयोग इतना अधिक होता जा रहा है कि भाषा का रूप ही बदलता जा रहा है, परन्तु 'शब्दनय', ऐसे प्रयोगों को अनुचित मानता है।

शब्दनय के अनुसार समान लिंग या संख्यावाले शब्द ही एकार्थवाची हो सकते हैं, अन्य नहीं। इस सन्दर्भ में नयदर्पण, पृष्ठ 305-306 पर व्यक्त किये गये श्री जिनेन्द्रजी वर्णी के विचार ध्यान देने योग्य हैं –

जिसप्रकार भिन्न-स्वभावी पदार्थ भिन्न ही होते हैं, उनमें किसी प्रकार भी अभेद नहीं देखा जा सकता; उसीप्रकार भिन्न लिंग आदि वाले शब्द भी भिन्न ही होते हैं, उनमें भी किसी प्रकार की एकार्थता घटित नहीं हो सकती। इसप्रकार दार, भार्या, कलत्र – ये भिन्न लिंगवाले तीन शब्द अथवा नक्षत्र, पुनर्वसू, शतभिषज – ये भिन्न संख्यावाले तीन शब्द और इसीप्रकार अन्य भी भिन्न स्वभाववाची शब्द, भले ही व्यवहार में या लौकिक व्याकरण में एकार्थवाची समझे जाएँ, परन्तु शब्दनय इनको भिन्न अर्थ का वाचक समझता है।

अतः समान लिंग व संख्या वाले शब्दों में ही एकार्थवाचकता बन सकती है। जैसे इन्द्र, पुरन्दर, शक्र – ये तीनों शब्द, समान

पुल्लिंगी होने के कारण एक 'शचीपति' के वाचक हैं – ऐसा शब्दनय कहता है।

तात्पर्य है कि काल, कारक, लिंग, संख्या, वचन और उपसर्ग के भेद से शब्द के अर्थ में भेद मानने को शब्दनय कहते हैं।

समभिरूढ़नय

समभिरूढ़नय, शब्दनय से भी अधिक सूक्ष्म है। शब्दनय लिंग, संख्या, काल आदि दोषों से रहित एकार्थवाची शब्दों की सत्ता स्वीकार करता है, परन्तु समभिरूढ़नय, एकार्थवाची शब्दों के भी भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है, उन्हें एकार्थवाची नहीं कहता है।

शब्दनय द्वारा ग्रहण किये गये समान स्वभावी एकार्थवाची शब्दों में निरुक्ति या व्युत्पत्ति-अर्थ से अर्थभेद स्वीकार करना, समभिरूढ़नय का मुख्य कार्य है। इसके पक्ष में यह तर्क विचारणीय है कि लोक में जितने पदार्थ हैं, उनके वाचक शब्द भी उतने ही हैं। यदि अनेक शब्दों का एक ही अर्थ माना जाएगा तो उनके वाच्य पदार्थ भी मिलकर एक हो जाएँगे, परन्तु यह सम्भव नहीं है; अतः प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न स्वीकार करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में सर्वार्थसिद्धि टीका में समागत निम्न विचार ध्यान देने योग्य हैं –

अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में एक अर्थ का एक शब्द से ज्ञान हो जाता है, इसलिए पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दों में भेद है तो उनमें अर्थभेद भी अवश्य होना चाहिए। इसप्रकार नाना अर्थों का समभिरोहण करनेवाला समभिरूढ़नय कहलाता है। जैसे, इन्द्र, शक्र और पुरन्दर – ये तीन भिन्न शब्द होने से इनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न

तीन ही होते हैं। 'इन्द्र' का अर्थ आज्ञा व ऐश्वर्यवान् है, 'शक्र' का अर्थ समर्थ है और 'पुरन्दर' का अर्थ नगरों का विभाजन करनेवाला है। इसीप्रकार सर्वत्र पर्यायवाची शब्दों के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

नारायण श्रीकृष्ण के लोक में बहुत-से नाम प्रचलित हैं। यथा - मुरलीधर, मनमोहन, मुरारी, गिरधर, गोपाल इत्यादि। यद्यपि शब्दनय के अनुसार ये सब कृष्ण के पर्यायवाची हैं, तथापि समभिरूढ़नय से प्रत्येक शब्द का अलग-अलग अर्थ है - जो कृष्ण की ही भिन्न-भिन्न विशेषताओं (लीलाओं) को बताता है।

इन्द्र द्वारा 1008 नामों से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति की जाती है। ये सभी नाम, शब्दनय से जिनेन्द्र के पर्यायवाची हैं, परन्तु समभिरूढ़नय से प्रत्येक नाम, अपने अनुरूप अलग-अलग गुणों (विशेषताओं) का वाचक है। इस सन्दर्भ पर भक्तामर स्तोत्र में समागत निम्न काव्य ध्यान देने योग्य है -

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धि-बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात्।
धाताऽसि धीर! शिवमार्ग-विधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि॥

ज्ञान पूज्य है अमर आपका, इसीलिए कहलाते बुद्ध।
भुवनत्रय के सुख-संवर्धक, अतः तुम्हीं शंकर हो शुद्ध॥
मोक्षमार्ग के आद्य प्रवर्तक, अतः विधाता कहें गणेश।
तुम-सम अवनी पर पुरुषोत्तम, और कौन होगा? अखिलेश!॥

यहाँ विशेष ध्यानाकर्षक बात यह है कि व्युत्पत्ति अर्थ के आधार पर पर्यायवाची शब्दों के अनेक अर्थ स्वीकार करने का यह आशय कदापि नहीं है कि उन शब्दों के वाच्यभूत पदार्थ भी भिन्न-भिन्न हों। प्रत्येक शब्द, उसी वाच्यार्थ की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को बताता

है, जिन्हें एकार्थवाचक शब्दनय द्वारा स्वीकार किया जाता है।

जिसप्रकार हाथी, घोड़ा और बैल शब्द के वाच्य भिन्न-भिन्न पशु होते हैं; परन्तु इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द के वाच्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं, अपितु ये देवराज इन्द्र की ही भिन्न-भिन्न विशेषताओं के वाचक हैं।

समभिरूढ़नय की उक्त व्याख्या, एक वाच्य के अनेक वाचक (एकार्थवाची) के सन्दर्भ में है। अब एक वाचक शब्द के अनेक वाच्यार्थों के सन्दर्भ में समभिरूढ़नय के स्वरूप का विचार करते हैं -

आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि टीका में लिखते हैं - जो नाना अर्थों को छोड़कर, प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है, वह समभिरूढ़नय है। जैसे, 'गो' शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तो भी वह गाय नामक पशु के अर्थ में रूढ़ है।

समभिरूढ़नय के उक्त दोनों भेदों को स्पष्ट करते हुए द्रव्यस्वभाव-प्रकाशक नयचक्र, गाथा 214 में कहा गया है -

जो अर्थ को शब्दारूढ़ एवं शब्द को अर्थारूढ़ कहता है, वह समभिरूढ़नय है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर।

शब्दारूढ़ - समान स्वभावी एकार्थवाची शब्दों में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद करना, शब्दारूढ़ नय है। जैसे - इन्द्र, शक्र और पुरन्दर।

अर्थारूढ़ - अनेकार्थवाची शब्दों के एक लोकप्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार करके अन्य अर्थों की उपेक्षा करना, अर्थारूढ़ है। जैसे, 'गो' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु मात्र गाय के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है। कोश ग्रन्थों में एक शब्द के अनेक अर्थ तथा नाममालाओं

में एक वस्तु के वाचक अनेक शब्द लिखने की परम्परा इसी 'शब्दनय' पर आश्रित है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि लोक में शब्दारूढ़ की अपेक्षा अर्थारूढ़ अधिक बलवान् है। जैसे, लोक में भी 'गो' शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ की अपेक्षा अर्थारूढ़ से किया जानेवाला प्रयोग अधिक बलवान है। ***गच्छतीति गो*** *अर्थात् जो गमन करे, उसे गाय कहते हैं। यह बात शब्दारूढ़ नय से सत्य होने पर भी कभी किसी चलते हुए व्यक्ति या महिला को गाय कहकर तो देखिए? अतः दुनिया इस शब्दारूढ़नय को स्वीकार नहीं करेगी। इसीप्रकार जिनागम का अर्थ करने में भी सावधानी रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। केवल ज्ञान शब्द का अर्थ मात्र ज्ञान होता है, परन्तु जिनागम में क्षायिकज्ञान के लिए केवलज्ञान शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित है। अतः किस शब्द का किस प्रसंग में क्या अर्थ है – इस तथ्य पर गम्भीरता से विचार करके, शब्द-प्रयोग करना आवश्यक है।*

एवंभूतनय

शब्दनय एवं समभिरूढ़नय से अधिक सूक्ष्म प्रयोग, एवंभूतनय का है। शब्दनय, व्याकरण-सम्मत अपवादों को तो अस्वीकार कर देता है, परन्तु एकार्थवाची शब्दों को स्वीकार कर लेता है; लेकिन समभिरूढ़नय, एकार्थवाची शब्दों के भी भिन्न-भिन्न वाच्य स्वीकार करता है; जबकि एवंभूतनय, उस क्रिया में संलग्न पदार्थ को मात्र उसी समय उस शब्द से सम्बोधित करने की अनुमति देता है। जैसे, इस नय से देवराज पुरन्दर को इन्दन क्रिया करते समय ही इन्द्र कहा जाता है, पुर या नगर का दारण या नाश करते (पुरन्दर) समय अथवा सामर्थ्य (शक्र) का प्रदर्शन करते समय नहीं। इस नय से डॉक्टर को हॉस्पिटल में मरीज का इलाज करते समय ही डॉक्टर कहा जाता है, घर में नहीं।

इस नय की सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका में निम्नलिखित व्याख्या की गई है -

जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई, उसीरूप निश्चय करानेवाले नय को एवंभूतनय कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्द का जो वाच्य है, उसरूप क्रिया के परिणमन के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समय में नहीं। जब आज्ञा-ऐश्वर्यवाला हो, तभी इन्द्र है, अभिषेक करनेवाला नहीं और न पूजा करनेवाला ही। जब गमन करती हो, तभी गाय है, बैठी हुई नहीं और न सोती हुई ही। अथवा जिस रूप से अर्थात् जिस ज्ञान से आत्मा परिणत हो, उसी रूप से उसका निश्चय करानेवाला नय, एवंभूतनय है।

यथा - इन्द्ररूप ज्ञान से परिणमित आत्मा, इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञान से परिणमित आत्मा, अग्नि है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अग्नि को जाननेवाला आत्मा भी उस समय अग्नि है - ऐसा कहना एवंभूतनय का कथन है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञेयाकार ज्ञानरूप परिणमित आत्मा को उस ज्ञेय के नाम से सम्बोधित करना, एवंभूतनय को इष्ट है, क्योंकि आत्मा उस समय उस ज्ञेय-सम्बन्धी ज्ञानरूप अर्थात् ज्ञेय को जाननेरूप ज्ञान-क्रियारूप परिणमित हो रहा है, ज्ञान का संज्ञाकरण अर्थात् उसकी पहचान, ज्ञेय के बिना नहीं हो सकती, अतः घट आदि ज्ञेयाकाररूप ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है, इसलिए इस नय से वह आत्मा, उस समय घटरूप (घटाकार ज्ञानरूप) कहलाता है।

एवंभूतनय के प्रयोग हमारे लोक जीवन में भी व्याप्त हैं। किसी डॉक्टर को समभिरूढ़नय से हर समय डॉक्टर साहब कहकर सम्बोधित तो किया जा सकता है, परन्तु उससे हर समय इलाज नहीं कराया जा सकता। सही इलाज तो चिकित्सालय में ही सम्भव है। यही व्यवस्था

न्यायाधीश, व्यापारी, सैनिक आदि सभी के बारे में यथायोग्य समझ लेना चाहिए।

एवंभूतनय के अनुसार शब्द-प्रयोगों को और अधिक सूक्ष्मता से समझने के लिए नय-दर्पण, पृष्ठ 432-434 पर व्यक्त किये गये निम्नलिखित विचार दृष्टव्य हैं -

इतना ही नहीं, इस नय का तर्क तो यहाँ से भी आगे निकल जाता है। वह द्वैत का सर्वथा निरास (निराकरण) करनेवाला है। अतः उसकी सूक्ष्म दृष्टि में ज्ञान और वान् - इन दो पदों का सम्मिलन करके एक 'ज्ञानवान्' शब्द बनाना युक्त नहीं। अथवा आत्म और निष्ठ - इन दो पदों का समास करके एक 'आत्मनिष्ठ' शब्द बनाना युक्त नहीं। आत्मा अकेला आत्मा ही है। आत्मा में निष्ठा पानेवाला - ऐसे विशेषण-विशेष्यभाव की क्या आवश्यकता है? अर्थात् प्रत्येक शब्द एक ही अर्थ का द्योतक है, संयुक्त अर्थ का नहीं।

जहाँ पदों का समास भी सहन नहीं किया जा सकता, वहाँ अनेक शब्दों के समूहरूप वाक्य कैसे बोला जा सकता है? अर्थात् एवंभूतनय की दृष्टि में शब्द ही शब्द हैं, वाक्य नहीं।

इतना ही नहीं, एक असंयुक्त स्वतन्त्र शब्द या पद भी वास्तव में कोई वस्तु नहीं, क्योंकि वह भी 'घ', 'ट' आदि अनेक वर्णों को मिलाने से उत्पन्न होते हैं। दो वर्णों को मिलाने से तो आगे-पीछे का क्रम पड़ता है। जैसे, घट शब्द में 'घ' पहले बोला गया और 'ट' पीछे। जो दृष्टि केवल एक क्षणग्राही है, वहाँ यह आगे-पीछे का क्रम कैसे सम्भव हो सकता है? जब 'घ' बोला गया, तब 'ट' नहीं बोला गया और जब 'ट' बोला गया, तब 'घ' नहीं बोला गया। अतः 'घ' व 'ट' - ये दोनों ही स्वतन्त्र अर्थ के प्रतिपादक रहे आवें, इनका समास या संयोग करके अर्थ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं।

यह भी अभी दोषयुक्त है, क्योंकि यहाँ भी 'घ' इस वर्ण में 'घ्' और 'अ' – इन दो स्वतन्त्र वर्णों (व्यंजन और स्वर) का संयोग है। 'घ्' और 'अ' मिलकर घ बनता है। अतः 'घ' भी कोई चीज नहीं। 'घ्' और अ स्वतन्त्ररूप से रहते हुए जो कुछ भी अपनेरूप के वाचक होते हैं, वही एवंभूतनय का वाच्य है।

सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और वहाँ से भी सूक्ष्मतम दृष्टि में प्रवेश करता हुआ यह नय, इसप्रकार केवल एक असंयुक्त वर्ण को ही वाचक मानता है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि इसप्रकार तो वाच्य-वाचकभाव का अभाव हो जाएगा और ऐसा हो जाने पर लोक-व्यवहार का तो लोप हो ही जाएगा, बल्कि एवंभूतनय का भी स्वयं लोप हो जाएगा, क्योंकि वह नय गूँगावत् बनकर रहने के कारण स्वयं अपना भी प्रतिपादन करने में समर्थ न हो सकेगा और ऐसी अवस्था में वह नाममात्र को ही नय कहलाएगा, परन्तु उसका स्वरूप कुछ न कहा जा सकेगा।

इस शंका का उत्तर, कषायपाहुड़, पुस्तक 1, पृष्ठ 243 पर निम्नप्रकार दिया है -

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर एवंभूतनय का विषय दिखलाया गया है।[1]

सात नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता –

इसप्रकार हम देखते हैं कि ये तीनों ही नय, भाषा के प्रयोगों को आवश्यकतानुसार सुसंगतरूप प्रदान करनेवाले और उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले हैं। ये ही क्यों, नैगमादि सभी सात नय, क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्प विषयवाले हैं और पूर्व-पूर्व के नय, आगे-आगे के

1. नय-दर्पण, पृष्ठ 432-434

नयों के हेतु भी हैं। इन सात नयों को उक्त क्रम में रखने का कारण भी यही है। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका में कहा है –

उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले होने के कारण इनका यह क्रम कहा है। पूर्व-पूर्व के नय, आगे-आगे के नयों के हेतु हैं, इसलिए भी यह क्रम कहा है। इसप्रकार ये नय, पूर्व-पूर्व विरुद्ध महा विषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्प विषयवाले हैं।

नैगमादि सात नय, उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयग्राही हैं – यह तथ्य इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि पक्षी नगर में, वृक्ष पर, शाखा पर, उपशाखा पर, उपशाखा के एक भाग में, अपने शरीर में तथा अपने कण्ठ में बोलता है। इसीप्रकार प्रत्येक नय का विषय उत्तरोत्तर आगे बढ़ता हुआ सूक्ष्म होता जाता है।

इस सन्दर्भ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा सर्वार्थसिद्धि वचनिका, पृष्ठ 111 पर किया गया स्पष्टीकरण ध्यान देने योग्य है, जो इसप्रकार है –

इसी अनुक्रम से इन नयों के कथन जानना। नैगमनय ने तो वस्तु के सत्-असत् दोनों स्वरूपों को कहा। संग्रहनय ने केवल सत् ही को कहा। व्यवहारनय ने सत् में भी एक भेद मात्र कहा। ऋजुसूत्रनय ने केवल वर्तमान सत् ही कहा। शब्दनय ने वर्तमान सत् में भी भेद करके एक कार्य को पकड़ा। समभिरूढ़नय ने इस कार्य के अनेक नामों में से भी एक नाम को ग्रहण किया। एवंभूतनय ने उसमें भी जिस नाम को ग्रहण किया, उस ही क्रियारूप परिणमते भाव को ग्रहण किया। इसप्रकार जिस किसी पदार्थ का कथन करना हो, उन सब पर ही इसप्रकार नय का प्रयोग कर लेना चाहिए।

यहाँ इन नयों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। इनकी विस्तृत

जानकारी के लिए तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ की सर्वार्थसिद्धि आदि वृत्तियों (टीकाओं) और राजवार्तिक आदि वार्तिकों (भाष्यों) का गहराई से अध्ययन करके आत्महित में प्रयत्नशील होना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. नैगमादि सप्तनयों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लौकिक जीवन में इनका प्रयोग किसप्रकार पाया जाता है - स्पष्ट कीजिए।
2. प्रत्येक नय की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
3. किसी एक उदाहरण पर सातों नयों को घटाइये।
4. सात नयों को द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक में विभाजित कीजिए।
5. सात नयों को शब्द-अर्थ-ज्ञाननय में घटाइये।

स्याद्वाद-लक्ष्मी महल के, वश में हुए जो वर्तते।
उन नय समूहों से लखें, अथवा लखें प्रमाण से।।
तो भी अनन्तानन्त धर्म-स्वरूप अपने आत्म को।
वे शुद्ध चेतनमात्र को ही, देखते निज में अहो।।

- प्रवचनसार कलश, 19

स्याद्वाद से जीवित जिन-सिद्धान्त पद्धति हो जयवन्त।
दुर्निवार नय-पुंज विरोध-विनाशक औषधि को वन्दन।।

- पंचास्तिकाय, कलश 2

17

सैंतालीस नय

नयों के अनेक प्रकार के भेद-प्रभेदों के समूह के अन्तर्गत निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, शब्द-अर्थ, ज्ञाननय तथा नैगमादि सप्त नयों की चर्चा तो हो चुकी है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने प्रवचनसार के परिशिष्ट में आत्मा में विद्यमान अनन्त धर्मों में से 47 धर्मों का ज्ञान कराने वाले 47 नयों का वर्णन किया है। इन 47 नयों पर पूज्य गुरुदेवश्री ने विस्तृत विवेचन किया है, जो नय-प्रज्ञापन ग्रन्थ में संकलित है। परमभावप्रकाशक नयचक्र में भी इन 47 नयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है; अतः यहाँ इन नयों के मात्र प्रमुख बिन्दुओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है।

आत्मा की 47 शक्तियाँ तथा आत्मा की अन्य विशेषताओं की भाँति 47 नय भी आत्मा का स्वरूप जानने के लिए तथा उसे प्राप्त करने अर्थात् स्वानुभूति के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। प्रवचनसार परिशिष्ट के प्रारम्भ में ही आचार्यदेव स्वयं कहते हैं -

यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है? ऐसा यदि प्रश्न किया जाए तो इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है, तथापि यहाँ पुनः कहते हैं - प्रथम तो आत्मा वास्तव में चैतन्य-सामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि वह अनन्त धर्मों में व्याप्त होने वाले जो अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त

होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से ज्ञात होता है, प्रमेय होता है।

उक्त गद्यांश में समाहित अनेक मार्मिक रहस्य ध्यान देने योग्य हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. समयसार परिशिष्ट में ज्ञान को आत्मा का असाधारण लक्षण कहा गया है और यहाँ आत्मा को चैतन्य-सामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता कहा गया है अर्थात् आत्मा अनन्त धर्मात्मक है और उसका चैतन्य-स्वभाव, अनन्तधर्मात्मक आत्मा में व्याप्त है; अतः आत्मा चैतन्यस्वरूप सिद्ध हुआ और यही चैतन्य अर्थात् ज्ञान, आत्मा का असाधारण लक्षण है।

2. आत्मा अपने अंशरूप अनन्त धर्मों में व्याप्त धर्मी है और श्रुतज्ञान अपने अंशभूत अनन्त नयों में व्याप्त प्रमाणरूप है। नयों द्वारा एक धर्म जाना जाता है और श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से अनन्त धर्मात्मक भगवान आत्मा जाना जाता है।

3. विशेष बात यह है कि जहाँ 47 शक्तियों का स्वरूप मात्र आत्मा की पूर्ण निर्मल पर्यायों से समझाया गया है, वहीं 47 नयों के अन्तर्गत आत्मा के 47 धर्मों को विकारी-अविकारी समस्त पर्यायों से समझाया गया है। यद्यपि इस प्रकरण में भी आचार्यदेव ने स्वानुभव की चर्चा की है, उसका कारण यही है कि आत्मा के इस स्वरूप का सम्यग्ज्ञान भी स्वानुभूति के समय ही सच्चा होता है।

इन 47 नयों के नाम इस प्रकार हैं -

1. द्रव्यनय, 2. पर्यायनय; 3. अस्तित्वनय, 4. नास्तित्वनय, 5. अस्तित्व-नास्तित्वनय, 6. अवक्तव्यनय, 7. अस्तित्व-अवक्तव्यनय, 8. नास्तित्व-अवक्तव्यनय, 9. अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय; 10. विकल्पनय, 11. अविकल्पनय; 12. नामनय,

13. स्थापनानय, 14. द्रव्यनय, 15. भावनय; 16. सामान्यनय, 17. विशेषनय; 18. नित्यनय, 19. अनित्यनय; 20. सर्वगतनय, 21. असर्वगतनय; 22. शून्यनय, 23. अशून्यनय; 24. ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय, 25. ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय; 26. नियतिनय, 27. अनियतिनय; 28. स्वभावनय, 29. अस्वभावनय; 30. कालनय, 31.अकालनय; 32. पुरुषकारनय, 33. दैवनय; 34. ईश्वरनय, 35. अनीश्वरनय; 36. गुणीनय, 37. अगुणीनय; 38. कर्तृनय, 39. अकर्तृनय; 40. भोक्तृनय, 41. अभोक्तृनय; 42. क्रियानय, 43. ज्ञाननय; 44. व्यवहारनय, 45. निश्चयनय; 46. अशुद्धनय एवं 47. शुद्धनय।

उक्त 47 नयों की नामावली पर गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि नय क्रमांक 3 से 9 तक के नय सप्तभंगी सम्बन्धी हैं तथा 12 से 15 तक चार निक्षेप सम्बन्धी हैं। शेष 36 नय परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों को विषय बनानेवाले 18 धर्म-युगलों पर आधारित हैं। इन धर्म-युगलों में नय क्रमांक 20 से 25 तक तीन धर्म-युगल ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धी हैं और नय क्रमांक 26 से 35 तक पाँच युगल पाँच समवाय सम्बन्धी हैं।

अन्य प्रकार से कहें तो प्रारम्भिक 15 नय आगम से सम्बन्धित, 16-23 तक चार युगल द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सम्बन्धित, 24-25 का एक युगल ज्ञान-ज्ञेय से सम्बन्धित, 26-35 तक पाँच समवाय से सम्बन्धित, 36-41 तक तीन युगल साक्षी भाव से सम्बन्धित एवं 42-47 तक तीन युगल अध्यात्म से सम्बन्धित हैं।

इन 47 नयों द्वारा भगवान आत्मा के 47 धर्मों को जानकर शेष अनन्त धर्मों का भी अनुमान किया जा सकता है तथा सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा अनन्तधर्मात्मक एक धर्मी आत्मा का अनुभव भी किया जा सकता है।

स्वभाव, गुण, शक्ति और धर्म

47 धर्मों को जानने से पूर्व स्वभाव, गुण, शक्ति और धर्म के स्वरूप का विचार करना आवश्यक है। इसकी चर्चा इसी पुस्तक के अध्याय तेरह के अन्त में की गई है, अतः पाठकों से अनुरोध है कि वे उस प्रकरण को एक बार अवश्य पढ़ लें। उसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है -

स्वभाव - स्वभाव का व्यापक अर्थ है, वह गुण, शक्ति और धर्म - तीनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

गुण - द्रव्य की त्रैकालिक विशेषताओं को गुण कहते हैं।

शक्ति - द्रव्य के प्रत्येक गुण में उसके स्वरूप के अनुसार कार्य की उत्कृष्टतम सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं।

धर्म - प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी स्वभावों को मुख्यतः धर्म कहा जाता है। यहाँ 47 नयों के प्रकरण में प्रत्येक नय के विषय को धर्म कहा गया है। इसके अन्तर्गत विकारी-अविकारी सभी अवस्थाओं से सम्बन्धित योग्यताओं का समावेश किया गया है।

अब 47 नयों के स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है -

(1-2)

द्रव्यनय और पर्यायनय

वह अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य, द्रव्यनय से पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है और पर्यायनय से तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादिमात्र है।

इस सम्बन्ध में निम्न बिन्दुओं के आधार पर विचार किया जा सकता है -

1. जैसे, वस्त्र में अनेक ताने-बाने, रंग-रूप तथा आकारादि

होते हैं, परन्तु उन्हें गौण करके मात्र वस्त्र को जानना, द्रव्यनय है तथा उसके रंग-रूपादि भेदों को जानना, पर्यायनय है; उसीप्रकार आत्मा में मात्र चित्स्वभाव को जानना, द्रव्यनय है तथा ज्ञान-दर्शनादि भेदों को जानना पर्यायनय है।

2. आत्मा में द्रव्य नाम का एक धर्म है, जिसका स्वरूप चैतन्य मात्र है अथवा द्रव्यधर्म की अपेक्षा आत्मा का चैतन्यस्वभाव, उसके सम्पूर्ण गुण-पर्यायों में व्याप्त है और पर्यायधर्म की अपेक्षा उसमें ज्ञान-दर्शनादि भेदरूप रहने की योग्यता है।

3. द्रव्यार्थिकनय-पर्यायार्थिकनय और द्रव्यनय-पर्यायनय में अन्तर है। द्रव्यार्थिकनय का विषय, सम्पूर्ण सामान्य स्वभावरूप अभेद है, जबकि द्रव्यनय का विषय, अनन्तधर्मों में से एक धर्म है। इसीप्रकार पर्यायार्थिकनय का विषय, वस्तु का विशेष स्वभाव है, जबकि पर्यायनय का विषय भेदरूप रहने की विशिष्ट योग्यता है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय के अन्तर्गत प्रमाण की विषयभूत सम्पूर्ण वस्तु है, जबकि द्रव्यनय और पर्यायनय का विषय वस्तु के अनन्त धर्मों में से मात्र एक-एक धर्म है।

ये दोनों नय, वस्तु की अभेद तथा भेदरूप एक-एक योग्यता को बताते हैं। जरा ध्यान दीजिए कि 'अभेद' शब्द प्रायः अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उनमें से कुछ प्रयोग निम्न प्रकार हैं -

अ. अभेद अनुभूति - जहाँ ध्यान-ध्याता-ध्येय का भी विकल्प नहीं होता है - ऐसी निर्विकल्प अनुभूति को अभेद अनुभूति कहते हैं।

ब. द्रव्यार्थिक या शुद्धनय का विषय - जिसमें वस्तु के समस्त भेदों को गौण करके अभेद वस्तु को विषय बनाया जाता है।

स. द्रव्यनय का विषय – समस्त भेदों में व्याप्त रहने की एक योग्यता रूप अभेदधर्म।

द. अविकल्पनय का विषय – 47 नयों में 11वें अविकल्पनय का विषयभूत अविकल्पधर्म भी वस्तु के अखण्ड स्वभाव को बताता है।

अतः 'अभेद' शब्द के द्वारा कहाँ कौन-सा वाच्य है, इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

(3-4-5)

अस्तित्वनय, नास्तित्वनय एवं अस्तित्व-नास्तित्वनय

वह आत्मद्रव्य, अस्तित्वनय से लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, सन्धानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्ववाला है; नास्तित्वनय से अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धानदशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्ववाला है एवं अस्तित्व-नास्तित्वनय से लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए और संधान-अवस्था में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति क्रमशः स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्ववाला है।

इस सम्बन्ध में निम्न बिन्दुओं के आधार पर विचार किया जा सकता है –

1. आत्मा तथा समस्त वस्तुओं के अस्तित्व और नास्तित्व को यहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आधार पर समझाया गया है।

2. स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ही वस्तु की सत्ता या अस्तित्व है।

3. पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से वस्तु का अस्तित्व नहीं है अर्थात् न + अस्तित्व है।

4. अतः वस्तु, स्वरूप से है, पररूप से नहीं है। आत्मा भी अपने चैतन्यस्वरूप से है शरीरादिरूप से नहीं है। शरीरादि परद्रव्यों की अपेक्षा आत्मा का नास्तित्व है अर्थात् अस्तित्व नहीं है।

5. नास्तित्वधर्म को समझने में पर का सहारा लेना पड़ता है, परन्तु आत्मा के नास्तित्वधर्म की सत्ता आत्मा में आत्मा से ही है, शरीर में या शरीर से नहीं। आत्मा का शरीररूप न होने की योग्यता अथवा आत्मा का अस्तित्व, शरीर के कारण न होने की योग्यता ही नास्तित्वधर्म का स्वरूप है।

6. प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपने चतुष्टय से है, पर-चतुष्टय से नहीं; अतः प्रयोग करते समय सावधानी रखी जानी चाहिए कि किसकी किसमें नास्ति कही जा रही है। शरीर की अपेक्षा आत्मा का नास्तित्व है - यह आत्मा का नास्तित्वधर्म है और आत्मा की अपेक्षा शरीर का नास्तित्व होना - यह शरीर के नास्तित्वधर्म की योग्यता है।

7. अस्तित्वधर्म में वस्तु की सत्ता का बोध होता है और नास्तित्वधर्म में वस्तु की असत्ता अर्थात् पर से भिन्नता, स्वतन्त्रता और पर से अत्यन्ताभाव की सिद्धि होती है।

8. लौकिक जीवन में भी नास्तित्व की अनुभूति के प्रसंग बनते हैं। किसी विशिष्ट कार्यक्रम में किसी विशिष्ट व्यक्ति का न होना, बहुत कुछ कह देता है। जनसामान्य में भी अनेक प्रकार की चर्चाएँ होने लगती हैं।

9. **आज प्रवचन में अमुक व्यक्ति नहीं आया,** इस प्रसंग में द्रव्य की नास्ति है। **मैं जयपुर नहीं जा रहा हूँ,** इस प्रसंग में क्षेत्र की नास्ति है। **मैं कल नहीं आऊँगा,** इस प्रसंग में काल की नास्ति है और **मुझे भूख नहीं है,** इस प्रसंग में भाव की नास्ति है। इसप्रकार के अनेक प्रयोग हमारे लोकजीवन में व्याप्त हैं। कोई बड़ा नेता, किसी सम्मेलन में नहीं गया, इसमें भी बहुत से संकेत समझ लिये जाते हैं; अतः अस्ति-नास्ति दोनों पक्षों से वस्तुस्वरूप समझने में आता है।

10. जो व्यक्ति, इन अस्ति-नास्ति धर्मों को यथार्थ जानता है, वही व्यक्ति जगत् के सभी पदार्थों की परस्पर भिन्नता को भली-भाँति समझ सकता है। इनके जानने पर ही परपदार्थों से एकत्वबुद्धि टूटती है, पर से लाभ-हानि मानने की मिथ्या मान्यता छूटती है। इस रहस्य को समझने का सच्चा फल तो यही है कि समस्त परपदार्थों के आश्रय की रुचि समाप्त होकर एक निज भगवान आत्मा की ही रुचि जागृत हो जाए।

11. कार्योत्पत्ति में निमित्त की उपस्थिति अनिवार्य है और कई प्रसंगों में अभावरूप निमित्त भी होते हैं। समुद्र की निस्तरंग अवस्था में हवा का न चलना तथा आत्मा में रागादि की अनुत्पत्ति में द्रव्यकर्म का उदय न होना आदि अभावरूप निमित्त के उदाहरण हैं। इन प्रसंगों में भी नास्तित्वधर्म की महत्ता झलकती है।

12. आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में अभावैकान्त का खण्डन करके अस्तित्वधर्म की और भावैकान्त का खण्डन करके नास्तित्वधर्म की महत्ता बताई है।

13. अस्तित्व-नास्तित्वधर्म की व्याख्या दो तरह से की जाती है। (अ) दोनों धर्म का क्रमशः कथन किया जा सकता है। (ब) दोनों विरोधी धर्म वस्तु में अविरोधरूप से एक साथ रहते हैं - ऐसी योग्यता

को तीसरे भंग द्वारा बताया जाता है। इसलिए वस्तु कथंचित् उभयरूप कही जाती है।

14. अस्तित्व और नास्तित्व - इन दो को मिला देने से तीसरा भंग बन गया - ऐसा नहीं है। उभयरूप में रहने की योग्यता वाला तीसरा पृथक् धर्म, वस्तु में है, जो तीसरे भंग (नय) द्वारा कहा गया है। इसी प्रकार शेष चार भंग भी वस्तु की उस-उस प्रकार की योग्यतारूप स्वतन्त्र धर्म हैं। मात्र दो धर्मों का विस्तार नहीं, क्योंकि सात प्रकार के धर्म हैं, इसलिए सात प्रकार की जिज्ञासाएँ होती हैं और इसलिए सात भंग हैं।

15. यदि दोनों धर्म एक साथ न रहें तो वस्तु की सत्ता सुरक्षित न रह पाएगी, अतः उभयधर्म को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

(6)

अवक्तव्यनय

लोहमय तथा अलोहमय, डोरी व धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी व धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान-अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख - ऐसे उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य, अवक्तव्यनय से युगपत् स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है।

अवक्तव्यनय का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है -

1. सभी धर्मों अथवा अनेक का कथन एक साथ नहीं किया जा सकता - इस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्यरूप है।

2. यद्यपि इसमें वाणी की कमजोरी होने से वाणी की अपेक्षा आती है, परन्तु वस्तु धर्मों का सम्पूर्णरूप से कथन नहीं किया जा

सकता – ऐसी योग्यता वस्तु में है, जिसे अवक्तव्यनय द्वारा जाना/कहा जा सकता है।

3. वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य कहना भी स्व-वचन बाधित है अर्थात् अवक्तव्यरूप योग्यता को तो कहा ही जा रहा है, इसलिए वह कथंचित् अवक्तव्य है, सर्वथा अवक्तव्य नहीं। अनेक धर्मों का कथन क्रमशः किया जा सकता है, अतः वस्तु कथंचित् वक्तव्यरूप भी है।

4. तीर्थंकरों के गुणों का वर्णन अथवा आचार्यों, ज्ञानियों के उपकार का सम्पूर्ण वर्णन असम्भव है – यह कथन भी अवक्तव्यनय का ही प्रयोग है।

5. कभी-कभी कुछ न कहकर भी बहुत कुछ कह दिया जाता है। जैसे, बालक यदि गलती करे तो गम्भीर प्रकृति के माता-पिता उसे डाँटने के बदले मौन रहते हैं। समझदार बालक, उनके मौन से ही उनकी नाराजगी समझ लेता है और अपनी गलती महसूस कर लेता है। यहाँ कुछ न कहकर भी बहुत कुछ कह दिया गया है।

6. प्रारम्भ के तीन भंगों द्वारा वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है, अतः वे वक्तव्यपने के वाचक हैं, चौथा भंग अवक्तव्य सम्बन्धी हैं तथा अन्त के तीन भंग वक्तव्य-अवक्तव्य से मिश्रित हैं।

(7-8-9)

अस्तित्व-अवक्तव्यनय, नास्तित्व-अवक्तव्यनय एवं अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय

लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, सन्धानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, सन्धानदशा में रहे हुए तथा सन्धानदशा में नहीं रहे हुए एवं लक्ष्योन्मुख तथा

अलक्ष्योन्मुख – ऐसे उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य, अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववान् अवक्तव्य है।

अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धानदशा में रहे हुए तथा सन्धानदशा में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख – ऐसे उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य, नास्तित्व-अवक्तव्यनय से पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववान् अवक्तव्य है।

लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख; अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, सन्धानदशा में नहीं रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख; एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, सन्धानदशा में रहे हुए तथा सन्धानदशा में न रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख – ऐसे उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य, अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व-नास्तित्ववान् अवक्तव्य है।

अवक्तव्यनय के बाद इन तीन नयों की विस्तृत व्याख्या दुर्लभ है, क्योंकि इनके प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं।

अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म से तात्पर्य है कि आत्मा का अस्तित्व बताया जाने पर भी नास्तित्व तथा अन्य नित्य-अनित्यादि धर्म नहीं कहे गए, अतः वह अस्तित्ववान्-अवक्तव्यरूप योग्यतावाला है।

अर्थात् यह नय या भंग यह बता रहा है कि स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व का वर्णन करके यह नहीं समझना चाहिए कि सम्पूर्ण वस्तु का वर्णन हो गया।

इसी प्रकार नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म भी यह बताता है कि पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व की अपेक्षा वस्तु का वर्णन करने पर भी वस्तु का बहुत अंश अवक्तव्य रह जाता है।

यही स्थिति सातवें अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म के बारे में भी समझनी चाहिए। क्रमशः अस्तित्व-नास्तित्व दोनों धर्मों का वर्णन करने पर भी वस्तु का सम्पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता है, क्योंकि नित्य-अनित्य आदि अन्य धर्म-युगल तथा ज्ञानादि अनन्त गुण नहीं कहे गए। किसी भी एक धर्मयुगल से वर्णन करने पर भी उसी समय वस्तु अवक्तव्य भी रह जाती है - इसी योग्यता का वाचक सातवाँ भंग है।

इसीप्रकार सातवाँ यह भी बताता है कि वस्तु के अनेक धर्म क्रमशः वक्तव्य तो हैं, परन्तु युगपत् एक साथ नहीं हैं।

इन सप्त भंगों का विस्तृत वर्णन सप्तभंगी सम्बन्धी अधिकार में भी किया जाएगा।

(10-11)

विकल्पनय और अविकल्पनय

आत्मद्रव्य, विकल्पनय से बालक, कुमार तथा वृद्ध - ऐसे एक पुरुष की भाँति सविकल्प है और अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प है।

इस सम्बन्ध में निम्न बिन्दुओं से विचार करते हैं -

1. यहाँ विकल्प का अर्थ भेद है और अविकल्प का अर्थ अभेद है। जिसप्रकार एक ही पुरुष, बालक जवान और वृद्ध - इन अवस्थाओं का धारण करनेवाला होने से बालक, जवान एवं वृद्ध - ऐसे तीन

भेदों में विभाजित किया जाता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा एक अभेद होकर भी ज्ञान, दर्शनादि गुणों एवं मनुष्य, तिर्यंच, नारक, देवादि अथवा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि पर्यायों के भेदों में विभाजित किया जाता है।

2. जिसप्रकार बालक, जवान एवं वृद्ध अवस्थाओं में विभाजित होने पर भी वह पुरुष खण्डित नहीं हो जाता, रहता तो वह एक अखण्डित पुरुष ही है; उसी प्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुणों एवं नरकादि अथवा बहिरात्मादि पर्यायों के द्वारा भेद को प्राप्त होने पर भी भगवान आत्मा अखण्ड ही रहता है।

3. यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि द्रव्यनय और अविकल्पनय तथा पर्यायनय और विकल्पनय में क्या अन्तर है? वैसे तो ये दोनों जोड़े एक से ही मालूम पड़ते है, परन्तु गहराई से विचार करने पर ऐसा लगता है कि द्रव्यनय, आत्मा का चिन्मात्र धर्म बता रहा है और अविकल्पनय आत्मा की गुण-पर्यायों में एक अभेदरूप से व्याप्त होने की योग्यता को बता रहा है अर्थात् उसके अभेदरूप धर्म का वाचक है। इसीप्रकार पर्यायनय, आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुणों को बताता है और विकल्पनय, उसकी पर्यायरूप भेदरूप योग्यता को बताता है।

इस प्रकार सुधी जनों द्वारा यह प्रकरण विचारणीय है।

(12-15)

नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय

आत्मद्रव्य, नामनय से नामवाले की भाँति शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है, स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है, द्रव्यनय से बालक-सेठ और श्रमण-राजा की भाँति अनागत और अतीत पर्यायरूप से प्रतिभासित होता

है एवं भावनय से पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति वर्तमान पर्यायरूप से प्रतिभासित होता है।

उक्त चार निक्षेपों सम्बन्धी नय, आत्मा में विद्यमान नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप धर्मों को बताते हैं। इन चारों नयों का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के आधार से स्पष्ट समझा जा सकता है -

नामनय

1. आत्मा, आत्मा शब्द से वाच्य होने की योग्यता रखता है। इस योग्यता को नामधर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला नय, नामनय है।

2. यदि आत्मा में वाणी द्वारा वाच्य होने की योग्यता न होती तो उसके स्वरूप का कथन करना, ग्रन्थ रचना करना आदि सभी कार्य निरर्थक हो जाते। इसी प्रकार सभी पदार्थों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

3. यद्यपि आत्मा में वाणी का अभाव है, तथापि वाणी से वाच्य होनेरूप धर्म का अभाव नहीं है।

भगवान-आत्मा परमब्रह्म है और उसे प्रकाशित करनेवाली वाणी शब्दब्रह्म है। कहा भी है -

"शुद्धब्रह्म परमात्मा, शब्दब्रह्म जिनवाणी।"

स्थापनानय

1. जिसप्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना की जाती है, उसी प्रकार किसी भी पुद्गलपिण्ड में आत्मा की स्थापना की जा सकती है।

2. जिस वस्तु में जिस व्यक्ति की स्थापना की जाती है, उस वस्तु को देखने पर वह व्यक्ति ख्याल में आता है - इसप्रकार वह वस्तु स्थापना के द्वारा उस व्यक्ति का ज्ञान करा देती है।

3. शरीर में उपचार से जीव की स्थापना करके शरीर को जीव कहा जाता है; जैसे, मनुष्य जीव, एकेन्द्रिय जीव, त्रसजीव आदि। इसप्रकार जीव में ऐसी योग्यतारूप धर्म है कि उसकी स्थापना, पुद्गल-पिण्डों में जानी जा सके, की जा सके।

4. स्थापना, तदाकार और अतदाकार के भेद से दो प्रकार की होती है। मूर्ति में भगवान की स्थापना के प्रयोग तो जगत् में देखे ही जाते हैं, जो तदाकार स्थापना कहलाते हैं; किसी के द्वारा भेंट में प्राप्त घड़ी, रूमाल आदि वस्तुओं को देखकर उस व्यक्ति की याद आती है, अतः इसे भी अतदाकार स्थापना का प्रयोग कहा जा सकता है। इसी प्रकार पूजन के अष्ट द्रव्यों में नैवेद्य, दीप, धूप, फल की अतदाकार स्थापना समझनी चाहिए।

द्रव्यनय

1. आत्मा को उसकी भूत-भविष्य की पर्यायों के रूप में वर्तमान में देखा जा सके - ऐसी योग्यता उसमें है, जिसे द्रव्य नामक धर्म कहते हैं तथा इस योग्यता को जाननेवाला ज्ञान, द्रव्यनय कहलाता है।

2. राजा के पुत्र को राजा के रूप में देखना (भाविद्रव्यनय) राजा यदि मुनि हो जाए तो भी उन्हें राजा के रूप में देखना (भूतद्रव्यनय) तथा ऋषभादि तीर्थंकर भगवन्तों को सिद्ध हो जाने पर भी तीर्थंकर के रूप में देखना (भूतद्रव्यनय) - ये सब द्रव्यनय के ही प्रयोग हैं।

3. सैंतालीस नयों में दो द्रव्यनय हैं - पहला द्रव्यनय, आत्मा को सामान्य चैतन्य मात्र देखता है और यह चौदहवाँ द्रव्यनय, आत्मा को उसकी भूत-भविष्य की पर्याय के रूप में देखता है। प्रथम द्रव्यनय के साथ पर्यायनय कहा गया है और इस द्रव्यनय के साथ भावनय कहा गया है अथवा यह चौदहवाँ द्रव्यनय चार निक्षेपों वाला द्रव्यनय है।

भावनय

1. आत्मा को उसकी वर्तमान पर्यायरूप में जाना जाए – ऐसी योग्यता को उसका भाव नामक धर्म कहा जाता है तथा इसे जाननेवाला श्रुतज्ञान का अंश, भावनय कहा जाता है।

2. यदि कोई डॉक्टर पूजा कर रहा हो तो उसे डॉक्टर कहना द्रव्यनय है और पुजारी कहना भावनय है।

संक्षेप में उपर्युक्त चारों नयों को निम्नलिखित सरल उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है –

- जिनेन्द्र नाम के व्यक्ति को जिनेन्द्र कहना, **नामनय** है।
- अन्तर्मुख वीतरागी प्रतिमा को जिनेन्द्र कहना, **स्थापनानय** है।
- मुनिराज को जिनेन्द्र कहना अथवा सिद्धों को तीर्थंकर कहना, **द्रव्यनय** है।
- साक्षात् जिनेन्द्र भगवान को जिनेन्द्र कहना, **भावनय** है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा में विद्यमान नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव – ये धर्म ज्ञेय हैं तथा इनको जाननेवाले चारों नय, श्रुतज्ञानात्मक हैं और इनके आधार पर प्रचलित होनेवाला लोक व्यवहार, निक्षेप है।

इन चारों नयों को जानने से आत्मा की विशिष्ट योग्यताओं का ज्ञान होता है और उसके प्रतिपादन की विभिन्न शैलियों द्वारा दिखाई देने वाला विरोध मिट जाता है।

(16–17)

सामान्यनय और विशेषनय

आत्मद्रव्य, सामान्यनय से हार-माला-कंठी के डोरे की

भाँति व्यापक है और विशेषनय से उसके एक मोती की भाँति अव्यापक है।

1. आत्मा में अपने गुण–पर्यायों में व्याप्त होकर रहने की योग्यता को सामान्यधर्म कहते हैं और उसे जाननेवाला ज्ञान, सामान्यनय कहलाता है।

2. यदि द्रव्य, अपने गुण–पर्यायों में व्याप्त न हो तो यह गुण या यह पर्याय, इस द्रव्य की है – ऐसा किस आधार पर कहा जा सकेगा? अर्थात् ज्ञान, आत्मा का गुण है और मतिज्ञान आदि उसकी पर्यायें हैं – ऐसा नहीं कहा जा सकता।

3. आत्मा में ऐसी योग्यता भी है, जिससे उसका एक गुण या पर्याय, अन्य गुणों या पर्यायों में प्रवेश नहीं कर सकती। प्रत्येक गुण, अपने–अपने स्वभाव में और प्रत्येक पर्याय, अपने–अपने स्वकाल में सत्‌रूप से विद्यमान है – इस योग्यता को ही विशेषधर्म कहते हैं और इसे जाननेवाले ज्ञान को विशेषनय कहते हैं।

4. आत्मा, अपनी मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, दोनों पर्यायों में व्यापक है अर्थात् इनके स्वकाल में इन पर्यायरूप में परिणमन करता है, परन्तु यदि मिथ्यात्व पर्याय, आगामी सभी पर्यायों में व्यापक हो जाए तो मिथ्यात्व का अभाव कभी नहीं हो सकेगा।

मिथ्यात्व पर्याय का नाश होकर सम्यक्त्व पर्याय प्रकट होने पर मानो सम्पूर्ण आत्मा ही पलट गया है – ऐसा प्रतिभासित होता है; अतः पर्याय अपेक्षा आत्मा अव्यापक धर्मस्वरूप भी है।

प्रश्न – मिथ्यात्व तो अनादिकाल से है और क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त काल तक रहेगा तो पर्यायों का इतना सुदीर्घ होने से एक पर्याय को दूसरी पर्यायों में व्यापक क्यों न माना जाए?

उत्तर – उपर्युक्त कथन प्रवाह अपेक्षा से किया गया है। अनादि काल से श्रद्धागुण की प्रत्येक समय की पर्यायों में नवीन-नवीन मिथ्यात्व उत्पन्न हो रहा है; परन्तु प्रवाह अपेक्षा उसे अनादि का कहा जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व भी प्रतिसमय अनन्त काल तक नया-नया होता रहेगा, अतः उसे भी प्रवाह अपेक्षा ही अनन्त कहा जाता है। यह बात अन्य सभी पर्यायों में भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए।

प्रश्न – भावनय, द्रव्यनय और सामान्यनय में क्या अन्तर है?

उत्तर – यह भगवान आत्मा, भावनय से वर्तमानपर्यायरूप प्रतिभासित होता है, द्रव्यनय से भूत-भाविपर्यायरूप प्रतिभासित होता है, जबकि सामान्यनय से भूत, वर्तमान और भविष्य – इन तीनों काल की पर्यायों में व्याप्त प्रतिभासित होता है।

सामान्यनय से अर्थात् द्रव्य-अपेक्षा आत्मा, सर्व पर्यायों में व्याप्त है, पर विशेषनय से अर्थात् पर्याय-अपेक्षा आत्मा, सर्व पर्यायों में व्याप्त नहीं है; इसीलिए यह कहा जाता है कि यह आत्मा, सामान्यनय से व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

प्रश्न – प्रथम द्रव्यनय और इस सामान्यनय में क्या अन्तर है?

उत्तर – प्रथम द्रव्यनय, आत्मा को चिन्मात्र देखता है, गुण-पर्यायों में व्यापकता उसका विषय नहीं, वह सामान्यनय का विषय है। इसीप्रकार पर्यायनय का विषय गुण-पर्याय के भेदमात्र हैं, उनकी अव्यापकता नहीं, उनकी परस्पर अव्यापकता विशेषनय का विषय है।

(18-19)

नित्यनय और अनित्यनय

आत्मद्रव्य, नित्यनय से नट की भाँति अवस्थायी है और

अनित्यनय से राम-रावण आदि के स्वांगों की भाँति अनवस्थायी है।

1. जैसे कोई कलाकार, राम-रावण या पुलिस-अपराधी आदि अनेक स्वांग धारण करने पर भी उस स्वांगरूप नहीं होता, वह व्यक्ति तो वही का वही रहता है, उसीप्रकार भगवान आत्मा भी नर-नारकादि स्वांग धारण करने पर भी नहीं बदलता, आत्मा तो वही का वही, वैसा ही रहता है। आत्मा की यह योग्यता ही उसका नित्यधर्म है और उसे जाननेवाला ज्ञान नित्यनय है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव विरचित निम्न पंक्ति में आत्मा की नित्यता दिखाई गई है -

'नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति' (समयसार कलश 7)

2. नित्य रहकर भी आत्मा किसी न किसी पर्याय (स्वांग) में अवश्य रहता है, परन्तु ये स्वांग नित्य नहीं हैं, ये बदलते रहते हैं। स्वांग बदलने की यह योग्यता ही उसका अनित्यधर्म है और इसे जाननेवाला ज्ञानांश ही अनित्यनय है। **यह अनित्यधर्मरूप योग्यता भी आत्मा में नित्य रहती है।**

3. प्रवचनसार, गाथा 114 की टीका में भी आत्मा की नित्यता और अनित्यता अच्छी तरह समझाई गई है। वहाँ पर्यायें परस्पर भिन्न (अव्यापक) हैं और द्रव्य, उनसे तत्काल तन्मय (अनन्य) होने से अन्य-अन्य है - इसप्रकार द्रव्य को पर्यायदृष्टि से अनित्य कहा गया है।

4. इसी प्रकार प्रवचनसार, गाथा 116 में भी कोई पर्याय शाश्वत नहीं है - ऐसा कहकर प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय की अनित्यता बताई गई है।

(20-21)

सर्वगतनय और असर्वगतनय

आत्मद्रव्य, सर्वगतनय से खुली हुई आँख की भाँति सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है और असर्वगतनय से बन्द आँख की भाँति अपने में रहनेवाला है।

1. नय क्रमांक 20-25 में ज्ञान और ज्ञेय सम्बन्धी चर्चा है। ज्ञान लोकालोक को जानता है; अतः जानने की अपेक्षा सर्वगत है, परन्तु अपने असंख्य प्रदेशों में ही रहता है, इसलिए असर्वगत भी है।

2. 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि.....' इस पंक्ति में सर्वगतनय का सहज प्रयोग हो गया है तथा 'निजानन्द रसलीन' - इन शब्दों में असर्वगतनय की झलक देखी जा सकती है।

3. अपने असंख्य प्रदेशों में रहकर, लोकालोक को जानने की योग्यता सर्वगतधर्म है और इसे जाननेवाला ज्ञान सर्वगतनय है। लोकालोक को जानते हुए भी उनसे भिन्न रहने की योग्यता, असर्वगतधर्म है और इसे जाननेवाला ज्ञान, असर्वगतनय है।

4. अन्यमत में विष्णु को सर्वव्यापी कहा गया है, परन्तु आत्मा अपने ज्ञान द्वारा लोकालोक में व्याप्त होता है अर्थात् मात्र जानता है - यही उसका सर्वगतधर्म है। प्रवचनसार, गाथा 23 में भी इसी अपेक्षा आत्मा को सर्वगत कहा गया है।

5. इन दोनों नयों को जानने से ज्ञान का स्वरूप ज्ञात होता है कि वह समस्त ज्ञेयों को जानते हुए भी अपने प्रदेशों में ही रहता है।

(22-23)

शून्यनय और अशून्यनय

आत्मद्रव्य, शून्यनय से खाली घर की भाँति अकेला (अमिलित)

भासित होता है और अशून्यनय से लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति मिलित भासित होता है।

1. पिछले जोड़े में ज्ञान की प्रधानता से कथन किया गया था और यहाँ ज्ञेयों की प्रधानता से कथन किया गया है।

2. सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानते हुए भी आत्मा में किसी भी ज्ञेय का प्रवेश न हो – ऐसी योग्यता को शून्यधर्म कहते हैं तथा इसे जाननेवाले ज्ञान को शून्यनय कहते हैं।

3. ज्ञान में ऐसी योग्यता है कि उसमें ज्ञेय झलकें, इस योग्यता को अशून्यधर्म कहते हैं और इस जाननेवाला ज्ञान, अशून्यनय कहलाता है।

कैवल्य कला में उमड़ पड़ा, सम्पूर्ण विश्व का ही वैभव – इस पंक्ति में अशून्यनय का प्रयोग स्पष्ट झलक रहा है।

4. अशून्यनय ज्ञान में समस्त ज्ञेय झलकने की योग्यता बताता है और शून्यनय ज्ञान की ज्ञेयों से अत्यन्त भिन्नता बताता है।

(24–25)

ज्ञान–ज्ञेय–अद्वैतनय और ज्ञान–ज्ञेय–द्वैतनय

आत्मद्रव्य, ज्ञान–ज्ञेय–अद्वैतनय से महान ईंधन समूहरूप परिणत अग्नि की भाँति एक है और ज्ञान–ज्ञेय–द्वैतनय से पर के प्रतिबिम्बों से संयुक्त दर्पण की भाँति अनेक हैं।

1. आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह ज्ञेयों को जानकर, उनसे भिन्न रहते हुए भी ज्ञेय को जाननेवाली पर्याय अर्थात् ज्ञेयाकार ज्ञान में तन्मय रहकर परिणमे – इस योग्यता को ही ज्ञान–ज्ञेय–अद्वैतधर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान, ज्ञान–ज्ञेय–अद्वैतनय कहलाता है।

2. ज्ञान–ज्ञेय–अद्वैतनय से ज्ञेयाकार ज्ञान को ही उपचार से ज्ञेय

कहकर आत्मा को उनसे अभिन्न कहा जा रहा है।

अ. ज्ञेयाकार ज्ञान में भी कलाकार ज्ञान है

ब. जो कुछ झलकता ज्ञान में, वह ज्ञेय नहीं बस ज्ञान है

इन दोनों पंक्तियों में ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय का ही प्रयोग झलक रहा है।

3. आत्मा में ऐसी योग्यता है कि उसमें ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हुए भी वह ज्ञेयों से भिन्न रहता है - यह योग्यता ही ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतधर्म कही जाती है तथा इसे जाननेवाला ज्ञान, ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय कहा जाता है।

प्रतिबिम्बित पूरी ज्ञेयावलि, पर चिन्मयता को आँच नहीं

इस पंक्ति के पूर्वार्ध में अशून्यनय और उत्तरार्ध में ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय का प्रयोग झलक रहा है।

ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धी छहों नयों के स्वरूप और उन्हें जानने से होने वाले लाभ के सम्बन्ध में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 313 पर व्यक्त किये गये निम्नलिखित विचार दृष्टव्य हैं -

" संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है, पर न तो ज्ञान ज्ञेयों में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में ही आते हैं। दोनों अपने-अपने स्वभाव में सीमित रहने पर भी ज्ञान जानता है और ज्ञेय जानने में आते हैं। ज्ञाता भगवान आत्मा और ज्ञेय लोकालोकरूप सर्व पदार्थों का यही स्वभाव है।

ज्ञाता भगवान आत्मा के उक्त स्वभाव का प्रतिपादन करना ही उक्त छह नयों का प्रयोजन है।

ज्ञेयों को सहजभाव से जानना, भगवान आत्मा का सहज

स्वभाव है; अतः न तो हमें पर-पदार्थों को जानने की आकुलता ही करना चाहिए और न नहीं जानने का हठ ही करना चाहिए; पर्यायगत योग्यतानुसार जो ज्ञेय, ज्ञान में सहजभाव से ज्ञात हो जाएँ, उन्हें वीतरागभाव से जान लेना ही उचित है; अन्य कुछ विकल्प करना उचित नहीं है, आकुलता का कारण है।

आत्मा के इस सहजज्ञानस्वभाव को ही ये छह नय अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।"

(26-27)

नियतिनय और अनियतिनय

आत्मद्रव्य, नियतिनय से जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है - ऐसी अग्नि की भाँति नियतस्वभावरूप भासित होता है और अनियतिनय से जिसकी उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है - ऐसे पानी की भाँति अनियतस्वभावरूप भासित होता है।

1. नय क्रमांक 26 से 35 तक 5 नय-युगल द्वारा कार्योत्पत्ति में कारणभूत पाँच समवायों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

2. इस नय-युगल में द्रव्यस्वभाव और पर्यायस्वभाव के रूप में स्वभाव नामक समवाय का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

3. अग्नि की उष्णता की भाँति आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह त्रिकाल एकरूप चैतन्यस्वभाव में रहे - इस योग्यता का नाम नियतिधर्म है और इसे जाननेवाला ज्ञान नियतिनय है। परमपारिणामिक भाव आत्मा का नियतस्वभाव होने से श्रद्धेय और ध्येय है। यदि आत्मा में यह नियतस्वभाव न होता तो उसका सर्वनाश हो जाता।

4. पानी की उष्णता के समान आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह

पर्याय में कर्मोदय की सन्निधि में रागादि विकाररूप परिणमन करे और कर्मोदय के अभाव में विकाररूप में परिणमन न करे – इसी योग्यता को अनियतिधर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान अनियतिनय है।

5. एकमात्र परमपारिमाणिकभाव ही आत्मा का नियतस्वभाव है तथा औपशमिकादि चार भाव अनियतस्वभावरूप योग्यता से होते हैं, क्योंकि वे सदा एक से नहीं रहते।

6. यह अनियत स्वभाव ही पाँच समवायों में स्वभाव नामक समवाय जानना चाहिए। त्रिकाली स्वभाव सामान्य कारण है और क्षणिकस्वभाव समर्थ कारण है तथा औपशमिकादि चार भाव कार्य हैं जिन्हें भवितव्य या होनहार भी कह सकते हैं। वह पर्याय, त्रिकाली प्रवाहक्रम का समयवर्ती अंश होने से स्वकाल है। उन पर्यायों की उत्पत्ति में प्रयुक्त होनेवाला वीर्य, पुरुषार्थ है तथा निमित्त, अनुकूल बाह्य पदार्थ है।

7. पर्यायस्वभाव को अनियत कहने का आशय, पर्यायों की परिवर्तनशीलता से है, न कि उनके क्रम की अनिश्चितता से है। पर्यायों का क्रम अर्थात् उनके प्रगट होने का स्वकाल तो सुनिश्चित ही है। उनमें कब कैसा परिवर्तन होगा? – यह सब सुनिश्चित है। इस प्रकार अनियतस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय में कोई विरोध नहीं है।

(28-29)

स्वभावनय और अस्वभावनय

आत्मद्रव्य, स्वभावनय से जिनकी नोंक किसी के द्वारा नहीं निकाली जाती – ऐसे पैने काँटे की भाँति संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से जिनकी नोंक लुहार के द्वारा संस्कार करके निकाली गई है – ऐसे पैने बाणों की भाँति संस्कारों को सार्थक करनेवाला है।

1. आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में ऐसी योग्यता है, जिसे संस्कारों अर्थात् प्रयत्नों द्वारा बदला नहीं जा सकता अर्थात् वह संस्कारों को निरर्थक करती है – इस योग्यता को स्वभावधर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान, स्वभावनय कहलाता है।

2. इसीप्रकार आत्मा के पर्यायस्वभाव की ऐसी योग्यता है कि उसे संस्कारित किया जा सकता है अर्थात् जो पर्याय होनेवाली है उसके अनुकूल प्रयास भी किये जाते हैं – इस योग्यता को अस्वभावधर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञानांश, अस्वभावनय कहलाता है।

3. किसी भी वस्तु का मूलस्वभाव बदला नहीं जा सकता। चेतन कभी जड़ नहीं हो सकता, जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता, भव्य कभी अभव्य नहीं हो सकता, अभव्य कभी भव्य नहीं हो सकता। बुन्देलखण्ड में एक कहावत प्रसिद्ध है – जाकौ जानै स्वभाव, जाय ना जी से, नीम न मीठी होय, खाओ गुड़ घी से।

4. मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि होकर सिद्ध बन सकता है – यह अस्वभावधर्म का ही स्वरूप है।

5. अस्वभाव अर्थात् संस्कारों को सार्थक करनेवाला धर्म – यह भी पर्यायगत योग्यतारूप होने से स्वभावरूप है, फिर भी त्रिकाली स्वभाव से भिन्न बताने के लिए इसे अस्वभावधर्म कहा गया है अर्थात् यह अस्वभाव नामक स्वभाव है।

6. एक द्रव्य पर किसी अन्य द्रव्य का प्रभाव पड़ने की बात तो दूर रही, द्रव्य का मूलस्वभाव अपनी मलिन और निर्मल पर्यायों से भी प्रभावित नहीं होता, यही स्वभाव की योग्यता है।

7. पर्यायों को संस्कारित किया जा सकता है – इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें परिवर्तन किया जा सकता है, पर्यायें तो अपने

सुनिश्चित क्रम में ही होती हैं। जो पर्याय जब होती है, तब उसके अनुरूप बाह्य प्रयत्न भी होता है, जिसे यहाँ 'संस्कार' शब्द द्वारा कहा जा रहा है।

(30-31)

कालनय और अकालनय

आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और अकालनय से कृत्रिम गर्मी में पकाये गये आम्रफल के समान समय पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है।

1. भगवान आत्मा में कार्य की सिद्धि समय पर आधारित हो अर्थात् समय की मुख्यता से हो - ऐसी योग्यता है, जिसे कालधर्म कहते हैं और वह काल के अतिरिक्त अन्य समवायों की प्रधानता से कार्यसिद्धि की योग्यता वाला है, जिसे अकालधर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाले ज्ञानांश कालनय और अकालनय कहलाते हैं।

2. कालनय के लिए डाली पर प्राकृतिकरूप से पकनेवाले आमफल का उदाहरण दिया गया है। यद्यपि उसमें भी वृक्ष को सींचना, खाद आदि देना - इत्यादि प्रयत्न किये जाते हैं, पर इन्हें गौण करके काल की मुख्यता से कहा जाता है कि आम, अपने समय में ही पका है।

3. अकालनय को समझने के लिए कृत्रिम गर्मी से पकाये जाने वाले आम का उदाहरण दिया गया है। कृत्रिम गर्मी में रखे गये आम भी एक साथ नहीं पकते, आगे-पीछे पकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कृत्रिम गर्मी, सभी आमों को एक जैसी मिलने पर भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने स्वकाल में सभी आम पकते हैं।

परन्तु निमित्त को मुख्य करके और काल को गौण करके कहा जाता है कि आम गर्मी से पके – यही अकालनय का कथन है।

4. अकाल से आशय समय से पहले कार्य हो गया – ऐसा नहीं है। अन्य समवायों को काल से भिन्न 'अकाल' शब्द से सम्बोधित किया गया है। जरा विचार करें! समय से पहले का क्या अर्थ है? जब भी कार्य होगा, तब कोई न कोई समय तो होगा ही। तो फिर वह समय पर ही हुआ क्यों न माना जाए? हमने अपनी कल्पना में उस कार्य का कोई समय निर्धारित कर रखा था, उस अपेक्षा हम उसे समय से पहले या विलम्ब से हुआ कह देते है।

इस प्रकरण पर विशेष जानकारी के लिए ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, क्रमबद्धपर्याय, क्रमबद्धपर्याय निर्देशिका आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

5. कोई कार्य, स्वकाल में हों और कोई कार्य, आगे-पीछे होते हों – ऐसा नहीं है। एक ही कार्य में काल की मुख्यता से कालनय और अन्य समवायों की मुख्यता से अकालनय घटित होता है।

(32-33)
पुरुषकारनय और दैवनय

आत्मद्रव्य, पुरुषकारनय से जिसे पुरुषार्थ द्वारा नींबू का वृक्ष या मधु-छत्ता प्राप्त होता है – ऐसे पुरुषार्थवादी के समान यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से जिसे पुरुषार्थवादी द्वारा नीबू का वृक्ष या मधु-छत्ता प्राप्त हुआ और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है – ऐसे दैववादी के समान अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

1. भगवान आत्मा की दुःखों से मुक्ति यत्नसाध्य है या

अयत्नसाध्य - इस प्रश्न का उत्तर इन नयों के द्वारा दिया गया है।

2. भगवान आत्मा में अन्तर्मुखी पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता को पुरुषकारधर्म कहते है और उसी समय उसमें कर्मक्षय का नैमित्तक कार्य होने की योग्यता होती है, जिसे दैवधर्म कहते है। इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान क्रमशः पुरुषकारनय और दैवनय कहलाता है।

3. यद्यपि यहाँ इन दोनों धर्मों को अलग-अलग उदाहरणों से इष्ट संयोग के सन्दर्भ में समझाया गया है, परन्तु सिद्धान्त में एक ही कार्य में दोनों नय घटित होते हैं। क्षपकश्रेणी के पुरुषार्थ से केवलज्ञान होता है - ऐसा कहना पुरुषकारनय का कथन है और ज्ञानावरणीयकर्म के क्षय से केवलज्ञान होता है - ऐसा कहना दैवनय का कथन है। इस सन्दर्भ में नय प्रज्ञापन, पृष्ठ 215-216 (गुजराती) में व्यक्त किया गया पूज्य गुरुदेवश्री का चिन्तन ध्यान देने योग्य है -

"किसी को पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हो और किसी को दैव (भाग्य) से - इसप्रकार भिन्न-भिन्न आत्माओं की यह बात नहीं है। प्रत्येक आत्मा में ये दोनों ही धर्म एकसाथ रहते हैं; अतः दैवनय के साथ अन्य नयों की विवक्षा का ज्ञान भी होना चाहिए, तभी दैवनय का ज्ञान सच्चा कहा जाएगा।"

पुरुषार्थ से मुक्ति हुई - यह न कहकर कर्मों के टलने से मुक्ति हुई अथवा दैव से मुक्ति हुई - यह कहना दैवनय है, परन्तु उसमें भी चैतन्यस्वभाव के पुरुषार्थ का स्वीकार तो साथ में है ही।

जिस जीव को स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ होता है, उसका भाग्य भी ऐसा ही होता है कि कर्म भी टल जाते हैं, कर्मों को टालने के लिए अलग से पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। इसी स्थिति में यह

अपेक्षा ग्रहण करना कि कर्मों के टलने से मुक्ति हुई - दैवनय का कथन है और पुरुषार्थ से मुक्ति हुई - यह पुरुषकारनय का कथन है।

4. यद्यपि यहाँ मुक्तिरूपी कार्य की चर्चा है, तथापि बाह्य संयोग-वियोग के बारे में भी इन नयों का प्रयोग समझना चाहिए। बाह्य संयोगों की प्राप्ति के लिए किये गये योग-उपयोगात्मक प्रयत्न को व्यवहार से पुरुषार्थ कहते हैं, परन्तु उससे इष्ट-संयोग की प्राप्ति होने का कोई नियम नहीं है, क्योंकि संयोगों की प्राप्ति उदयाधीन है।

पापोदय में चाह व्यर्थ है, नहीं चाहने पर भी हो।
पुण्योदय में चाह व्यर्थ है, सहजपने मनवांछित हो।।

उक्त पंक्तियों में संयोग-वियोग में कर्मोदय की प्रधानता बताई गई है।

5. बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग में उपादान कारण तो उन पदार्थों की तत्समय की योग्यता ही है, अतः पुरुषार्थ भी उन पदार्थों का उनमें ही है। हमारा प्रयत्न तो उन कार्यों में निमित्त मात्र है, जिसे उपचार से पुरुषार्थ कहते हैं। हम तो मात्र अपने प्रयत्नरूप कार्य का विकल्पात्मक पुरुषार्थ करते हैं।

6. पद्मपुराण में शम्बूकुमार द्वारा सूर्यहास-खड्ग की प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्न की घटना का वर्णन है। मन्त्र-सिद्धि की शम्बूकुमार ने, परन्तु उसका प्रयत्न निरर्थक हुआ, किन्तु लक्ष्मण को बिना किसी प्रयत्न के, बिना इच्छा के वह खड्ग प्राप्त हो गया और वही खड्ग, दुर्भाग्यवश शम्बूकुमार की मृत्यु का निमित्त बना। वर्तमान में सन् 2004 में डॉ. मनमोहन सिंह बिना किसी इच्छा और प्रयास के प्रधानमन्त्री बन गए और प्रबल प्रयत्न करने वाले अनेक लोग नहीं बन पाए।

7. वर्तमान शुभाशुभभावों द्वारा बाँधे गए पुण्य-पापकर्म आगामी संयोग-वियोग में दैव या भाग्य बनकर उदय में आते हैं।

नय क्रमांक 26 से 33 तक कहे गए चारों जोड़ों का आत्महित में योगदान का विवेचन, माननीय डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ 324 पर किया है, जो इसप्रकार है -

"जब कार्य होता है, तब ये पाँचों ही समवाय नियम से होते ही हैं और उसमें उक्त आठ नयों के विषयभूत आत्मा के आठ धर्मों का योगदान भी समान रूप से होता ही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं, उसे अपनी सिद्धि के लिए यहाँ-वहाँ झाँकने की या भटकने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि जब परमपारिणामिकभावरूप नियतस्वभाव के आश्रय से यह भगवान आत्मा, अपने पर्यायरूप अनियतस्वभाव को संस्कारित करता है, तब स्वकाल में कर्मों का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति होती ही है। तात्पर्य यह है कि परमपारिणामिकभावरूप त्रिकाली ध्रुव आत्मा को केन्द्र बनाकर, जब श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणमित होते हैं, तब ज्ञानावरणादिक कर्मों का अभाव होकर, अनन्तसुखस्वरूप सिद्धदशा प्रगट हो जाती है और इसमें ही उक्त आठ धर्म या आठ नय व पंच समवाय समाहित हो जाते हैं।"

(34-35)

ईश्वरनय और अनीश्वरनय

आत्मद्रव्य, ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता को भोगनेवाला है

और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छतापूर्वक फाड़कर, खा जाने वालेसिंह के समान स्वतन्त्रता को भोगनेवाला है।

1. आत्मा में स्वयं पराधीनता भोगने की योग्यता है, जिसे ईश्वर धर्म कहा जाता है और उसमें स्वयं स्वाधीनता भोगने की योग्यता है, जिसे अनीश्वरधर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाले ज्ञान को ईश्वरनय और अनीश्वरनय कहते हैं।

2. यहाँ ईश्वर धर्म का प्रयोग बड़ा विचित्र और दुर्लभ लगता है। 'ईश्वर' शब्द का अर्थ तो ऐश्वर्य को भोगनेवाला अथवा सर्व शक्तिमान् स्वाधीन सुपर पावर के रूप में जाना जाता है, परन्तु यहाँ उसे पराधीनता भोगने की योग्यता के रूप में कहा जा रहा है। इसमें यही दृष्टिकोण हो सकता है कि यह जीव, स्वयं अपने स्वाधीन स्वभाव को भूलकर पराधीनता भोगता है अर्थात् पर-पदार्थों को अपना ईश्वर बना लेता है, अतः ऐसी पराधीन होने की योग्यता को ईश्वरधर्म कहा है। कर्म-नोकर्म आदि आत्मा को पराधीन नहीं करते - यह बात ईश्वरधर्म से सिद्ध होती है।

3. यह बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा में स्वयं पराधीनता भोगने की योग्यता है, जिसके कारण वह पराधीनता भोगने में भी स्वतन्त्र है। धर्मास्तिकाय आदि अन्य द्रव्यों में ऐसी योग्यता नहीं है।

4. वस्तुतः कोई द्रव्य पराधीन हो ही नहीं सकता। आत्मा भी पराधीन नहीं होता, अपितु अपने विकारी परिणमन में स्वयं पराधीनता भोगता है।

5. पराधीन होने की योग्यता से सिद्ध होता है कि द्रव्यकर्म जबर्दस्ती आत्मा को विकार नहीं कराते, इस जीव में स्वयं पराधीन होकर विकार करने की योग्यता है।

6. कैसा भी संयोग हो, कैसा भी कर्मोदय हो, आत्मा अपने स्वरूप का लक्ष्य करके अतीन्द्रिय आनन्द भोगने में स्वतन्त्र है। वह स्वयं ही अपना ईश्वर है, अन्य कोई उसका ईश्वर नहीं है, इसलिए इस योग्यता को अनीश्वरधर्म कहा गया है।

7. ईश्वरनय और अनीश्वरनय, ज्ञानी जीव पर किस प्रकार लागू होते हैं, इसका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री नय-प्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ 233 पर इसप्रकार करते हैं -

"पर्याय में राग-द्वेष होने से जितनी पराधीनता है, उसका ज्ञान धर्मी जीव को रहता है, पर उसी समय अन्तर्दृष्टि में आत्मा की स्वाधीन प्रभुता का ज्ञान भी रहता है, क्योंकि ईश्वरनय के समय अनीश्वरनय की अपेक्षा भी साथ ही है। जहाँ अपने द्रव्यस्वभाव की त्रिकाली ईश्वरता से चूके बिना, मात्र पर्याय की पराधीनता सम्बन्धी ईश्वरता 'पर' को देता है, वहाँ तो ईश्वरनय सच्चा है; परन्तु जो स्वभाव की ईश्वरता को भूलकर, मात्र पर को ही ईश्वरता प्रदान करे, वह ईश्वरनय भी सच्चा नहीं है, वह तो पर्याय में ही मूढ़ होने से मिथ्यादृष्टि है।"

(36-37)
गुणीनय और अगुणीनय

आत्मद्रव्य, गुणीनय से शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार के समान गुणग्राही है और अगुणीनय से शिक्षक के द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार को देखनेवाले प्रेक्षक पुरुष के समान केवल साक्षी है।

1. भगवान आत्मा में उपदेश ग्रहण करने की योग्यता है, जिसे गुणीधर्म कहते हैं और उपदेश से प्रभावित न होकर उसमें मात्र जानने

की योग्यता है, जिसे अगुणीधर्म कहा है – इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान, गुणीनय और अगुणीनय कहते हैं।

2. ये दोनों धर्म भी उपदेश-ग्रहण, करने अथवा न करने की योग्यता बताकर, आत्मा की पर्याय की स्वतन्त्रता की घोषणा करते हैं। हम किसी का उपदेश मानें या न मानें – इसके लिए हम स्वतन्त्र हैं, कोई हमें बाध्य नहीं कर सकता।

3. गुणीधर्मरूप योग्यता हमें हितोपदेश ग्रहण करने का अवसर प्रदान करती है और अगुणीधर्मरूप योग्यता हमें कुगुरु आदि के उपदेश से बचने का अवसर प्रदान करती है।

(38-39)

कर्तृनय और अकर्तृनय

आत्मद्रव्य, कर्तृनय से रँगरेज के समान रागादि परिणाम का कर्ता है और अकर्तृनय से अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज को देखनेवाले पुरुष की भाँति केवल साक्षी है।

1. आत्मा अपने रागादि परिणामों को स्वयं अपनी योग्यता से करे – ऐसी योग्यतावाला है, जिसे कर्तृधर्म कहते हैं और उसी समय उसका स्वभाव, रागादिरूप नहीं होने की योग्यता भी रखता है जिसे अकर्तृधर्म कहते हैं – इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान, क्रमशः कर्तृनय और अकर्तृनय कहलाता है।

2. समयसार में रागादि में एकत्वबुद्धि को मिथ्यात्व कहा है, परन्तु यहाँ 'यः परिणमति स कर्ता' – इस परिभाषा के अनुसार ज्ञानी को भी राग का कर्ता बताया जा रहा है, साथ ही भेदज्ञान होने से वह अकर्ता तो है ही; अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञानी, दृष्टि (श्रद्धा) की अपेक्षा रागादि भावों का अकर्ता है और ज्ञान की अपेक्षा

उनका कर्ता। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दोनों धर्म, एक साथ सिद्ध होते हैं। ज्ञान-स्वभाव रागादिरूप नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षा आत्मा अकर्ता ही है।

3. अज्ञानी को भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कर्ता-अकर्ता देखा जा सकता है। यद्यपि अज्ञानी को नय नहीं होते, तथापि ज्ञानी उसे नयदृष्टि से जानता है। वह रागादिरूप परिणमता तो है ही, एकत्वबुद्धि भी कर रहा है; अतः वह श्रद्धा-ज्ञान दोनों अपेक्षाओं से रागादि का कर्ता है, किन्तु उसी समय शुद्धनय की दृष्टि से उसका त्रिकाली स्वभाव, रागादि को छूता भी नहीं है, अतः वह भी अकर्ता है।

4. समयसार, गाथा 320 में आत्मा को आँख के समान रागादि सभी पर्यायों का अकर्ता अथवा मात्र ज्ञाता कहा है, यह कथन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से ज्ञानी-अज्ञानी सभी जीवों पर लागू होता है।

5. अगुणीनय में आत्मा को मात्र उपदेश का साक्षी कहा था। यहाँ अपने में होनेवाले रागादि का साक्षी कहा गया है और अभोक्तृत्व नय से अपने सुख-दुःख का साक्षी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का स्वभाव तो सभी पदार्थों को साक्षीभाव से मात्र जानने का ही है।

(40-41)

भोक्तृनय और अभोक्तृनय

आत्मद्रव्य, भोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी के समान सुख-दुःखादि का भोक्ता है और अभोक्तृत्वनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खाने वाले रोगी को देखनेवाले वैद्य के समान केवल साक्षी ही है।

1. भगवान आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह अपनी भूल से

अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगे अर्थात् वेदन करे, जिसे भोक्तृत्वधर्म कहते हैं और एक ऐसी योग्यता भी है, जिससे वह अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से जानता-देखता है। इस योग्यता को अभोक्तृत्वधर्म कहते हैं - इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान, क्रमशः भोक्तृत्वनय और अभोक्तृत्वनय है।

2. कर्तृत्वनय और अकर्तृत्व में घटित होनेवाली सभी विवक्षाएँ यहाँ भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन एक साथ रहते हैं। कहा भी है - 'जो करे, वही भोगे'।

3. ज्ञानी को भी चारित्र की कमजोरी के कारण पुण्य-पाप के उदय में सुख-दुःख का वेदन होता है तो भी उस सुख-दुःख को पराश्रित परिणाम जानकर अपने स्वरूप को उससे भिन्न ही जानता है। यह भेदज्ञान ही साक्षीभाव है, जिसके बल से वह सुख-दुःख को भोगते समय भी उनका ज्ञाता ही रहता है।

4. गुणी-अगुणी, कर्तृ-अकर्तृ तथा भोक्तृ-अभोक्तृ - इन छहों नयों के माध्यम से आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए डॉ. भारिल्ल नयचक्र पृष्ठ 332 पर लिखते हैं - "भगवान आत्मा, गुणीनय से गुणग्राही है अर्थात् उपदेश को ग्रहण करनेवाला है और अगुणीनय से गुणग्राही नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है; कर्तृनय से अपने आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्ता है और अकर्तृनय से उनका कर्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है। इसीप्रकार भोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भोक्ता है और अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भी भोक्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से जानने-देखनेवाला है।"

(42–43)
क्रियानय और ज्ञाननय

आत्मद्रव्य, क्रियानय से जैसे खम्भे के टकराने से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर, जिसे निधान मिल गया है – ऐसे अन्धे के समान अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और ज्ञाननय से, जैसे, मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी के समान, विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

1. भगवान आत्मा में अनुष्ठानपूर्वक कार्यसिद्धि की योग्यता है, जिसे क्रियाधर्म कहते हैं, इसीप्रकार ज्ञान द्वारा कार्यसिद्धि की योग्यता है, जिसे ज्ञानधर्म कहते हैं – इन दोनों को जाननेवाला ज्ञान, क्रमशः क्रियानय और ज्ञाननय कहलाता है।

2. यहाँ क्रिया से आशय जड़ की क्रिया से नहीं है। यहाँ साधकदशा में होनेवाले शुभभाव को क्रिया कहा गया है, क्योंकि वे प्रायः व्रत-शील-संयमादि बाह्य क्रिया में निमित्त होते हैं। इसीप्रकार ज्ञान से आशय रत्नत्रयरूप शुद्ध परिणति से है, मात्र बहिर्लक्ष्यी क्षयोपशमज्ञान से नहीं।

3. किसी को शुभभाव से मोक्ष होता है और किसी को रत्नत्रयरूप शुद्धभाव से – ऐसा नहीं है। साधक को निश्चय रत्नत्रय के साथ यथायोग्य शुभभाव होते ही हैं; अतः क्रियानय से अनुष्ठान (शुभभाव एवं महाव्रतादि क्रिया) की प्रधानता से कथन होता है। इस सम्बन्ध में नय-प्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ 275 पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किया गया स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"यहाँ प्रधानता शब्द का प्रयोग किया गया है, जो यह बताता

है कि गौणरूप से दूसरा कारण भी विद्यमान है। क्रियानय में अनुष्ठान की प्रधानता कही है अर्थात् शुभभाव की प्रधानता कही है, उसमें से भी यही अर्थ निकलता है कि गौणरूप से उसीसमय सम्यग्ज्ञानरूप विवेक भी विद्यमान है।

शुभराग की प्रधानता से सिद्धि होती है – ऐसा क्रियानय से जब कहा जाता है, तब उसीसमय यह ज्ञान भी साथ में रहता है अर्थात् उसी काल में गौणरूप में अन्तर में शुद्धता भी विद्यमान है – ऐसा ज्ञान अन्तर में रहे, तभी क्रियानय सच्चा कहा जाता है।"

(44-45)

व्यवहारनय और निश्चयनय

आत्मद्रव्य, व्यवहारनय से अन्य परमाणु के साथ बँधनेवाले एवं उससे छूटनेवाले परमाणु के समान बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है और निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप से परिणमित बध्यमान और मुच्यमान परमाणु के समान बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

1. भगवान आत्मा में एक ऐसी योग्यता है, जिससे उसकी बन्ध या मोक्षपर्यायों को कर्म की सापेक्षता (द्वैतभाव) से देखा जा सके – इस योग्यता को व्यवहारधर्म कहते हैं और इसके विरुद्ध एक ऐसी योग्यता भी है, जिससे उसकी बन्ध-मोक्षपर्यायों को कर्म से निरपेक्ष (अद्वैतभाव के रूप में) देखा जा सके। इस योग्यता को निश्चयधर्म कहते हैं – इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान, क्रमशः व्यवहारनय और निश्चयनय कहलाता है।

2. यहाँ बन्ध और मोक्ष पर्यायों को कर्म की सापेक्षता से कहना

व्यवहारनय कहा गया है। यद्यपि व्यवहारनय की अन्यत्र अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं, तथापि यहाँ 'पराश्रितो व्यवहारः' अथवा **व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को उनके भावों को तथा कारण कार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है** - यह परिभाषा घटित हो रही है। आत्मा कर्मों से बँधा है और कर्मों से छूटा है - ऐसा कहने में परद्रव्य की अपेक्षा आती है; अतः दोनों अवस्थाओं में द्वैत खड़ा हो जाता है।

3. यद्यपि अभेद आत्मा में बन्ध-मोक्ष का भेद करना भी द्वैत है, परन्तु यहाँ यह विवक्षा नहीं है। यहाँ तो कर्मों से बँधने या छूटने को द्वैत कहा गया है।

4. भगवान आत्मा, स्वयं अपनी योग्यता से बँधता या मुक्त होता है। परमाणु की स्निग्धता और रूक्षता के समान आत्मा में भी बँधने या छूटने की योग्यता है, उसे बन्ध या मुक्ति में कर्म की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार बन्ध-मोक्ष को स्वाधीन देखना, निश्चयनय है। प्रवचनसार, गाथा 16 में आत्मा को संसार या मुक्त अवस्था में स्वयम्भू कहा है।

5. बन्ध-मोक्ष में आत्मा स्वाधीन है - इस कथन में उसकी पर्यायों की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई है। यहाँ दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव आत्मा की बात नहीं है। इस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा नय-प्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ 312 पर व्यक्त किए गए विचार दृष्टव्य हैं -

"यहाँ जो यह कहा जा रहा है कि निश्चयनय से आत्मा बन्ध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, उसमें आत्मा का त्रिकाली स्वभाव, जो कि दृष्टि का विषय है, वह नहीं लेना। यहाँ

तो बन्ध–मोक्षपर्याय में अकेला आत्मा ही परिणमता है – इसप्रकार अकेले आत्मा की अपेक्षा (अद्वैत) बन्ध–मोक्ष पर्याय को लक्ष्य में लेने की बात है।

बन्धपर्याय में भी अकेला आत्मा परिणमित होता है और मोक्षपर्याय में भी अकेला आत्मा ही परिणमित होता है – इसप्रकार बन्ध–मोक्ष पर्याय, निरपेक्ष हैं; इसलिए आत्मा बन्ध एवं मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है – ऐसा का भगवान आत्मा में एक धर्म है।''

6. यद्यपि यहाँ बन्ध और मोक्ष पर्याय में द्वैत और अद्वैत धर्म घटित किये हैं, तथापि जीवादि सातों तत्त्वों में पर की सापेक्षता से द्वैतपना और पर की निरपेक्षता से अद्वैतपना घटित हो सकता है।

(46–47)

अशुद्धनय और शुद्धनय

आत्मद्रव्य, अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र के समान सोपाधि (उपाधिसहित) स्वभाववाला है और शुद्धनय से केवल मिट्टी के समान निरुपाधि (उपाधिरहित) स्वभाववाला है।

1. भगवान आत्मा में औपाधिक (विकारी) भावरूप परिणमित होने की योग्यता है, जिसे अशुद्धधर्म कहते हैं, लेकिन विकारी भावरूप परिणमन होने पर भी सदा एकरूप रहने की योग्यता है, जिसे शुद्धधर्म कहते हैं – इन दोनों धर्मों को जाननेवाले ज्ञान को क्रमशः अशुद्धनय और शुद्धनय कहते हैं।

2. अशुद्धधर्म पर्यायगत योग्यता है, जिसे क्षणिक उपादान की योग्यता कहा जा सकता है। यह योग्यता ही आत्मा के विकारी

परिणमन को द्रव्यकर्मादि परपदार्थों से निरपेक्ष और स्वतन्त्र सिद्ध करती है। यदि पर्याय में विकारी भावरूप परिणमने की योग्यता न होती तो अनन्त पर-पदार्थ भी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं करा सकते।

3. रागादि भाव, आत्मा का त्रिकाली स्वभाव न होने पर भी वे पर के कारण उत्पन्न नहीं होते। आत्मा में उन्हें धारण करने की योग्यता है अर्थात् अशुद्धनय से आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। इस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा नय-प्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ 321 पर किया गया स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"यदि इसप्रकार का धर्म भगवान आत्मा में स्वयं का नहीं होता तो अन्य अनन्त परद्रव्य इकट्ठे होकर भी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते थे। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक जो उपाधिभाव-विकारभाव-उदयभाव-संसारभाव होते हैं, उन्हें आत्मा स्वयं ही धारण किये रहता है, क्योंकि अशुद्धनय से आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है।"

4. यहाँ रागादि की उत्पत्ति में आत्मा के पर्यायगत स्वभाव को कारण कहा है अर्थात् यह योग्यता ही स्वभाव नामक समवाय है।

5. क्षणिक पर्याय में अशुद्धता होने पर भी आत्मा का स्वभाव निरुपाधिक और विकाररहित है, उसकी यह योग्यता शुद्धनय का विषय है।

6. यहाँ विकार होने की योग्यता के सामने त्रिकाली सामान्य स्वभावरूप रहने की योग्यता को लिया है। निर्मल पर्यायों की योग्यता के बारे में यहाँ कोई चर्चा नहीं की गई है। इसप्रकार आत्मा एक साथ शुद्ध और अशुद्ध, दोनों धर्मों को धारण करता है।

इसप्रकार यहाँ अनन्त धर्मात्मक आत्मा में विद्यमान 47 धर्मों का कथन किया। शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को दृष्टि में लेना ही इन सभी धर्मों को जानने का फल है और यही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. सैंतालीस नयों में उन नयों पर विशेष प्रकाश डालिए, जो आत्मा के त्रिकाली अभेद सामान्य द्रव्यस्वभाव की सिद्धि करते हैं।
2. सैंतालीस नयों में उन नयों पर विशेष प्रकाश डालिए, जिनसे आत्मा की पर्याय में विकारी भावरूप परिणमित होने की योग्यता सिद्ध होती है।
3. सैंतालीस नयों के स्वरूप एवं उपयोगिता पर एक समीक्षात्मक निबन्ध लिखिए।
4. सैंतालीस नयों में पाँच समवाय सम्बन्धी नयों पर प्रकाश डालिए।
5. सप्तभंगी नयों को एक अन्य उदाहरण पर घटाइए।
6. साक्षीभाव को बतानेवाले नयों की जोड़ियों पर टिप्पणी लिखिए।
7. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और द्रव्य-पर्यायनय में क्या अन्तर है?
8. ज्ञान-ज्ञेयसम्बन्धी नयों पर प्रकाश डालिए।

प्रत्यक्ष शिवमय सदा जो, उस आत्मा में है नहीं।
ध्यानावली किंचित् अहो! ये शुद्धनय कहता यही।।
ध्यानावली है आत्मा में', वचन यह व्यवहार का।
यह तत्त्व जो जिनवर कथित, है इन्द्रजाल अहो महा।।

– नियमसार कलश, 119

18

अनेकान्त–स्याद्वाद

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं, पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिः, नित्यमेव प्रकाशताम्।।

धर्म अनन्तमयी वस्तु जो, रहे सर्वदा पर से भिन्न।
सदा प्रकाशित अनेकान्तमय, मूर्ति करे नित अवलोकन।।

जैन शासन में प्रत्येक वस्तु अनेकान्तमयी अर्थात् अनन्त धर्मात्मक कही गई है। अनेकान्तमयी वस्तु को स्याद्वाद शैली से बतानेवाली जिनवाणी को भी अनेकान्त–मूर्ति कहा जाता है; अतः आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति टीका में समयसारस्वरूप भगवान–आत्मा को नमस्कार करने के बाद अनेकान्त–मूर्ति जिनवाणी को नमस्कार किया है।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु में परस्पर विरोधी स्वभाववाले सत्–असत्, नित्य–अनित्य आदि अनन्त धर्मयुगल भी त्रिकाल विद्यमान रहते हैं। एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों की देखनेवाली दृष्टि, जैनदर्शन की मौलिक दृष्टि है। अनेकान्तमयी वस्तु और स्याद्वादमयी शैली की चर्चा जिनागम के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं है। यद्यपि परमभावप्रकाशक नयचक्र में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने इस विषय पर सांगोपांग प्रकाश डाला है, फिर भी यहाँ प्रश्नोत्तर शैली के माध्यमं से

इस विषय को सरल बनाने का प्रयास किया जा रहा है, क्योंकि इस प्रकरण की चर्चा के बिना नयों की चर्चा कलश-विहीन शिखर के समान है।

प्रश्न 1 – अनेकान्त किसे कहते हैं?

उत्तर – आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं – "जो वस्तु तत् है, वही अतत् है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है – इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक (निष्पादक) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, **अनेकान्त** है।"

प्रश्न 2 – स्याद्वाद क्या है?

उत्तर – आप्तमीमांसा, कारिका 104 में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं – "सर्वथा एकान्त का त्याग करके, कथंचित् विधान का नाम स्याद्वाद है। वह सात भंगों और नयों की अपेक्षा रखता है तथा हेय-उपादेय भेद को बताता है।"

प्रश्न 3 – अनेकान्त और स्याद्वाद में परस्पर क्या सम्बन्ध है?

उत्तर – आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार – "स्याद्वाद, समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह कहता है कि अनेकान्त स्वभाववाली होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं।" इस प्रकार अनेकान्त और स्याद्वाद में द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।

प्रश्न 4 – 'अनेकान्त' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर – 'अनेकान्त' शब्द अनेक + अन्त – इन दो शब्दों से बनता है। अनेक अर्थात् एक से अधिक और अन्त अर्थात् धर्म। 'एक से अधिक' के दो से अनन्त के बीच अनेक अर्थ सम्भव हैं।

यदि अनेक का अर्थ अनन्त किया जाए तो अनेकान्त का अर्थ अनन्त गुणात्मक वस्तु होगा और अनेक का अर्थ दो किया जाए, तब अनेकान्त का अर्थ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाली द्वयधर्मात्मक वस्तु होगा।

प्रश्न 5 – 'स्यात्' शब्द का प्रयोग कहाँ और क्यों किया जाता है?

उत्तर – स्यात् शब्द का प्रयोग धर्मों के साथ किया जाता है, गुणों के साथ नहीं। आत्मा कथंचित् सत्‌रूप है और कथंचित् असत्‌रूप है – ऐसा प्रयोग तो होता है, परन्तु आत्मा कथंचित् ज्ञानरूप है, कथंचित् दर्शनरूप है – ऐसा प्रयोग प्रायः नहीं होता, क्योंकि गुणों में परस्पर विरोध नहीं है, इसलिए उन्हें स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होती, परन्तु सत्-असत् आदि धर्म परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, अतः उन्हें स्याद्वादी ही स्वीकार कर सकते हैं। अन्य लोग, किसी एक धर्म को ही ग्रहण करके पक्षपाती हो जाते हैं; अतः अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया जाता है।

प्रश्न 6 – सत्-असत् आदि धर्म परस्पर विरुद्ध तो हैं ही, अतः यह क्यों कहा जाता है कि ये परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं?

उत्तर – इनका स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध ही है, परन्तु ये भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में एक साथ रहते हैं, अतः इनमें **सह-अवस्थान विरोध नहीं** है। यह अविरोध बताने के लिए 'परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले' – इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न 7 – स्याद्वाद शैली की आवश्यकता क्यों होती है?

उत्तर – प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। शब्दों की शक्ति सीमित होने से सभी धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता, अतः किसी

एक धर्म की मुख्यता से वस्तु का वर्णन किया जाता है, लेकिन जिस समय किसी एक धर्म को मुख्य किया जाता है, उस समय उसका विरोधी धर्म या शेष अन्य धर्म स्वतः गौण हो जाते हैं अर्थात् उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जाता।

यह मुख्यता और गौणता वक्ता की इच्छानुसार वाणी और ज्ञान में होती है, वस्तु में नहीं। जो धर्म मुख्य किया जाता है, उसे विवक्षित या अर्पित कहते हैं और शेष धर्मों को अविवक्षित या अनर्पित कहते हैं। वस्तु में सभी धर्म अनादि-अनन्त त्रिकाल विद्यमान रहते हैं।

प्रश्न 8 – स्याद्वाद शैली से कथन करने पर 'भी' और 'ही' का प्रयोग क्यों और किस प्रकार किया जाता है?

उत्तर – 1. मुख्य धर्म का कथन करते हुए गौण धर्मों की सत्ता का ज्ञान कराने के लिए 'भी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे, आत्मा नित्य भी है – ऐसा कथन किया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा नित्य तो है ही, वह अनित्य भी है, साथ ही उसमें अन्य अनन्त धर्म भी हैं।

इससे सिद्ध होता है कि 'भी' - यह शब्द समन्वय का सूचक नहीं है, अपितु अनुक्त धर्मों की सत्ता का सूचक है।

2. यदि अपेक्षा स्पष्ट न की जाए तो 'भी' का प्रयोग आवश्यक होता है। जैसे, आत्मा नित्य 'भी' है, लेकिन यदि अपेक्षा स्पष्ट की जाए तो 'ही' का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। जैसे, द्रव्यदृष्टि से आत्मा नित्य 'ही' है। इस प्रकार 'ही' हठ या दुराग्रह का प्रतीक नहीं है, अपितु दृढ़ता या स्पष्ट अपेक्षा का प्रतीक है, क्योंकि जिस अपेक्षा से बात कही जा रही है, उस अपेक्षा वस्तु वैसी 'ही' है।

3. 'भी' का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है, क्योंकि ये शब्द

अज्ञानता के सूचक हैं। जबकि 'भी' सम्भावना का सूचक होकर, अनुक्त धर्मों की सुनिश्चित सत्ता का सूचक है। स्याद्वाद, सम्भावनावाद का पर्यायवाची नहीं है, अपितु निश्चयात्मक ज्ञान होने से प्रमाणभूत है।

4. लौकिक प्रयोग शैली में कभी-कभी 'भी' अपनी बात पर बल देने का काम भी करता है। जैसे, हमने भी दुनिया देखी है, हमने भी शास्त्र पढ़े हैं - इत्यादि कथनों में अपनी तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर बल दिया जा रहा है।

5. अपूर्ण या अंश कथन को पूर्णतः न समझ लिया जाए, अतः 'भी' का प्रयोग किया जाता है। एक धर्म का भी कथन अंश का ही कथन है।

6. श्लोकवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 6, श्लोक 53 के अनुसार वाक्यों में 'ही' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति और दृढ़ता के लिए करना ही चाहिए, अन्यथा कहीं-कहीं वह वाक्य नहीं कहा के समान समझा जाएगा।

7. 'ही' और 'भी' के प्रयोगों की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, जैन न्याय, पृष्ठ 300 पर लिखते हैं -

"इसी तरह वाक्य में एवकार (ही) का प्रयोग न करने पर भी सर्वथा एकान्त को मानना पड़ेगा, क्योंकि उस स्थिति में अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है। जैसे, 'उपयोग लक्षण जीव का ही है' - इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग लक्षण अन्य किसी का लक्षण न होकर जीव का ही है; अतः यदि इसमें से 'ही' को निकाल दिया जाए तो उपयोग अजीव का भी लक्षण हो सकता है।

प्रमाणवाक्य में मात्र 'स्यात्' पद का प्रयोग होता है, किन्तु नयवाक्य में 'स्यात्' पद के साथ-साथ 'एव' (ही) का प्रयोग भी आवश्यक है। 'ही' - यह शब्द सम्यक् एकान्त का सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त का सूचक है।''

प्रश्न 9 – 'स्यात्' पद का प्रयोग क्या सूचित करता है?

उत्तर – 'स्यात्' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कथन किया जा रहा है, वह अंश के सम्बन्ध में है, पूर्ण वस्तु के सम्बन्ध में नहीं। इस सन्दर्भ में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा 2 में जन्मान्ध व्यक्तियों द्वारा हाथी के बारे में विवाद करने का उल्लेख किया है, जो इसप्रकार है -

''जैसे, एक हाथी को अनेक जन्मान्ध व्यक्ति छूकर जानने का यत्न करें और जिसके हाथ में हाथी का पैर आ जाए, वह हाथी को खम्भे के समान, पेट पर हाथ फेरनेवाला दीवार के समान, कान पकड़नेवाला सूप के समान और सूँड पकड़नेवाला केले के स्तम्भ के समान कहे तो वे सम्पूर्ण कथन हाथी के बारे में सही नहीं होंगे, क्योंकि देखा है अंश को और कहा गया सर्वांश को।

यदि अंश देखकर अंश का ही कथन करें तो गलत नहीं होगा। जैसे, यदि यह कहा जाए कि हाथी का पैर खम्भे के समान है, कान सूप के समान है, पेट दीवार के समान है तो कोई असत्य नहीं; क्योंकि ये कथन सापेक्ष हैं और सापेक्ष नय सत्य होते हैं; अकेला पैर हाथी नहीं है, लेकिन पेट भी हाथी नहीं है, इसीप्रकार कोई भी अकेला अंग, अंगी को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर सकता है।''

प्रश्न 10 – अनेकान्त में भी अनेकान्त किस प्रकार घटित होता है?

उत्तर – यदि कोई अन्यमती, जैनमती से पूछे कि आप कथंचित्

अनेकान्तवादी हैं या सर्वथा अनेकान्तवादी? वह इसके उत्तर में कहे कि हम तो सर्वथा अनेकान्तवादी हैं तो यह भी एकान्त हो जाएगा, क्योंकि इसमें अनेकान्त के दूसरे पक्ष एकान्त का सर्वथा निषेध हो रहा है। यदि वह कहे कि हम कथंचित् अनेकान्तवादी हैं तो इससे यह स्वतःसिद्ध हो गया कि वह कथंचित् एकान्तवादी भी है। इसमें कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि जैनमत को सर्वथा एकान्त अस्वीकृत है, कथंचित् एकान्त नहीं।

वस्तुतः जैनदर्शन न तो सर्वथा एकान्तवादी है और न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी है और कथंचित् अनेकान्तवादी, क्योंकि उसमें प्रमाण और नय द्वारा वस्तु का निर्णय किया जाता है। इस प्रकरण की चर्चा अध्याय दो में विस्तार से की गई है, अतः पाठकों से अनुरोध है कि उसे एक बार अवश्य पढ़ लें।

इस सम्बन्ध में कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 261 में कहा गया है -

जं वत्थु अणेयंतं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णएहिं य, णिरवेक्खं दीसदे णेव।।

अर्थात् जो वस्तु अनेकान्तरूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्तरूप है। श्रुतज्ञान (प्रमाण) की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और नयों की अपेक्षा सम्यक् एकान्तरूप है। बिना अपेक्षा (निरपेक्ष) के वस्तु का स्वरूप नहीं देखा जा सकता।

वस्तुतः अनेकान्त और एकान्त, सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है -

1. **सम्यक् एकान्त** - अन्य धर्मों को गौण करके एक धर्म की मुख्यता से कथन करना। जैसे, वस्तु कथंचित् नित्य है।

2. **मिथ्या एकान्त** - अन्य धर्मों का सर्वथा निषेध करके एक

धर्म का कथन करना। जैसे, वस्तु सर्वथा नित्य ही है।

3. सम्यक् अनेकान्त – सम्यक् एकान्तों का समूह सम्यक् अनेकान्त है। जैसे, वस्तु नित्यानित्य है।

4. मिथ्या अनेकान्त – मिथ्या एकान्तों का समूह मिथ्या अनेकान्त है। जैसे, वस्तु सर्वथा नित्य भी है और सर्वथा अनित्य भी है।

आचार्य समन्तभद्र मिथ्या अनेकान्त को उभयैकान्त भी कहते हैं।

इसप्रकार जैनदर्शन वस्तु को अनेकान्तरूप तो कहता ही है, एकान्तरूप भी कहता है। वह प्रमाण को अनेकान्तरूप और नय को एकान्तरूप कहता है।

प्रश्न 11 – क्या प्रत्येक वाक्य में 'स्यात्' पद लगाना अनिवार्य है?

उत्तर – यदि वक्ता के अभिप्राय में स्यात् पद की विवक्षा हो तो हर वाक्य में 'स्यात्' पद का प्रयोग अनिवार्य नहीं है। वाणी में बार-बार 'स्यात्' पद लगाना भाषा के प्रवाह की दृष्टि से भी उचित नहीं माना गया है। एक बालक अपनी माँ को बार-बार 'मेरी माँ..., मेरी माँ' न कहकर मात्र 'माँ' कहता है और सभी लोग समझ जाते हैं कि यह अपनी ओर से ही उसकी माँ को माँ कह रहा है, अन्य को भी नहीं और अन्य की अपेक्षा भी नहीं। इसीप्रकार 'स्यात्' पद न कहा जाने पर भी कहा गया समझ लेना चाहिए।

प्रश्न 12 – क्या आत्मा में सभी धर्म एक साथ रहते हैं?

उत्तर – अनेकान्त की परिभाषा में आचार्य अमृतचन्द्र ने "एक वस्तु में वस्तुत्व को निपजानेवाली" – इस पद का प्रयोग किया है अर्थात् सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरोधी

धर्म होने से वस्तु कायम रहती है, अन्यथा वस्तु के नष्ट हो जाने का प्रसंग आता है, परन्तु जिन धर्मों के एक साथ रहने में सर्वथा विरोध है, यदि वे वस्तु में एक साथ रहेंगे तो वस्तु ही नष्ट हो जाएगी। जरा सोचिए कि आत्मा जड़ भी हो और चेतन भी हो तो आत्मा का स्वरूप क्या होगा? अतः आत्मा में चेतनत्व और अचेतनत्व - ये दोनों धर्म, एक साथ नहीं रह सकते, उसमें चेतना की अस्ति और अचेतना की नास्ति ही हो सकती है।

प्रश्न 13 – क्या स्याद्वाद सभी धर्मों का समन्वय करता है?

उत्तर – स्याद्वाद का अर्थ है - किसी अपेक्षा से कथन करना, अतः वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी धर्मों को सापेक्ष दृष्टि से कहना ही सभी धर्मों का समन्वय है।

दुर्भाग्यवश आजकल स्याद्वाद के नाम पर वस्तु के धर्मों की सिद्धि करने के बजाय सभी सम्प्रदायों को सच्चा मानने का फैशन चल गया है। अनेक विद्वान् बड़े गौरव के साथ कहते हैं कि अपनी-अपनी अपेक्षा सभी धर्म सच्चे हैं। कुछ लोग तो यह कहने में भी संकोच नहीं करते कि सब धर्मों को मिला दो - जैनधर्म बन जाएगा, लेकिन यह सब पल्लवग्राही पाण्डित्य का परिणाम है।

जरा सोचिए, क्या सौ असत्य मिलकर सत्य बन सकते हैं? क्या सर्वथा एकान्तवादी 363 मतों को मिलाकर जैनधर्म बना है या जैन शासन में कथित वस्तु-व्यवस्था के एक-एक पक्ष को सर्वथा ग्रहण करके वे मिथ्यामत जन्मे हैं? यदि सभी मान्यताएँ किसी अपेक्षा सत्य हैं तो सत्य और असत्य में क्या अन्तर है - यह विचारणीय हो जाता है? क्या रागी और वीतरागी, दोनों आदर्श हो सकते हैं? राग और वीतराग, दोनों को धर्म मानना, क्या विष और अमृत का समन्वय करने के समान नहीं है? अतः असत्यों का समन्वय करने के बजाय

वीतराग-सर्वज्ञकथित वस्तु-स्वरूप एवं मोक्षमार्ग का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

प्रश्न 14 – अपने मत को सच्चा और अन्यमत को झूठा कहना कहाँ तक उचित है? क्या यह पक्षपात नहीं है?

उत्तर – सत्य-असत्य का निर्णय, अपने-पराये के आधार पर नहीं, अपितु सर्वज्ञकथित प्रमाण और नयों द्वारा करना चाहिए। हम जिस परम्परा में जन्मे हैं, उसे ही अपना धर्म या मत समझ रहे हैं। यदि आगामी भव में दूसरी परम्परा में जन्म हो जाएगा तो उसे अपना मानने लगेंगे। देखो! धर्म का प्रयोजन तो आत्महित करना है, अतः आत्मा का स्वरूप ही सत्य है और उसकी अनुभूति ही धर्म है। यह वस्तु का स्वरूप है, किसी व्यक्तिविशेष का नहीं। जन्म के आधार पर किसी मत को अपना मानना और किसी को पराया – यह मान्यता सही नहीं है। इसलिए पूज्य गुरुदेवश्री बारम्बार कहते हैं कि **"जैनधर्म वाड़ो नथी, सम्प्रदाय नथी, आ तो सर्वज्ञ परमात्माए कहेलुँ वस्तु नो स्वरूप छे।"**

प्रश्न 15 – क्या निश्चय-व्यवहारनयों के कथनों में स्याद्वाद शैली का और स्याद्वाद शैली के कथनों में निश्चय-व्यवहारनयों का प्रयोग हो सकता है?

उत्तर – *स्याद्वाद शैली और निश्चय-व्यवहारनयों में बुनियादी अन्तर यह है कि स्याद्वाद शैली अत्यन्त व्यापक है, उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के नय, प्रमाण आदि अन्तर्गर्भित हो जाते हैं; जैसे, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय आदि आगम शैली के नय, निश्चय-व्यवहार आदि अध्यात्म शैली के नय, त्रि-नय, सप्त नय, 47 नय, सप्तभंगी, प्रमाण सप्तभंगी, नय सप्तभंगी, सभी प्रकार के प्रमाण, चार निक्षेप आदि सभी का अन्तर्भाव स्याद्वाद में हो जाता है, जबकि*

निश्चय-व्यवहारनय, उस स्याद्वाद के नय नामक अंग के अन्तर्गत एक प्रकार के भेद हैं। इनके प्रयोगों में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है।

स्याद्वाद शैली का प्रयोग, मुख्यतया सर्वथा एकान्त मतों का खण्डन करते हुए वस्तु के अनेकान्त स्वरूप की सिद्धि के लिए किया जाता है और निश्चय-व्यवहारनयों का प्रयोग, वस्तु के यथार्थ और उपचरित स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए किया जाता है।

यद्यपि दोनों शैलियों में सापेक्ष कथन किया जाता है, निरपेक्ष कथन, मिथ्या-एकान्तरूप होते हैं। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथंचित्' अर्थात् 'किसी अपेक्षा' होता है, अतः निश्चय-व्यवहारनय के कथन भी किसी अपेक्षा से किये जाते हैं, अतः उनमें भी 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग करने में कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं आता, फिर भी दोनों शैलियों के प्रयोगों को एक-दूसरे में मिलाने में अड़चन होने लगती है।

यहाँ इस प्रकार के प्रयोग के कुछ उदाहरणों का परीक्षण किया जा रहा है -

वृहद्द्रव्यसंग्रह में आत्मा को निश्चय से अमूर्तिक तथा व्यवहार से मूर्तिक कहा गया है। स्याद्वाद शैली में यही कहा जाएगा कि आत्मा कथंचित् अमूर्तिक है और कथंचित् मूर्तिक है।

यहाँ स्याद्वाद शैली में आत्मा को कथंचित् मूर्तिक कहने में लोगों को संकोच होता है, क्योंकि प्रायः लोग कथंचित् का अर्थ आधा-आधा या कुछ प्रतिशत समझते हैं, परन्तु 'कथंचित्' का अर्थ कुछ प्रतिशत बिलकुल भी नहीं है। 'कथंचित्' शब्द का अर्थ 'किसी अपेक्षा' होता है। व्यवहारनय भी संयोग की अपेक्षा आत्मा को मूर्तिक कहता है, अतः'आत्मा कथंचित् मूर्तिक है' - ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

स्याद्वाद शैली में आत्मा को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य कहा जाता है, परन्तु यह कहना असत्य है कि आत्मा निश्चय से नित्य है और व्यवहार से अनित्य। अनित्यता भी नित्यता के समान वस्तु का स्वभावभूत धर्म है। अभेद, एक, सत् आदि के समान भेद, अनेक, असत् आदि भी वस्तु के स्वभावभूत धर्म हैं; अतः उन्हें व्यवहार अर्थात् उपचरित कैसे कहा जा सकता है?

हाँ, यदि यहाँ उक्त उदाहरण में हम निश्चय-व्यवहारनय की जगह द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का प्रयोग करें तो स्याद्वाद का सार्थक प्रयोग होगा अर्थात् आत्मा द्रव्यार्थिकनय या द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायार्थिकनय या पर्यायदृष्टि से अनित्य है। इसप्रकार सभी नय दृष्टियों में कथंचित् का प्रयोग तो सम्भव है, परन्तु सर्वत्र कथंचित् की जगह अलग-अलग नयदृष्टियाँ, प्रमाणदृष्टियाँ आदि लागू होती हैं।

इसी प्रकार एक महिला को पिता, पुत्र और पति की अपेक्षा क्रमशः कथंचित् पुत्री, कथंचित् माँ और कथंचित् पत्नी कहा जाएगा, परन्तु क्या वह कुछ अंशों में माँ और कुछ अंशों पत्नी या पुत्री आदि कही जा सकती है? नहीं! वह जिस अपेक्षा माँ है, उस अपेक्षा सम्पूर्ण माँ ही है। इसी प्रकार वह पिता और पति की अपेक्षा सम्पूर्ण पुत्री और सम्पूर्ण पत्नी ही है। उस महिला के माँ, पुत्री आदि धर्मों में निश्चय-व्यवहारनयों का प्रयोग करके क्या यह कहना उचित है कि वह निश्चय से माँ है और व्यवहार से पुत्री आदि! परन्तु ऐसा प्रयोग तो ठीक नहीं है, क्योंकि **किसी द्रव्य-भाव का नाम निश्चय और किसी द्रव्य-भाव का नाम व्यवहार - ऐसा नहीं है, अपितु एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप में निरूपित करना, निश्चय और अन्य स्वरूप में निरूपित करना, व्यवहार है।**

इस उदाहरण में हम ऐसा तो कह सकते हैं कि निश्चय से तो कोई

किसी की माता, पत्नी, बहन आदि होता ही नहीं है, परन्तु व्यवहार में एक ही स्त्री को उसके पुत्र की अपेक्षा माता, पति की अपेक्षा पत्नी, भाई की अपेक्षा बहन आदि कहा जाता है।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि आत्महित की दृष्टि से आत्मा में विद्यमान परस्पर विरोधी धर्मों में द्रव्यगत धर्मों को मुख्य करके निश्चय और पर्यायगत धर्मों को गौण करके व्यवहार कहा जाता है। समयसार, गाथा 11 में यही पद्धति अपनाई है और पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने प्रवचनों में इसका बहुत सरल और विस्तृत विवेचन करते हुए बार-बार कहा है कि पर्यायों का सर्वथा निषेध नहीं समझना चाहिए, उन्हें गौण करके अभूतार्थ कहा है।

इन दोनों शैलियों को भी कथंचित् एक और कथंचित् भिन्न कहा जा सकता है। सापेक्ष कथन की दृष्टि से इनमें समानता है और विषयवस्तु की दृष्टि से भिन्नता है। स्याद्वाद का प्रतिपाद्य विषय, वस्तु में विद्यमान धर्म हैं और निश्चय-व्यवहारनय का विषय, वस्तु का यथार्थ और उपचरित स्वरूप है।

इन दोनों शैलियों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चय-व्यवहार और स्याद्वाद शैली में विद्यमान समानता और अन्तर को यथार्थ समझकर, कोई आग्रह रखे बिना यथायोग्य प्रयोग करके वस्तु का स्वरूप समझना चाहिए।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों शैलियों में निश्चय-व्यवहार का प्रयोग प्रायः मोक्षमार्ग के निरूपण में किया जाता है, जहाँ स्याद्वाद का प्रयोग अटपटा लगता है और स्याद्वाद का प्रयोग अनेकान्त स्वरूप के निरूपण में किया जाता है, जहाँ निश्चय-व्यवहार के बजाय उस धर्म सम्बन्धी नयों का प्रयोग किया जाता है। 47 नयों में इसी प्रकार के प्रयोग किये गये हैं।

सभी लोग स्याद्वाद शैली से अनेकान्तस्वरूप वस्तु का निर्णय करके, निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति करना ही श्रेयस्कर है।

अभ्यास-प्रश्न

1. अनेकान्त-स्याद्वाद के परस्पर सम्बन्ध को और किन-किन नामों से कहा जा सकता है?
2. 'अनेकान्त' शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्तियाँ कीजिए।
3. 'स्याद्वाद' शब्द की व्याख्या कीजिए।
4. अनेकान्त में अनेकान्त से क्या तात्पर्य है?
5. क्या स्याद्वाद के द्वारा सभी धर्मों का समन्वय सम्भव है?

वस्तु-स्वरूप व्यवस्था द्वारा, निज को स्थापित करता।
इसप्रकार यह अनेकान्त, जिनशासन सिद्ध अलंघ्य हुआ।।
– समयसार कलश, 263

स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त जो, जगमग करता जिसका तेज।
शुद्ध स्वभावरूप महिमामय, मुझमें हुआ प्रकाश उदय।।
बन्ध-मोक्ष-पथ में पड़नेवाले भावों से मुझको क्या।
नित्य उदित रहने वाला यह, परम स्वभाव मुझे प्रगटा।।
– समयसार कलश, 269

19

सप्तभंग

जिसप्रकार नय, जैनदर्शन के मौलिक चिन्तन का प्रतिफलन है, उसीप्रकार सप्तभंग, अनेकान्त और स्याद्वाद भी जैनदर्शन के मौलिक चिन्तन के परिचायक हैं। अन्य दर्शनों में यह चिन्तन सर्वथा अनुपलब्ध है। यहाँ सप्तभंगी प्रकरण पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

वस्तुस्वरूप को समझाने के लिए ये सप्तभंग अत्यन्त उपयोगी हैं। सप्तभंगी तरंगिणी, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आप्तमीमांसा, स्याद्वाद मंजरी, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में इस विषय की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है, अतः इन ग्रन्थों का गहन अध्ययन-मनन अवश्य करना चाहिए।

उक्त ग्रन्थों के अलावा जैन काव्य जगत् में भी इस प्रकरण का उल्लेख किया गया है। कविवर द्यानतरायजी देव-शास्त्र-गुरु पूजन की जयमाला में लिखते हैं -

सो स्याद्वादमय सप्तभंग, गणधर गूँथे बारह सुअंग।

इसीप्रकार कविवर भागचन्दजी जिनवाणी स्तुति में लिखते हैं -

सप्तभंग जहँ तरंग उछलत सुखदानी।
सन्त-चित् मराल-वृन्द, रमें नित्य ज्ञानी।।

हमारे लोक-जीवन में जितनी गहराई से नय-पद्धति का प्रयोग

जितना स्पष्ट दिखाई देता है, सप्तभंग का प्रयोग उतना स्पष्टरूप से भासित नहीं होता। विधि-निषेध अथवा अस्ति-नास्ति की शैली तो जन-जीवन में व्याप्त है। तीसरे-चौथे भंग का प्रयोग भी यदा-कदा दिखाई देता है, परन्तु अन्तिम तीन भंगों का प्रयोग होता दिखाई नहीं देता। इस प्रकरण की चर्चा 47 नयों के अन्तर्गत सप्तभंगी सम्बन्धी नयों में की गई है। डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने परमभावप्रकाशक नयचक्र में अनेक ग्रन्थों के आधार से इस विषय पर अत्यन्त सरल एवं व्यवस्थित स्पष्टीकरण किया है। यहाँ प्रश्नोत्तर शैली में इस विषय की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है, ताकि इस विषय के प्रमुख बिन्दु पाठकों को हृदयंगम हो सकें -

प्रश्न 1 - सप्तभंगी क्या है?

उत्तर - विभिन्न ग्रन्थों में सप्तभंगी की परिभाषाएँ निम्नानुसार उपलब्ध होती हैं -

1. नयों के कथन करने की शैली को ही सप्तभंगी कहते हैं। यहाँ भंग शब्द वस्तु के स्वरूप-विशेष का ही प्रतिपादक है, इससे यह सिद्ध हुआ कि सात भंगों के समूह को सप्तभंगी कहते हैं।

- न्यायदीपिका, तृतीय प्रकाश, पृष्ठ 127

2. प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधि-प्रतिषेध धर्मों की कल्पना सप्तभंगी है।

- राजवार्तिक, प्रथम अध्याय, पृष्ठ 33

3. प्रमाणवाक्य अथवा नयवाक्य से एक ही वस्तु में अविरोधरूप से जो सत्-असत् आदि धर्मों की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहते हैं। - पंचास्तिकाय, गाथा 14, तात्पर्यवृत्ति

प्रश्न 2 - सप्तभंगी शैली का प्रयोग करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

उत्तर – किसी भी वस्तु का प्रतिपादन करते समय सर्वप्रथम यह प्रश्न खड़ा होता है कि वस्तु-स्वरूप का कथन सम्भव है या नहीं? क्योंकि जिनागम में अनेक स्थान पर भगवान आत्मा को वचनातीत, विकल्पातीत कहा गया है।

श्रीमद् राजचन्द्र 'अपूर्व अवसर' काव्य में लिखते हैं –

जो पद झलके, श्री जिनवर के ज्ञान में,
कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ?
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब।।

यदि वस्तु-स्वरूप कहा ही नहीं जा सकता तो उसके बारे में कहना-सुनना, पढ़ना-लिखना सब व्यर्थ है, किन्तु भगवान सर्वज्ञ की वाणी में वस्तु-स्वरूप कहा गया है और गणधर भगवन्तों ने उसे द्वादशांग में गूँथा है; अतः वस्तुस्वरूप सर्वथा अवक्तव्य नहीं, कथंचित् वक्तव्य भी है।

फिर प्रश्न उठता है कि यदि वस्तु-स्वरूप कहा जा सकता है तो उसके बारे में क्या कहा जा सकता है? कैसे कहा जा सकता है? और क्या नहीं कहा जा सकता?

सप्तभंगी शैली इसी प्रश्न का उत्तर देती है कि वस्तु में विद्यमान अनन्त धर्मों को विधि-प्रतिषेध की पद्धति से तीन प्रकार से कहा जा सकता है तथा नहीं कहे जा सकने के सन्दर्भ में चार स्थितियाँ बनती हैं।

वस्तु के अस्तित्व के बारे में वक्तव्य और अवक्तव्य के सम्बन्ध में कुल सात परिस्थितियाँ ही बनती हैं। उनमें से कहे जा सकने के सन्दर्भ में तीन स्थितियाँ निम्न प्रकार हैं –

1. अस्तित्व कहा जा सकता है
2. नास्तित्व कहा जा सकता है और

3. क्रम से अस्तित्व-नास्तित्व दोनों कहे जा सकते हैं।

इसी प्रकार, नहीं कहे जा सकने के सन्दर्भ में चार स्थितियाँ निम्न प्रकार बनती हैं -

1. एक साथ दोनों धर्मों को नहीं कहा जा सकता।

2. अस्तित्व तो कहा जा सकता, परन्तु उस समय सम्पूर्ण वस्तु को नहीं कहा जा सकता।

3. नास्तित्व तो कहा जा सकता है, परन्तु उस समय सम्पूर्ण वस्तु को नहीं कहा जा सकता।

4. अस्तित्व-नास्तित्व दोनों क्रमशः कहे जा सकते हैं, परन्तु एक साथ सम्पूर्ण वस्तु को नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार तीन भंग वक्तव्य सम्बन्धी और चार भंग अवक्तव्य सम्बन्धी - कुल मिलाकर अस्तित्व-नास्तित्व सम्बन्धी सात भंग हो जाते हैं, जिन्हें हम कथंचित् शब्द लगाकर इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

1. कथंचित् घट है, 2. कथंचित् घट नहीं है, 3. कथंचित् घट है भी और कथंचित् घट नहीं भी है, 4. कथंचित् घट अवक्तव्य है 5. कथंचित् घट है और अवक्तव्य है 6. कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है और 7. कथंचित् घट है, नहीं है और अवक्तव्य है।

प्रश्न 3 – भंग सात ही क्यों होते हैं, कम या अधिक क्यों नहीं?

उत्तर – सप्तभंगी तरंगिणी में इस प्रश्न का उत्तर इसप्रकार दिया गया है -

"प्रतिपाद्य प्रश्नों के सात प्रकार होने से सात ही भंग होते हैं।

प्रश्न – प्रश्न सात ही क्यों होते हैं?

उत्तर – क्योंकि जिज्ञासाएँ सात प्रकार की होती हैं।

प्रश्न – जिज्ञासाएँ सात ही प्रकार की क्यों होती हैं?

उत्तर – क्योंकि संशय भी सात प्रकार के ही उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न – संशय सात प्रकार के क्यों उत्पन्न होते हैं?

उत्तर – संशयों के विषयभूत धर्म भी सात प्रकार के होते हैं।

उक्त सात भंगों में पहला, दूसरा और चौथा – ये तीन एकल भंग हैं और शेष चार भंग संयोगी भंग हैं, जो एकल भंगों के संयोग से बनते हैं। इसप्रकार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य असंयोगी मूल भंग हैं, अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य और नास्ति-अवक्तव्य - ये तीन द्वि-संयोगी भंग हैं और अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य - यह एक त्रि-संयोगी भंग है।

प्रश्न 4 – एक ही द्रव्य सात भंगरूप कैसे हो सकता है?

उत्तर – आचार्य जयसेन, पंचास्तिकाय, गाथा 14 की टीका में इसीप्रकार का प्रश्न उठाकर, उसका समाधान निम्नप्रकार करते हैं –

"जिसप्रकार एक ही देवदत्त नामक पुरुष, मुख्य और गौण विवक्षा से अनेक प्रकार का हो जाता है, पुत्र की अपेक्षा पिता, पिता की अपेक्षा पुत्र; मामा की अपेक्षा भानजा, भानजे की अपेक्षा मामा; पत्नी की अपेक्षा पति और बहिन की अपेक्षा भाई कहा जाता है; शत्रु की अपेक्षा शत्रु और मित्र की अपेक्षा मित्र कहा जाता है; इसी प्रकार एक द्रव्य, विभिन्न अपेक्षाओं से सात भंगवाला हो सकता है; उसके सात भंगरूप होने में कोई दोष नहीं है।

यह तो सामान्य कथन है, सूक्ष्म व्याख्यान में सत्, एक, नित्य आदि धर्मों में से प्रत्येक धर्म में भिन्न-भिन्न सप्तभंगी लगाई जानी चाहिए।

किसप्रकार?

स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अवक्तव्य

आदि के समान स्याद् एक, स्याद् अनेक, स्याद् अवक्तव्य इत्यादि; स्याद् नित्य, स्याद् अनित्य, स्याद् नित्य-अनित्य, स्याद् अवक्तव्य इत्यादि।

इस बात को किस दृष्टान्त से समझें?

इसे भी उसी देवदत्त के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। जैसे, वही देवदत्त स्यात् पुत्र, स्याद् अपुत्र, स्यात् पुत्र-अपुत्र इत्यादि रूप है।"

तात्पर्य यह है कि विभिन्न अपेक्षाओं से देवदत्त पुत्र भी है, पिता भी है, मामा भी है, भानजा भी है, भाई भी है, पति भी है, शत्रु भी है, मित्र भी है; यह तो ठीक, पर उस देवदत्त के इन विभिन्न रूपों में से प्रत्येक रूप पर सात-सात भंग घटित हो सकते हैं। जैसे वह पुत्र भी है, अपुत्र भी है, पुत्र-अपुत्र भी है इत्यादि; मामा भी है, अमामा भी है, मामा-अमामा भी है इत्यादि; पिता भी है, अपिता भी है, पिता-अपिता भी है, इत्यादि।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भाव-अभाव आदि जितने भी धर्म-युगल हैं; उन सभी में सात भंग अवतरित होते हैं।

प्रश्न 5 – प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं तो अनन्त भंग क्यों नहीं कहे जाते? सात भंग ही क्यों कहे जाते हैं?

उत्तर – प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म होने के कारण अनन्त भंग होते हैं, पर ये अनन्त भंग, विधि और निषेध की अपेक्षा से प्रत्येक सात-सात हो जाते हैं अर्थात् अनन्त सप्तभंगियाँ हो जाती हैं, परन्तु इसे हम अनन्त भंगी नहीं कह सकते।

प्रश्न 6 – सप्तभंगी कितने प्रकार की होती है?

उत्तर – अभिप्राय के आधार पर सप्तभंगी, प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी के भेद से दो प्रकार की होती हैं। इसीप्रकार अज्ञानी को

दुर्नयात्मक और दुष्प्रमाणात्मक सप्तभंगी भी कही जा सकती हैं।

प्रश्न 7 – प्रमाण और नय सप्तभंगी में क्या अन्तर है?

उत्तर – निम्नलिखित तालिका द्वारा यह अन्तर स्पष्ट समझा जा सकता है –

प्रमाण सप्तभंगी	नय सप्तभंगी
1. प्रमाण के माध्यम से सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन होता है।	1. नय के माध्यम से एकदेश वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन होता है।
2. सातों भंग जब सकलादेशी होते हैं, तब प्रमाण सप्तभंगी कही जाती है।	2. सातों ही भंग जब विकलादेशी होते हैं, तब नय सप्तभंगी कही जाती है।
3. एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करना प्रमाण है, इसे सकलादेश कहते हैं।	3. एक धर्म को मुख्य करके अन्य धर्मों को गौण करना नय है, इसे विकलादेश भी कहते हैं।
4. 'स्यादस्ति' – यह प्रमाण वाक्य सम्पूर्ण वस्तु का बोध कराता है।	4. स्यादस्त्येव द्रव्यम् – यह नयवाक्य, वस्तु के एक धर्म का बोध कराता है।
5. इसमें 'भी' का प्रयोग किया जा जाता है। जैसे, वस्तु कथंचित् अस्तिरूप भी है।	5. इसमें 'ही' का प्रयोग किया जा जाता है। जैसे, स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप ही है।
6. अपेक्षा स्पष्ट न करें तो स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे, वस्तु स्यात् अस्तिरूप है।	6. अपेक्षा बताकर उस धर्म की मुख्यता से कथन होता है। जैसे – स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है।

(आधार – पंचास्तिकाय, गाथा 14 की टीका)

प्रश्न 8 – प्रमाण–वाक्य और नय–वाक्य की पहिचान कैसे हो सकती है?

उत्तर – प्रायः प्रमाण–वाक्य में स्यात् पद का प्रयोग और नय–वाक्य में एवकार का प्रयोग होता है, परन्तु इस सम्बन्ध में पण्डित देवकीनन्दनजी सिद्धान्त शास्त्री के विचार अत्यन्त उपयोगी हैं। उनके द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है –

"वाक्य दो प्रकार के होते हैं – प्रमाण–वाक्य और नय–वाक्य। यों साधारणतया प्रमाणवाक्य और नयवाक्य का विश्लेषण करना कठिन है, क्योंकि यह सब वक्ता की विवक्षा पर निर्भर करता है। बहुत–से विद्वान् धर्मी–वचन को प्रमाण–वाक्य और धर्म–वचन को नय–वाक्य कहते हैं; पर धर्मी, धर्म के बिना और धर्म, धर्मी के बिना नहीं पाया जाता; इसलिए ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। इसप्रकार जब वाक्य के दो प्रकार होते हैं तो सप्तभंगी भी दो तरह की हो जाती है।"

प्रश्न 9 – सप्तभंगी में प्रयुक्त सातों भंग वस्तु के किस–किस धर्म के वाचक हैं?

उत्तर – इन सात भंगों में से प्रथम भंग में प्रधानरूप से सत्त्वधर्म (अस्तित्व) की प्रतीति होती है। दूसरे भंग में प्रधानरूप से नास्तित्वधर्म की प्रतीति होती है। तीसरे भंग में क्रम से प्रमुखता को प्राप्त हुए उक्त दोनों धर्म की प्रतीति होती है। चौथे भंग में एक साथ उक्त दोनों धर्म की प्रधानता होने से अवक्तव्यरूप धर्म की प्रतीति होती है। पाँचवें भंग में सत्त्वधर्म विशिष्ट अवक्तव्यधर्म की प्रतीति होती है। छठे भंग में नास्तित्व विशिष्ट अवक्तव्यधर्म की प्रतीति होती है और सातवें भंग में क्रम से प्रमुखता को प्राप्त हुए अस्तित्व और नास्तित्व विशिष्ट अवक्तव्यधर्म की प्रतीति होती है।

प्रश्न 10 – मात्र पहले और दूसरे भंग को वस्तु का धर्म मानना चाहिए, शेष भंगों को नहीं; क्योंकि वे तो मात्र क्रमशः या युगपत् कथन की अपेक्षा कहे गये हैं?

उत्तर – जिसप्रकार 'पट' शब्द 'प' और 'ट' – इन दोनों वर्णों से भिन्न अर्थ का वाचक है, उसीप्रकार तृतीय-चतुर्थादि भंग भिन्न-भिन्न अर्थों के वाचक हैं।

प्रश्न 11 – तीसरे और चौथे भंग में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि क्रम और अक्रम का भेद शब्दों के आधार से होता है, वस्तु के आधार से नहीं?

उत्तर – तीसरे भंग में अस्तित्व-नास्तित्व उभयरूप धर्म की प्रधानता है, जबकि चौथे भंग में उन दोनों धर्मों को एक साथ नहीं कह सकते – यह कहा गया है। यही इन दोनों में अन्तर है। जिसप्रकार पेय (शरबत) में दही, गुड़, इलायची, काली-मिर्च, नागकेसर आदि के स्वाद की अपेक्षा विलक्षण स्वाद होता है, लेकिन उसे कहा नहीं जा सकता; उसीप्रकार तदुभयधर्म (तृतीय) से अवक्तव्यधर्म (चतुर्थ) विलक्षण है।

प्रश्न 12 – जिसप्रकार अवक्तव्यधर्म को पृथक् स्वीकार किया गया है, उसीप्रकार क्या वक्तव्यधर्म को भी पृथक्रूप से माना जा सकता है?

उत्तर – अस्ति, नास्ति तथा उभयधर्मों के माध्यम से वस्तु वक्तव्य ही है, अतः सामान्यरूप से वक्तव्यधर्म पृथक् नहीं माना गया। यदि कदाचित् वक्तव्य नाम का धर्म स्वतन्त्ररूप से माना भी जाए तो विधि और निषेधरूप से वक्तव्य और अवक्तव्यधर्म की स्वतन्त्र सप्तभंगी प्राप्त होगी।

प्रश्न 13 – सप्तभंगी का प्रयोग परस्पर विरुद्ध धर्मों में ही होता

है या अन्यत्र भी हो सकता है?

उत्तर – इस सन्दर्भ में तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 6 के वार्तिक में आचार्य अकलंकदेव लिखते हैं –

इसप्रकार यह सप्तभंगी जीवादि सभी पदार्थों में और सम्यग्दर्शनादि सभी पर्यायों में द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक की विवक्षा से लगाना चाहिए।

यदि कोई कहे कि अनेकान्त पर उक्त सप्तभंगी घटित नहीं होने से अव्याप्ति दोष होगा तो उसका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकान्त पर भी उक्त सप्तभंगी घटित होती है।

इस पर यदि कोई कहे कि सप्तभंगी–सम्बन्धी विधि–निषेध की कल्पना, 'अनेकान्त' पर घटित नहीं हो सकती; क्योंकि यदि अनेकान्त की नास्ति (निषेध) स्वीकार करेंगे तो एकान्त का दोष आएगा और अनवस्था दोष भी आएगा। इसलिए अनेकान्त में सप्तभंगी व्याप्त नहीं होती है।

उससे कहते हैं कि अनेकान्त पर सप्तभंगी इसप्रकार घटित होती है – "कथंचित् एकान्त है, कथंचित् अनेकान्त है, कथंचित् एकान्त व अनेकान्त दोनों हैं, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् एकान्त और अवक्तव्य है, कथंचित् अनेकान्त और अवक्तव्य है तथा कथंचित् एकान्त, अनेकान्त और अवक्तव्य है।"

प्रश्न 14 – दुर्नय सप्तभंगी और दुष्प्रमाण सप्तभंगी किसे कहते हैं?

उत्तर – वास्तव में दुर्नय सप्तभंगी, सप्तभंगी ही नहीं है। वह तो सप्तभंगी का आभासमात्र है। जब सर्वथा एकान्तरूप अभिप्राय से 'स्याद्' के बिना यदि सप्त भंगों का प्रयोग किया जाए तो दुर्नय सप्तभंगी कहा जा सकता है।

पंचास्तिकाय, गाथा 14 की टीका में आचार्य जयसेन लिखते हैं – 'द्रव्य है' – यह दुष्प्रमाण वाक्य है और 'द्रव्य है ही' – यह दुर्नय वाक्य है।

अतः यह स्पष्ट समझना चाहिए कि नय-सप्तभंगी, सम्यक् नयरूप है और दुर्नय-सप्तभंगी, नयाभास है तथा प्रमाण-सप्तभंगी सम्यक् प्रमाणरूप है और दुष्प्रमाण-सप्तभंगी, प्रमाणाभास है, क्योंकि वस्तुस्वरूप का निर्णय प्रमाण और नय से होता है, प्रमाणाभास और नयाभास से नहीं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुस्वरूप समझने-समझाने में ये सप्तभंग अत्यन्त उपयोगी हैं। इनके माध्यम से वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप जानकर, आत्महित किया जा सकता है।

अभ्यास-प्रश्न

1. सप्तभंगी विषय पर सांगोपांग निबन्ध लिखिए।

अन्तिम निवेदन

द्रव्यस्वभाव प्रकाश कर, परम भाव परकाश।
निज परिणति में नित रहे, नय-रहस्य का वास।।
पंच-प्रभु की कृपा से, ग्रन्थ हुआ यह पूर्ण।
भूल-चूक यदि रह गई, विज्ञ करें सम्पूर्ण।।
प्राप्त हुआ जिनके निमित्त, मुक्ति-मार्ग महान।
विनय-सहित वन्दन सदा, गुरुवर श्री कहान।।

***

पाँच समवाय

(सोरठा)

प्रथम चार समवाय, उपादान की शक्ति हैं।
अरु पंचम समवाय, है निमित्त परवस्तु ही।।

(वीरछन्द)

गुण अनन्तमय द्रव्य सदा है, जो हैं उसके सहज स्वभाव।
जैसे गुण होते हैं, वैसे कार्यों का हो प्रादुर्भाव।।
जैसे तिल में तेल निकलता, जड़मय परिणति हो जड़ से।
चेतन की परिणति चेतनमय, जड़मय परिणति हो जड़ से।।

सब द्रव्यों में वीर्य शक्ति से, होता है प्रतिपल पुरुषार्थ।
अपनी परिणति में द्रवता है, उसमें तन्मय होकर अर्थ।।
निज स्वभाव सन्मुख होना ही, साध्य-सिद्धि का सत् पुरुषार्थ।
पर-आश्रित परिणति में होता, बन्ध भाव दुःखमय जो व्यर्थ।।

अपने-अपने निश्चित क्षण में, प्रतिपल होती हैं पर्याय।
हैं त्रिकाल रहती स्वकाल में, कहते परम पूज्य जिनराय।।
है पदार्थ यद्यपि परिणमता, इसीलिए कर्ता होता।
किन्तु कभी भी पर्यायों का, क्रम विच्छेद नहीं होता।।

उभय हेतु से होने वाला, कार्य कहा जिसका लक्षण।
वह भवितव्य अलंघ्य शक्तिमय, ज्ञानी अनुभवते प्रतिक्षण।।
जैसा जाना सर्वज्ञों ने, वैसा होता है भवितव्य।
अनहोनी होती न कभी भी, जो समझे वह निश्चित भव्य।।

प्रति पदार्थ में है पुरुषार्थ, स्वभाव काललब्धि अरु कार्य।
कार्योत्पत्ति समय में जो, अनुकूल वही निमित्त स्वीकार।।
उपादान की परिणति जैसी, वैसा होता है उपचार।
सहज निमित्तरु नैमित्तिक, सम्बन्ध कहा जाता बहुबार।।

***

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कृत

देवागम-स्तोत्र

(हिन्दी पद्यानुवाद)

दोहा

करें आप्त-मीमांसा, समन्तभद्राचार्य।
प्रस्तुत है अनुवाद यह, भविजन को हितकार।।

वीरछन्द

देवागमन तथा नभ में गति, छत्र चँवर अनुपम छविमान।
मायावी जन में भी दिखते, मात्र इसलिए नहीं महान।।1।।

बाह्यान्तर अतिशय तन के भी, देवों में देखे जाते।
इसीलिए प्रभु इस वैभव से, नहीं पूज्यता को पाते।।2।।

आगम के आधार तथा, जो धर्मतीर्थ के संचालक।
उनमें है विरोध, आप्त सब नहीं, एक हो प्रतिपालक।।3।।

दोष और आवरण हानि, अतिशायन हेतु दिखलाता।
अन्तर्बाह्य मल-क्षय भी है, ध्यान-अग्नि से हो जाता।।4।।

सूक्ष्म और दूरस्थ अन्तरित, विशद ज्ञानवर्ती होते।
हैं अनुमेय यथा अग्न्यादि, अतः सर्वज्ञ सिद्ध होते।।5।।

युक्ति-शास्त्र अविरोधी वचनों से, हे जिन! तुम ही निर्दोष।
तुम्हें इष्ट जो वह अविरोधी, प्रत्यक्षादि न देते दोष।।6।।

प्रभु के मत-अमृत से बाहर, जो एकान्त सर्वथा वाद।
अरे! दग्ध आप्ताभिमान से, इष्ट तत्त्व जो उसमें बाध।।7।।

एकान्तों के आग्रह से जो, ग्रस्त स्व-पर के बैरी हैं।
कर्म शुभाशुभ पुनर्जन्म की, अव्यवस्था अति गहरी है।।8।।

वस्तु यदि एकान्त भावमय, हो अभाव नहिं किंचित् भी।
सब सर्वात्मक, अस्वरूपी, बिन आदि अन्त, स्वीकार नहीं।।9।।

यदि नहिं मानें प्रागभाव तो, कार्यारम्भ नहीं होगा।
यदि प्रध्वंस-अभाव न मानें, अन्त कार्य का नहिं होगा।।10।।

यदि अन्योन्याभाव न हो तो, एकरूप हों सब पुद्गल।
यदि अत्यन्ताभाव न मानें, सर्व द्रव्य सबमय तिहुँकाल।।11।।

यदि अभाव सर्वथा वस्तु का, भावों का सर्वथा निषेध।
अप्रामाणिक हों ज्ञान-वचन, निज-पर मण्डन-खण्डन कैसे?।।12।।

द्वय एकान्तों में विरोध है, स्याद्वाद विद्वेषी के।
यदि सर्वथा अवाच्य कहें तो, वस्तु वाच्य इस वाणी से।।13।।

तुम्हें इष्ट है वस्तु कथंचित्, सत्ता और असत्ता रूप।
उभय कथंचित् नय-पद्धति से, नहीं सर्वथा वस्तु-स्वरूप।।14।।

द्रव्य, क्षेत्र, निज काल, भाव से, सत् पदार्थ नहिं माने कौन।
और असत् पर द्रव्य आदि से नहिं मानें अव्यवस्थित भौन।।15।।

यदि क्रम से कहना चाहें तो, वस्तुरूप है भाव-अभाव।
अक्रम से है अवक्तव्य यह, शेष भंग स्वापेक्ष स्वभाव।।16।।

सोरठा

अनेकान्तमय वस्तु, कहते हैं जिनराज सब।
सद्धर्म-वृद्धिरस्तु, इसके सम्यग्ज्ञान से।।

परिणति में प्रगटा शुभभाव, अतः बना यह सहज बनाव।
श्रुतसेवन का अल्प प्रयास, स्वानुभूति फल की है आस।।

लेखक की अन्य रचनाएँ

स्वतन्त्र कृतियाँ (गद्य)

1. क्रिया, परिणाम और अभिप्राय
2. क्रमबद्धपर्याय निर्देशिका

स्वतन्त्र कृतियाँ (पद्य)

1. प्रतिमा प्रक्षाल पाठ
2. पंच बालयति पूजन
3. चौबीस तीर्थंकर स्तवन
4. बीस तीर्थंकर स्तवन
5. भक्ति सरोवर में संकलित लगभग पचास आध्यात्मिक गीत

संस्कृत/प्राकृत ग्रन्थों का पद्यानुवाद

1. आत्मानुशासन
2. लघु तत्त्वस्फोट
3. पंचास्तिकाय
4. कार्तिकेयानुप्रेक्षा
5. भगवती आराधना
6. पद्मनन्दी पंचविंशतिका
7. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
8. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
9. उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला
10. दशभक्ति संग्रह
11. प्रवचनसार कलश
12. समयसार कलश
13. नियमसार कलश
14. पंचास्तिकाय कलश
15. प्रवचनसार

गुजराती प्रवचनों/काव्यों का हिन्दी अनुवाद

1. अद्वितीय चक्षु
2. अध्यात्म रत्नत्रय
3. दृष्टि का निधान
4. समवशरण-स्तुति
5. गुरुदेव-स्तुति
6. श्रीमद् राजचन्द्र कृत क्षमापना

सम्पादित कृतियाँ

1. इन्द्रध्वज विधान
2. कल्पद्रुम विधान
3. पंच परमेष्ठी विधान
4. बीस तीर्थंकर विधान
5. 170 तीर्थंकर विधान
6. पंचमेरु-नन्दीश्वर विधान

नहि वाच्यमवाच्यमेव वा तव माहात्म्यमिदं द्वयात्मकम्।
उभयैकतरत् प्रभाषिनां रसना नः शतखण्डतामियात्।।

वस्तु न वाच्य, अवाच्य नहीं, पर उभयरूप, यह तव महिमा।
मात्र एक ही धर्म कहूँ, तो सौं-सौं टुकड़े हो रसना।।

लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय 15, छन्द 9

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।।

आचार्यदेव, अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिए अभूतार्थ व्यवहारनय का उपदेश देते हैं, परन्तु जो केवल व्यवहारनय का ही श्रद्धान करता हैं, उसके लिए उपदेश नहीं हैं।

– पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, श्लोक 6